विषय-सूची

ॐ धन्वन्तरये नमः

प्रस्तावना

प्रकार और विकार सहगामी हैं, विकास और उपचार दोनोंके अनुगामी। प्रकारका कार्य्य विकास है और विकारका संशोधक उपचार। उपचार और सर्गारंभ समकालीन हैं। सत्य और ज्ञान अनादि हैं। दोनों एक ही हैं। श्रुतिके अनुसार ज्ञान ब्रह्म ही है। आयुर्वेद जीवनका तत्त्वज्ञान है, अतः आद्यन्तरहित है। उसके व्यवहारका नाम उपचार है और उद्देश्य सृष्टिकी परम्परा और क्रमविकास। आधुनिक जीवविज्ञान आयुर्वेदके अन्तर्भूत है। मनुष्यजातिके स्वार्थका अंशमात्र उसका अष्टांगोपचार है, यह उसका समग्र नहीं है। आयुर्वेद अधिक व्यापक और विस्तृत है।

आयुर्वेद अनादि है

ज्ञान जैसे आद्यन्तरहित नित्य सत्य है, वैसे ही अव्यक्त भी है। उसे व्यक्त करनेको मूर्त्त साधन चाहिये। ब्रह्माने पहले प्रजापतिको आयुर्वेदकी शिक्षा दी, और प्रजापतिने अश्विनीकुमारोंको। व्यवहारतः आयुर्विज्ञानके पहले मूर्त्त निधान सूर्य्यपुत्र अश्विनीकुमार ही हुए जिन्होंने बकरेका सिर लगाकर दक्ष प्रजापतिको जिलाया, च्यवनको जवान किया, इन्द्रको सिखाया।

परन्तु देवताओंमें इनका भी समुचित समादर न हुआ। स्वर्गमें विकास मर्य्यादित रहा। जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, विकार कम थे। आयुर्वेदको विकासोन्मुख सर्गमें व्यक्त करनेके लिये सर्गसमुद्रके मंथन-तपोद्भूत अमृत-घट लिये भगवदंशावतार

उसके व्यवहारका आरंभ

भगवान् धन्वन्तरि प्रकट हुए। इन्होंसे आयुर्वेदका परिशीलन आरंभ हुआ। इन्होंने एक प्रमाणसे इन्द्रसे और दूसरे प्रमाणसे भगवान् शंकरसे शिक्षा पायी थी। मलोंके विरेचन और विषोंके चोषणके लिये क्रमशः ओषधि और शल्यक्रिया विधायक हरीतकी और जोंक लाये और प्रकृत जीवनके अमृतघटसे व्याधि और जराके उच्छेदमें यत्नशील हुए। यह कहना असंभव है कि यह अंशावतार हुए कितना काल हुआ होगा।*

हरिवंश पर्व्वके अनुसार चन्द्रमाके पुत्र पुरूरवाके आयु, आयुके क्षत्रवृद्ध, क्षत्रवृद्धके कास, कासके पुत्र दीर्घतपस् काशिराज हुए। उन्होंने पुत्रार्थ बहुत कालतक तपस्या की। भगवान् अब्जदेवने अपना धन्वन्तरि नामक शिष्य जो आयुर्वेदमें पारंगत था राजा दीर्घतपस्को दिया। दीर्घतपस्ने धन्वन्तरिको अपना उत्तराधिकारी बनाया। यह धन्वन्तरि चित्रवंशी राजा धर्मध्वजके पुत्र थे और भगवान् धन्वन्तरिके समान आयुर्वेदके आचार्य्य होनेके कारण इसी उपाधिसे विभूषित हुए। इन्हींके

* चन्द्रमा और धन्वन्तरि दोनों समुद्रसे हुए। जिस धन्वन्तरिको दीर्घतपस्ने जो चन्द्रमासे छठीं पीढ़ीमें हुआ अपने बुढ़ापेमें उत्तराधिकारी बनाया वह मंथनोद्भूत धन्वन्तरि नहीं हो सकते। ले०

पुत्र सुषेण पुलस्तिके आशीर्वादसे लंकेश्वर रावणके यहां भिषगाचार्य्य हुए जिनको भगवान् लक्ष्मणजीकी चिकित्साका सौभाग्य प्राप्त हुआ। हरिवंश और पद्मपुराणकी कथाओंके मेलसे उपर्युक्त तथ्य अवगत होते हैं। श्रीमद्भागवतादि पुराणोंमें धन्वन्तरिको दीर्घतपस्का पुत्र बताया है।

काशीके राजाओंकी वंशपरम्परामें चिकित्सा एक वंशानुगत विद्या हो गयी थी। काशीके राजा केतुमानके पुत्र भीमरथ और भीमरथके पुत्र महाप्रतापी दिवोदास हुए जो अपने युगके आयुर्वेदके अनुत्तम आचार्य्य थे। इन्होंने इन्द्रसे आयुर्वेदकी शिक्षा पायी थी। बहुत कालके अनन्तर शिव भगवान्ने इनसे काशीका राज्य ले लिया। इन्होंने गोमतीके तटपर अपना दूसरा राज्य स्थापित किया।*

प्राचीन आयुर्वेद साहित्य और पीठ

ब्रह्मर्षियोंकी सभासे प्रेरित ऋषि भरद्वाजने इन्द्रसे आयुर्वेदकी शिक्षा पायी, फिर अन्य ऋषियोंको दी। पुनर्वसु आत्रेयने अपने छः शिष्योंको, अग्निवेश, भेल, जतुकर्ण, पराशर, क्षारपाणि और हारीतको, वही शिक्षा दी। इन छहोंने छः संहिताएं रचीं। इनसे पहले सभवतः ब्रह्मसंहिता, अश्विनीकुमारसंहिता, भारद्वाजसंहिता आदि प्राचीन आयुर्वेद ग्रंथ भी होंगे। विश्वामित्रके पुत्र सुश्रुतने काशिराज दिवोदाससे आयुर्वेदकी शिक्षा ग्रहण की और तदनुसार सुश्रुत संहिताकी रचना की। स्पष्ट है कि यह संहिता

---

* काशी माहात्म्यके आधारपर।

इन्हीं प्राचीन संहिताओंके आधारपर लिखी गयी। कहते हैं कि चरकसंहिता शेषावतार चरक मुनिकी रची है। उसी संहितासे जान पड़ता है कि आत्रेयके छहों शिष्योंकी रची संहिताओंके आधारपर इस संहिताकी रचना हुई होगी।

इन ऋषियों मुनियोंके अतिरिक्त आयुर्वेदीय साहित्यसे यह भी पता चलता है कि अर्कि, च्यवन, बुध, जाबाल, जनक, नकुल सहदेव, जाजलि, पैल, करथ, अगस्त्य आदि आयुर्वेदके पूर्वाचार्य्य हो गये हैं। ऊपर कही एवं इनको रचनाएं आज उपलब्ध नहीं हैं। इतना पता चलता है कि आयुर्वेदका पहला विद्यापीठ काशीनगरी थी, फिर उसका केंद्र पांचालदेशीय काम्पिल्य हुआ। उन छहों आचार्य्योंके अतिरिक्त जितने नाम ऊपर लिखे गये हैं भिन्न भिन्न देश और कालके आचार्य्योंके नाम हैं जिनका और कोई वृत्त अवगत नहीं है। इतना तो अवश्य निश्चय होता है कि जैसे पहलेके अगणित वैयाकरणोंके आधारपर पाणिनिने अपने सूत्र रचे, वैसे ही पहलेके अगणित आचार्य्योंकी रचनाओंके आधारपर सुश्रुत और चरक संहिताएं रची गयीं। चरकको भावमिश्रने शेषावतार लिखा है और मत्स्यावतारके पीछे ही उनके अवतारकी ओर इंगित है। परन्तु इसतरह ठीक कालक्रमका पता नहीं लगता। कहते हैं कि ग्रंथकार चरक काश्मीरके तुरुष्क राजा कनिष्कके यहां राजवैद्य थे और सुश्रुतका समय चरकके पीछेका समझा जाता है। यदि यह ठीक माना जाय तो दोनों संहिताएं विक्रमके पीछे तीन चार सौ बरसके भीतरकी

ठहरती हैं। परन्तु इस कथनके सम्बन्धमें कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता।

इतिहासकार नामोंसे धोखा खाकर समयका ऊटपटांग अनुमान कर लिया करते हैं। यवनलिपिके उल्लेखसे पाणिनिको घसीटकर अलक्षेन्द्रके पीछे लानेके प्रयत्नका हाल कौन नहीं जानता। युरोपीय चित्तवृत्तिवाले विद्वान् भारतीय इतिहासका समय घटानेमें तत्पर रहते हैं। रसायनविद्याके अनेक विद्वान् नागार्जुनसे पहले हो चुके थे, इस अनुमानके लिये पुष्ट प्रमाण मिलते हैं। बौद्धमतके प्रचारके साथ ही उपचार-विज्ञानमें रसोंकी खोज और प्रयोगके चल निकलनेके भी लक्षण दीखते हैं। परन्तु इन प्राचीन संहिताओंकी भीतरी साक्षीसे सिद्ध होता है कि यह ग्रंथ रसोंद्वारा चिकित्साके पहलेके ही हैं। इनके बुद्धकालके पहलेके संग्रह होनेमें हमें तो कोई संदेह नहीं दीखता। इन संहिताओंकी व्यापकता और इनका वैज्ञानिक क्रम भी स्पष्ट बताता है कि यह आयुर्वेदके पहले ग्रंथ नहीं हैं। श्लोक "शत सहस्र मध्याय सहस्रञ्च कृतवान् स्वयंभूः" कमसे कम इस बातका तो अवश्य गवाह है कि बहुत बड़े आयुर्वेदीय साहित्यसे यह संहिता निकाली गयी है। मनुस्मृति की भी ऐसी ही कथा है। ऐतिहासिक खोज यहां अभिप्रेत नहीं है। यह विमर्श इतना दिखानेके लिये पर्य्याप्त है कि भारतवर्षकी वैद्यविद्या संसारमें सबसे प्राचीन है। उसकी परम्परा संसारके

चरक सुश्रुत संहिताएं बुद्धसे बहुत पहले संगृहीत हुई।

सबसे प्राचीन ग्रंथ वेदोंसे प्रतिपादित है। विद्वानोंका अनुमान है कि अंकगणितकी तरह वैज्ञानिक उपचार शास्त्रकी शिक्षा भी समस्त सभ्य संसारको भारतने ही दी है। पीछेसे सततवर्द्धमान वैज्ञानिक-प्रयोग-निष्कर्षोंसे चाहे जो कुछ पाश्चात्य उपचारशास्त्रोंने उन्नति कर ली हो, पर उसी पुरानी नेवपर इस भारी वैज्ञानिक उपचार शास्त्रके महलोंकी भीत उठायी गयी है। जहां कहीं नयी नेव पड़ी है वहांकी भीत नित्य नयी सिद्ध होनेवाली प्रतिज्ञाओंके झंझावातसे हिल जाया करती है।

भारतके बाहर संभवतः मिश्र और चीन देशमें उपचार-विधि प्राचीन कालसे चली आयी होगी। चीनके साहित्यमें उपचारविद्यापर कोई प्राचीन ग्रन्थ है या नहीं, इसका हमें पता नहीं। परन्तु कहते हैं कि मिश्रदेशमें विक्रमसे लगभग तीन सहस्र वर्ष पहलेका, अर्थात् युधिष्ठिरके राजत्वकालका एक प्रकारके भोजपत्रपर लिखा एक ग्रन्थ सुरक्षित है जिसमें रोगोंके लक्षण और ओषधियां दी हुई हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह पोथी सबसे प्राचीन लिखी हुई है। इससे यहांके आयुर्वेदसे कोई सम्बन्ध है या नहीं, नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस ग्रन्थका उल्था कहीं छपा नहीं है। मूलका तो कोई प्रश्न नहीं है। इतनी बात निश्चित है कि सभी जगह मनुष्यता और उपचारका अटूट संबन्ध है।

मिश्रमें आयुर्वेद

इसराएलियों और ईरानियोंमें भी उपचार-शास्त्र धर्म्मका अंग था। यवनानियोंमें अश्वकुलापी* देवता यद्यपि अपने अश्विनी-कुमारोंकी स्थिति रखते थे तथापि उपचार-शास्त्रके अधिष्ठाताकी भांति कोई विद्वान् इस देवताका समादर नहीं करता था। प्राचीन कालमें भारत और यूनानमें परस्पर इतना सम्बन्ध था कि हमारे आयुर्विज्ञानका वहां प्रचार होना कोई आश्चर्य्यकी बात नहीं समझी जा सकती। यवनानियोंके इतिहाससे पता चलता है कि शाक्यमुनि गौतमबुद्धके समकालीन उस देशमें उपक्रतु‡ नामका एक प्रसिद्ध मनीषी और भिषगाचार्य्य हुआ जिसकी चलायी उपचारकी यवनानी पद्धति प्रसिद्ध है। आर्द्र, शुष्क, शीत, उष्ण इन चारों तत्त्वोंसे वह रोग और उपचारका समीकरण करता था, औषधोपचारसे अधिक पथ्याहारको महत्व देता था, और रोगके निदानकी विधिमें कुशल था। उसकी पद्धतिमें त्रिदोषकी विधि हमारे आयुर्वेद-का पता देती है, और काष्ठौषधियोंका ही प्रयोग यह निश्चित करता है कि विक्रमके पहले ही हमारे यहांकी उपचार-पद्धति यवनानमें जाकर फैली होगी।

यूनानमें आयुर्वेद

महाविजयी अलक्षेन्द्रके समयसे यवनानसे वहांका आयु-र्विज्ञान-विद्यापीठ हटा और मिश्रके सिकन्दरिया नगरमें इसका

---

*Æsculapius. ‡बुक्रात Hippocrates.

केन्द्र हुआ। हीरफुल्ल[1] और ऐराशिष्ट[2] दो प्रसिद्ध वैद्य हुए। हीरफुल्लने शरीर-व्यवच्छेद और शरीर-विज्ञानका अच्छा परिशीलन किया और ऐराशिष्टने विशेष रोगोंके उपचारमें नाम पाया। ऐराशिष्ट उपक्रतुका विरोधी था और हीरफुल्ल अनुयायी। जो हो, मिश्रकी पद्धति भी अलग ही चल पड़ी और "मिश्रानी" नामसे प्रसिद्ध हुई। मिश्रानी पद्धति वस्तुतः यवनानी और भारतीय पद्धतिके मेलसे बनी थी, परन्तु जब भारतमें मुसलिम साम्राज्य हुआ तब मुसलमान हकीम अपनी पद्धतिको "यवनानी" और भारतीय पद्धतिको "मिश्रानी" उसी तरह कहने लगे जिस तरह भारतीय अङ्कोंको युरोपमें फैलाकर अरबवालोंने उन्हें अरबी अङ्क बना डाला।

यवनानी और मिश्रानी पद्धतियां

यवनान देशपर जब रोमकोंका अधिकार हो गया, यवनानी पद्धतिका रोमकमें प्रवेश हुआ। रोमककी अपनी कोई पद्धति न थी। यवनानके उपजाऊ मस्तिष्कने भारतीय पद्धतिमें जो वृद्धि की थी रोमकोंने उसका पूरा लाभ उठाया। विक्रमसे डेढ़ सौ बरस पहले रोमकमें प्रमुख यवनानी चिकित्सक असक्लीब्याद[3] हुआ। इसकी विशेषता थी, पथ्य, व्यायाम, मर्दन और जल चिकित्सा। इसके शिष्य

रोमकमें आयुर्वेदका प्रचार

---

१ Herophilus. २ Erasistratus ३ Asclepiades.

थैमिसूनु[१] और उसी परम्परामें स्वराणु[२] उस देशके नामी वैद्य हो गये। विक्रमादित्यके राजत्वकालके लगभग रोमकके एक विद्वानने, जो स्वयं उपचारोपजीवी नहीं था "डी मेडीसीना"[३] अर्थात् "उपचार" नामक ग्रन्थ रचा था जिसमें उसने उस समयकी प्रचलित पद्धतियोंपर विस्तृत विचार किया था। यह ग्रन्थ कोई पांच सौ बरस हुए युरोपवालोंके ध्यानमें आया, ग्रन्थकारके समयमें तथा उसके पीछे डेढ़ हजार वर्षतक किसीने उस ग्रन्थकी ओर ध्यान न दिया।

विक्रमसे दो सौ बरस पीछे जब भारतमें वैद्योंकी प्रवृत्ति रसोंके प्रयोगकी ओर हो चली थी रोमकमें गालीनु[४] नामका एक प्रसिद्ध भिषगाचार्य्य हुआ। शरीर-विज्ञानमें यह सुश्रुत और उपक्रतुका अनुयायी था। इसने चिकित्साके लिये शारीर विद्याका ज्ञान अनिवार्य्य ठहराया। जान पड़ता है कि धमनीकी गतिसे रोग-निदानकी विधिका इसीने प्रचार किया। पीछेसे अरबी हकीम, जो उच्चारण भेदसे इसे जालीनूस कहते थे, इसके बड़े भक्त हो गये। इसका नाम यवनानी इलाजमें आज भी प्रसिद्ध है।

इधर वाग्भट्ट और नागार्जुन आदि आचार्य्योंके पीछे विक्रमके ग्यारह सौ बरसतक, यद्यपि अनेक वैद्य-विद्या-विशारद

---

१ Themison. २ Soranus. ३ Aulus Cornelius Celsus औलु-कर्णेलु शेलसु रचित De Medicina.

४ गालीनु=Galen=जालीनूस (अरबी)

विक्रम संवत ११००के अनन्तर

और चिकित्सक हुए तथापि कोई ऐसा प्रतिभाशाली वैद्य नहीं हुआ जिसके उल्लेखकी इस छोटी प्रस्तावनामें आवश्यकता हो। गालीनुके पीछे युरोपमें भी यही दशा थी। विक्रमके एक सहस्र वर्ष पीछे शालार्णव* का नाम सुना जाता है जिसने कई संग्रह ग्रन्थ रचे, परन्तु अरबी हकीमोंकी प्रतिभाके सामने वह भी लुप्त हो गया। भारतमें चक्रपाणिदत्तके संग्रह ग्रन्थ उसी समयके बड़े महत्वके हैं और अब तक प्रसिद्ध हैं।

अलक्षेन्द्रके गुरु अरस्तू वैद्य-विद्या-विशारद थे। इनका अनुयायी विक्रमके लगभग एक सहस्र वर्ष पीछे [वि० १०३७—१०९४] अरबका विद्वान् अबूसेना हुआ जिसने बुखारेमें दर्शनोंकी शिक्षा पायी और मंत्री हो गया था। इसने आयुर्वेदपर भारी ग्रन्थ लिखा परन्तु इसका भी आधार चरक और सुश्रुत संहिताओंका वह उल्था था जो लगभग दो सौ वरस पहले बगदादमें अरबी भाषामें हो चुका था। हमारे रस ग्रंथोंके उल्थे शायद अरबोंको उस समयतक उपलब्ध नहीं हुए थे। शायद यही बात है कि यूनानी हकीम रसोंका प्रयोग वैद्योंकी अपेक्षा बहुत कम करते हैं।

मुसलमानोंने जब दक्षिणीय युरोपपर अपना अधिकार जमा

---

* Salerno.

'भ किया और आज-

हकीमी और पारासैल्सस

लिया, उस समय ज्ञानका दीप..हांतक पहुँची है
था। इन्होंने हकीमीका भी यथेष्ट नके लिये भी
परन्तु विक्रमकी सोलहवीं शताब्दीमें हैं। उधर
नामका एक प्रतिभाशाली वैद्य जर्म्मनीमें हुआ। जिन् उसके
मूंदकर गालीनु और अबूसेनाके अनुयायित्वका घोर कारके
किया। उसने स्वयं रसायन विद्याका अनुशीलन कि..
प्रकृतिनिरीक्षणपूर्वक नैसर्गिक चिकित्साका प्रचार किया, साथ
ही रासायनिक धातव यौगिक ओषधियोंके प्रयोगकी युरोपमें
इसीने पहले पहल नेव डाली।

जहां भारतवर्षमें राष्ट्रिय दासत्व और हकीमी और डाक-
टरीकी वृद्धि, उन्नति और प्रचारने वैद्यकको राज्याश्रयसे वंचित

डाकटरीकी चमत्कारिक उन्नति

रखा, वहां युरोपमें गत तीन चार सौ वर्षोंमें
भौतिक, रसायन और जीव-विज्ञानकी खोजों
और आविष्कारोंने संसारका कायापलट कर
दिया और हर जगह डाकटरीको राज्याश्रय दिलाया। जीवाणु-
विज्ञानने नये सिद्धान्त जन्माये। अणुवीक्षण यंत्रने हमारी दृष्टि
बड़ी पैनी और सूक्ष्म बना दी। शल्य-चिकित्सा और शरीर
व्यवच्छेद-शास्त्र अपनी उन्नतिके शिखरपर पहुँचे। आयुर्वेदकी
नेवपर जो डाकटरी खड़ी की गयी थी, आज इतनी बदल गयी
है कि पहचानी नहीं जाती। पाश्चात्य सभ्यताने और वैज्ञानिक
आविष्कारोंने जैसे जैसे जीवनके ढंग बदले वैसे ही वैसे डाक-
टरीके रूप भी बदलते गये। यहांतक कि आज जिस तरह

भारतकी नैसर्गिक सरलता अलभ्य है उसी

विक्रम संवत उपचारोंमें स्वाभाविकताका कहीं पता ठिकाना

११००के उन्नति भी अपनी मर्य्यादाको पहुँची जान पड़ती

अनन्तरम जाननेको (थर्मामीटर) तापमापक-यंत्र है, हृद्-

श्वासादिके ज्ञानके लिये श्रवणयंत्र (स्टीथस्कोप) है,

चापकी कमी बेशी जाननेको रक्तचाप-लेखक (स्फिग्मो-

ग्राफ) है, पेटके भीतर क्या भरा है इसके भी जाननेके साधन

हैं, गोली अंगकी किस गुहामें घुसी हुई है इसके प्रत्यक्षीकरणके

उपाय हैं। आंखमें क्या रोग है, चक्षुदर्शक यंत्र वा ओफ्थल-

मस्कोपसे देख लीजिये, स्वरयंत्रमें क्या बिगाड़ है स्वरयंत्रदर्शक

वा लैरिंजस्कोपसे देखिये। कानमें, मुँहमें, हलकमें, योनिमें

सभी अंगोंके भीतर झांकनेके दर्पण हैं। कौनसी बात छिपी

रह सकती है ? रक्त, मल, मूत्र, कफ, मज्जा, मांस, मेद, रस,

लसीका, आप जिस वस्तुका चाहें विश्लेषण कर लीजिये, अणु-

वीक्षणमें देख लीजिये। शल्य-चिकित्सक बूढ़ेसे जवान, अंधेसे

सुझाके, बहरेसे श्रोता और पंगुसे हाथपैरवाले बनाकर

बीसवीं शताब्दीके अपूर्व चमत्कार दिखा रहे हैं। सीधे रक्तमें

ही औषधि पहुँचायी जा रही है। यह कदाचित् अत्युक्ति न हो

अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो हरिः

अभाललोचनः शम्भुः कलौ विज्ञानपारगः।

इधर हमारे भारतीय वैद्य अलौकिक ज्ञानके आलोकमें जहां-

तक पहुँचे थे, वहां भी उनके पाँव टिक न सके। उन्होंने भारतके

स्वभावनियतं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्

दासत्वके साथ हटना आरंभ किया और आज-तक हटते गये। अब नौबत यहांतक पहुँची है कि कहीं कहीं आयुर्वेदके ज्ञानके लिये भी पाश्चात्यप्रदीप जलाये जा रहे हैं। उधर युरोपमें वैज्ञानिक उन्नतिके प्रचंड मार्त्तंडकी चकाचौंधमें उसके गर्भस्थ भयानक और अपरिमित उपद्रवकारी काले अंधकारके विस्तृत विन्दु दिखाई नहीं दे रहे हैं। पाश्चात्य सभ्यताके पीछे बँधी डाक्टरी विद्या उसीके साथ साथ स्वभावके विपरीत मार्ग-पर चली जा रही है। इस दोषपर लगभग सौ बरस हुए कई विद्वानोंकी दृष्टि पड़ी और विशेषतः जर्म्मनीमें स्वाभाविक उप-चारोंका उद्धार आरंभ हुआ। स्वाभाविक चिकित्साका डाक-टरीके साथ इससे बहुत पहले ही संग्राम छिड़ गया था। पहले अवहेलनाकी दृष्टिसे देखी गयी। निरादर हुआ। जब यह भगाये न भगी तो दमन आरंभ हुआ। इसके आचार्य्योंको देश-त्याग तक करना पड़ा। फिर भी इसका प्रचार बढ़ता गया। जर्म्मनीसे बाहर अमेरिकातक इसका प्रभाव पहुँचा। प्राकृतो-पचारके अनुयायी बढ़ते गये। इधर पन्द्रह बीस बरसोंके भीतर डाकटरी संसारकी आंखें खुलने लगी हैं। अनेक ओषधियोंके मिश्रणोंके देनेकी प्रथा पुरानी समझी जाने लगी है। प्रत्युत बिना ओषधिकी चिकित्साकी ओर बड़े विद्वान् डाकटरोंकी प्रवृत्ति हो रही है। वायु-चिकित्सा, जल-चिकित्सा, व्यायाम, मर्दन, तड़ित-चिकित्सा आदिका प्रवेश अब डाकटरीमें भी होने लगा है।

शुद्ध ओषजन और विद्युद्यंत्रोंके प्रयोगके सिवा शेष सभी प्राकृतोपचार हमारे देशके आयुर्वेद साहित्यमें मिलते हैं। विस्तारमें अन्तर होना देशकालपात्रके भेदसे स्वाभाविक है, परन्तु सिद्धान्तोंमें कोई भेद नहीं है। औषधोपचारकी भीड़में स्वदेशी प्राकृतोपचार छिप गया है। हमारे वैद्य औषधके बलसे ही अच्छा करनेके उद्योगमें रहते हैं। होमियोपैथकी तरह अपने बटुएमें रसोंका संग्रह रखनेके सुभीतेसे और सद्यः फल दिखानेवाले चमत्कारसे प्रेरित होकर आज काष्ठौषधियोंसे प्रायः उपेक्षा है। उपयुक्त दिनचर्या और ऋतुचर्य्यासे स्वास्थ्य-रक्षाकी विधि शायद ही कोई वैद्य अपने रोगीको समझाता होगा। स्नान, मर्दन, लेप, शौचाचार, व्यायाम, वायुसेवन, प्राणायाम आदिसे कम काम लेते हैं। शायद ही कभी किसी रोगीको यह विधियां बतायी जाती हों। इनके बदले कोई कोई ज्योतिषी वैद्यका काम कर लेते हैं और आयुर्वेदका एक अङ्ग भूतविद्या तो मानों ज्योतिषांके हिस्से पड़ गयी है। अपने यहांकी शल्य-क्रिया और शालाक्य तंत्र तो भूली हुई विद्या है। ओषधियोंकी पहचान किसी अत्यन्त चतुर और सहस्रमें एक किसी वैद्यको होती है। टटकी ओषधियां मिलनी कठिन हैं, और सबसे बड़ा रोग है राज्याश्रयका अभाव जिससे लोकाश्रय भी कम हो गया है और जो अँगुलियोंपर गिने जानेवाले थोड़ेसे विद्वान् सद्वैद्य हैं वह अपना निर्वाह कठिनाईसे करते हैं। विज्ञापनोंकेद्वारा अनेक

अताई जो वैद्य बन बैठे तो उनके आगे सब्बोंको यदि विज्ञापन-बाजीका भी साहस हो पड़ा तो यथेष्ट सफलता नहीं होती, प्रत्युत इस मार्गमें उनकी विद्वत्ताका अपमान ही होता है।

भारतीय भावमें भींग जानेकी आवश्यकता

उपचार-विज्ञानका उद्देश्य स्वास्थ्य-रक्षा है। यदि मनुष्य अपनी नित्यचर्य्या अपनी परिस्थितिके अनुसार स्वभावानुकूल रखे और उसका पूर्व संस्कार स्वास्थ्यके नाते दूषित न हो तो उसे सारे जीवन किसी उपचारकी आवश्यकता न पड़े। भीतरी संयम-जनित बल बाहरी आक्रमणोंको रोकता रहता है। नित्यकी क्षय वृद्धि और मलोत्सर्ग स्वभावके नियमोंसे होता रहता है, मलों और विषोंका अतिसंचय नहीं होता। परन्तु ऐसी अनुकूल परिस्थिति कम ही देशकाल पात्रमें पायी जाती है। भारतवर्षमें प्रतिकूलताओंकी बहुतायत हो गयी है। "सर्वं परवशं दुःखम्" पराधीनता योंही रोगोंकी जड़ है, उसपर पाश्चात्य सभ्यता और जीवनचर्य्याका ऐसा अनिष्ट प्रभाव पड़ा हुआ है, कि न तो उसे डाकटरी उपचार लाभ पहुँचाता है न देशी। परराज्यका प्रभाव मायाका आवरण है जिसे उठा देनेके लिये भगीरथ-प्रयत्न अपेक्षित है। केवल एक देशीय सुधारसे कदापि काम नहीं चल सकता, केवल देशी ओषधि देनेसे लाभ न होगा। पथ्य भी स्वदेशी हो, रहन सहन स्वदेशी हो, आचार स्वदेशी हो, विचार स्वदेशी हो। मनका तनपर बड़े महत्वका प्रभाव पड़ता है, अतः ओतप्रोत भावसे मनको भारतीय भावमें

भींग जाना चाहिये—तब कहीं देशी उपचार लाभदायक हो सकता है।

परन्तु प्रायः सबके हृदयोंमें यह बात भी घुसी हुई है कि पाश्चात्य आविष्कार ऊंची कोटिके हैं, विज्ञानकी उन्नति तो अत्यन्त उत्तुंग हो चुकी है, अतः डाकटरी ही सबसे उत्तम इलाज है। इसी भ्रममें पड़कर लोग विषोंकी पिचकारियां ले रहे हैं, विषके टीके लगवा रहे हैं, विष खा और पी रहे हैं, अपने अङ्ग कटवाकर फेंक रहे हैं, अपनी सन्तानोंको निर्जीव कर रहे हैं। ऐसे मायामोहित मनुष्य पढ़े लिखे और सभ्य कहलाते हैं। इनके मोहावरणका निवारण बड़े गंभीर विचार और ऊहापोहयुक्त विमर्शसे ही संभव है। एक ओर ऐसे विमर्शको इन सज्जनोंके लिये सुलभ कर देना जैसे वर्त्तमान कर्त्तव्य है, दूसरी ओर उसी तरह अपने सद्वैद्योंको ऐसे विमर्श और विचारके लिये सुसज्जित करना भी कार्य्य है। उभय पक्षको यह भी जाननेकी आवश्यकता है कि क्या उपचार है और क्या अपचार, क्या प्राकृत है और क्या अप्राकृत, क्या कर्म्म है और क्या अकर्म्म और निःसन्देह

प्रचलित भ्रम

किंकर्म्म किमकर्म्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः

इसीलिये पाश्चात्य और प्राच्य दोनों पद्धतियोंको विज्ञान-की तुलामें कड़ाईके साथ जांचनेकी आवश्यकता है। इस जांचकी ओर प्रवृत्त करनेके लिये बड़े महत्वके कारण हैं। जो

राष्ट्र प्रकृतिके अनुकूल वर्त्तते हैं वही बचते हैं, जो उसके प्रति-कूल टक्कर लेते हैं अपना सर तोड़वाते हैं। भारतवर्ष अपने प्राचीन शीलको लिये स्वाभाविकताके बलसे आज इस भूतल-पर दासरूपमें भी जीवित है जब कि उसके समकालीन अन्य राष्ट्र कभीके मर खप चुके। उन राष्ट्रोंका शील आज एक भूला हुआ स्वप्न है। हमें उनकी दशा देखकर भय होता है कि हम भी शायद विनाशके मार्गपर हों। दासता विनाशका पूर्वरूप है, अस्वाभाविक है, इसके साथ ही हमारी और भी रीतियां विनाशकारी होंगी। इस प्रश्नपर विचार करना हमारा परम कर्त्तव्य है। हम जब निश्चय कर लें कि हमारी रीतिनीति, हमारा रहनसहन, हमारे आचार, उपचार, विचार कैसे होने चाहियें तब हम तदनुसार अपना जीवन भी बनावें। श्रीमद्भगवद्गीता उप-निषत्‌के यह सूत्र ध्यानमें रखनेयोग्य हैं—

"स्वभाव नियतं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्"
"स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः"
"श्रेयान्स्वधर्म्मो विगुणः परधर्म्मात्स्वनुष्ठितात्"

अतएव स्वाभाविक जीवनका विचारद्वारा निश्चय और तदनन्तर अनुकूल आचरण प्रत्येक भारतीयका परम कर्त्तव्य है।

भ्रमोच्छेदन कौन करे?

दो दो मिनिटमें एक एक रोगीका निदान और औषधोपचार करनेवाले अत्यन्त कार्य्यव्यस्त चिकित्सकको इतना अवकाश नहीं होता कि

इन विचारोंके जालमें अपनेको उलझाकर अपने अर्थनाशका कारण हो। साथ ही उसके पास इस प्रकारके विमर्शके लिये साधन ही कहां उपलब्ध हैं? वह तो विशेषज्ञ है। विशेषज्ञ एकदेशीय और अत्यन्त संकीर्ण विचारका न हो तो वह विशेषज्ञ कहानेका अधिकारी नहीं। अर्जुन जब आंखपर ही निशाना रखता है तो उसे इधर उधर कुछ भी न दीखना चाहिये। यही कारण है, कि यदि किसी विद्वान् वैद्यके पास रोगी भी कम आते हैं, अवकाशका नितान्त अभाव नहीं है, तो भी उसका बहुज्ञ होना दुर्घट है। एक और भी रोग है। एक ही व्यवसाय करनेवाले दो विद्वानोंमें भी ईर्षा-द्वेष-मात्सर्य्यकी बहुधा प्रचुरता पायी जाती है। होशियार होमियोपैथ और विवेकी वैद्य और अच्छे हकीम अपने अपनेको बड़ा समझते हैं। प्रेमपूर्वक परस्परके अनुभवसे लाभ उठानेवाला इनमेंसे कोई निकल आवे तो हम साधारणतया स्वभावविरुद्ध समझेंगे। अलोपैथीको तो ऐसा राज्याश्रय मिल गया है कि उसने अन्य उपचारियोंका नियमतः बहिष्कार कर दिया है। वह भूलकर भी वैद्य डाकटरका मेल नहीं होने देती। परस्पर विरोधकी हद हो गयी है।

विशेषज्ञता व्यापक नियमोंके समीकरणमें बाधक होती है। हर्बर्ट स्पेंसर किसी विज्ञानका विशेषज्ञ न था। उसने सभी विज्ञानोंका अनुशीलन किया, सबके सत्य सिद्धान्तोंको मिलाया और एक नये वैज्ञानिक दर्शनको जन्म दिया। सत्य एक ही है, भिन्न दिशाओंसे भिन्न आंखोंसे उसके भिन्न रूप दीखते हैं।

उसको वही एक प्रमाणित कर सकता है जो सब दिशाओंसे सभी आंखोंसे देखे। उपचारकी जितनी पद्धतियां संसारमें प्रचलित हैं, स्वाभाविकताका विरद सभी बांधे हुए हैं, सभी प्रकृतिकी दुहाई देती हैं। परन्तु जहां दो रीतियोंमें वैपरीत्य है वहां तो निश्चय ही एक अस्वाभाविक होगी। प्रत्येककी स्थितिपर फिर भी विचार तो करना ही पड़ेगा।

प्रस्तुत ग्रंथमें इन्हीं दृष्टियोंसे सभी प्रचलित पद्धतियोंके सिद्धान्तोंपर विचार किया गया है। विज्ञानकी हालकी गवेषणाओंसे लाभ उठाया गया है। भिन्न भिन्न पद्धतियोंके विशेषज्ञोंके ही आधारपर उन पद्धतियोंकी जांच की गयी है। प्रयोग प्रसिद्ध डाक्टरोंके हैं और कोई कोई स्वानुभूत भी हैं, परन्तु उनपर विमर्श अपना है। परीक्षाएं औरोंकी हैं, निष्कर्ष भी उनके हैं, पर जांचों और उनके परिणामोंसे समीकरण प्रस्तुत ग्रंथके लेखकका है। अनेक लेखकोंने त्रिदोषके सिद्धान्तको न समझकर उसमें आयुर्वेदकी संकीर्णता मानी है। प्रस्तुत लेखकने वैज्ञानिक विचारसे त्रिदोषवाले सिद्धान्तको ही दृढ़ और तर्कसंगत पाया है, और त्रिदोषकी ही भित्तिपर रोगमीमांसा की है। इन सब बातोंके होते हुए उसके सामने यह कसौटी भी बराबर रही कि विज्ञानसे अनभिज्ञ हिन्दीके विज्ञ पाठक भी इस पुस्तकको पढ़कर समझ लें। इसीलिये उसका निरन्तर यही उद्योग रहा है कि जहां कहीं पारिभाषिक शब्द आये हों, वहां प्रसंगा-

प्रस्तुत ग्रंथकी रीति और मर्य्यादा

नुकूल उसकी स्पष्ट परिभाषा भी दे दी जाय। ऐसे ही पाठकोंके लिये अत्यन्त संक्षेपसे प्रत्यक्ष शारीरसे ही ग्रन्थारंभ किया गया है।

लेखकने यह भी ध्यान रखा है कि जिन वैद्यराजोंको डाक्टरी और वैज्ञानिक ग्रंथोंके पढ़नेका अवसर नहीं मिला है या कम मिला है, उन्हें इस ग्रंथके द्वारा न केवल पाश्चात्य सिद्धान्त सुलभ हो जायँ वरन वह उचित रीतिपर उनपर विचार भी कर सकें उनके यथार्थ गुण-दोष जान सकें, काष्ठौषधियोंका प्रयोग करते हुए स्वाभाविक विधियोंका ही आश्रय लें, और दूषित पाश्चात्य विषोंका प्रयोग न करें।

प्रस्तुत ग्रंथमें अद्यावधि गवेषणोपलब्ध सिद्धान्तोंके प्रतिपादनके साथ ही अबतककी डाकटरी रोगमीमांसाका खंडन किया गया है और जीवाणु विज्ञानके तथ्योंसे अबतक जो निष्कर्ष निकाले गये थे उनकी भूलें दिखाकर उन्हींसे भिन्न निष्कर्ष निकाले गये हैं। फैलनेवाले और स्पर्शजन्य रोगोंके सम्बन्धके भ्रम दिखाये गये हैं और वैज्ञानिक प्रयोगोंके प्रमाण दिये गये हैं। जिन मिथ्योपचारोंसे देशकी अपरिमेय हानि हो रही है उनका दिग्दर्शन किया गया है। सत्योपचारोंके एक एक प्रकरणको लेकर उपचारकी दृष्टिसे उनपर विचार भी किया गया है और उनकी यथार्थ विधियोंका निदर्शन भी है। प्रस्तुत भागमें सोलह प्रकरणोंमेंसे केवल छः दिये जा सके हैं, शेष दस प्रकरणोंमें दूसरा भाग समाप्त होता है। आकारके बहुत

बढ़ जानेके भयसे प्रस्तुत ग्रंथके दो भाग किये गये। तीसरेमें शरीरके प्रत्येक अंगकी प्रत्येक अप्रमितावस्थाके उपचार दिये जायँगे। उसकी योजना इस भागके अन्तमें दी हुई है।

यह ग्रंथ प्राकृतोपचार साहित्यमें अपने ढंगका पहला है

प्राकृतोपचारपर युरोपीय भाषाओंमें एक बृहत् साहित्य तैयार है। परन्तु जिस विधि और क्रमसे प्रस्तुत ग्रंथमें इस विषयका प्रतिपादन है, उस क्रम और विधिसे किसी ग्रंथकारने ग्रंथ प्रणयनकी सफल चेष्टा नहीं कर पायी। युरोपीय भाषाओंमें प्रणीत वैज्ञानिक क्रमसे प्राकृतोपचारका प्रतिपादन करनेवाले ग्रंथ अकेले हैनरी लिंडलारके* देखनेमें आये। अंग्रेजीमें इससे अच्छा प्राकृतोपचारपर दूसरा ग्रंथ नहीं है। खेद है कि अपने प्रतिज्ञात छः ग्रन्थोंमें केवल चार ही ग्रंथोंका प्रणयन लिंडलार महोदय कर पाये। इनमेंसे तीसरा "चाक्षुष निदान" है और चौथा "निरामिष-पाकविद्या"। पहली दोनों जिल्दोंमें इस ग्रंथकारने बड़ी योग्यतासे प्राकृतोपचारका मंडन किया है, परन्तु विषयक्रम ठीक वैज्ञानिक रीतिसे न रख सका। दोनों जिल्दोंमें अनेक विषय दोहराये गये हैं, प्रबन्ध उखड़ासा है, भौतिक और प्रकाश चिकित्साका वर्णन नहीं है। ताप चिकित्सा, मर्दन, औषधोपचार, उपवास आदि विषयोंका स्पर्श मात्र है। वायु-चिकित्सामें प्राणायाम मात्र है। इस प्रकार डाकटर लिंडलारका काम अधूरा रह गया। संभव है, यदि

* पूरे विवरणके लिये देखो परिशिष्टमें ग्रंथसूची।

मृत्यु न हो जाती तो यह त्रुटियां भी पूरी हो जातीं। तो भी इन अमूल्य ग्रंथोंसे लेखकने बहुत लाभ उठाये हैं, और इनका बहुत उपकृत है। चाक्षुष निदानमें डाकटर लिंडलारकी अपनी गवेषणा है। उसके चित्रपटका हिन्दीरूप इस ग्रंथमें लिंडलारके प्रकाशकोंकी आज्ञासे दे रहे हैं। इस आज्ञाके लिये हम कृतज्ञ हैं।

हमारे देशमें बीसों बरससे लूईकूनेके स्नानोंका प्रचार है। परन्तु यह पूरी जलचिकित्सा भी नहीं है। जलचिकित्साका अंगमात्र है। जर्म्मनीमें लूईकूने बहुत पुराने प्राकृतोपचारियोंमें गिना जाता है, परन्तु तबसे अबतक वहां भी प्राकृतोपचारकी पद्धतियां बहुत विस्तृत हो गयी हैं।

प्राकृतोपचारका जीवित आदर्श

हमने प्राकृतोपचारके जितने अनुभव-ग्रंथ पढ़े, उनमें हमें लोकपूज्य महात्मागांधीका आरोग्य-साधन हमारे देश और हमारी परिस्थितिके लिये सबसे अधिक अनुकूल जँचा। हमारे देशमें प्राकृतोपचारके सच्चे अनुयायी और पथप्रदर्शक महात्माजी ही हैं। उनके राष्ट्रिय एवं धार्म्मिक कामोंके प्रचण्ड तेजमें उनकी वैयक्तिक तपस्या, और स्वाभाविक संयमी जीवनकी कोमल किरणें अदृश्य हो रही हैं।

प्रस्तुत पुस्तकका विषय शरीरविज्ञान नहीं है परन्तु पाठकोंको सुभीतेसे शरीरविज्ञानकी जितनी जानकारी चाहिये, प्रसंगानुकूल आरंभमें और स्थल स्थलपर हमने तत्तद्विषयक उतने वर्णन दे दिये हैं। तो भी जिन पाठकोंको शरीर विज्ञा-

नका विस्तृत ज्ञान सम्पादन करनेका हौसला हो वह मेरे मित्र डाकटर त्रिलोकीनाथ वर्म्माकी पुस्तक "हमारे शरीरकी रचना" का अनुशीलन करें। डाकटर साहबकी पोथीसे हमने कई चित्र और वातसंस्थानके प्रकरणसे एक विस्तृत अवतरण लिया है। चित्रोंके लिये हमने जब अनुमति माँगी, उन्होंने स्वयं और कई चित्र भेज दिये। हम उनके बहुत कृतज्ञ हैं।

स्वास्थ्यसाधनके पहले दो भागोंमें प्राकृतोपचारका प्रतिपादन और उसकी सीमा और विस्तारमात्रका दिग्दर्शन है, तो भी चतुर पाठक अनेक उपचारोंसे लाभ उठा सकते हैं। इन उपचारोंसे समझ बूझकर काम ले तो हानिका कोई भय नहीं है। सब रोगोंकी विस्तृत चिकित्सा तीसरे और चौथे भागमें देनेका प्रयत्न किया जायगा।

प्रचलित चिकित्साकी हानिसे देशको बचाइये।

हमारे दरिद्र देशमें चिकित्सा अत्यन्त व्ययसाध्य हो गयी है। औषधोपचार अमीरोंका व्यसन हो रहा है। चिकित्साके भरोसे व्यसनी और विषयासक्त मनुष्य अपनी इन्द्रियोंको बेलगाम छोड़ देता है, असंयत और अपवित्र जीवनसे अपनी व्यक्तिको और राष्ट्रकी एक उपयोगी प्रजाको नष्ट कर देता है। यह हुई श्रेष्ठोंकी दशा। उनकी देखा देखी दरिद्र भी औषधोपचारको ही जीवनका आधार मानता है और उनकी राहपर चलकर उनकी अपेक्षा अधिक द्रुतगतिसे विनाशके भयंकर गर्त्तमें जा गिरता है। देश भक्तोंका कर्त्तव्य है कि राष्ट्रके स्वास्थ्यकी

रक्षा करें। समुचित स्वाभाविक जीवन और प्राकृतोपचारका प्रचार करें। यदि हमारे देशबन्धु इस ग्रंथको पढ़कर मिथ्योपचारसे राष्ट्रकी रक्षा करें और प्राकृतोपचारकी ओर ध्यान दें तो मैं अपना श्रम सफल समझूंगा।

बड़ीपियरी, श्रीकाशी
निर्जला ११, १९८२। } रामदास गौड़

ॐ तत्सत्

स्वास्थ्य-साधन

पहला अध्याय

प्रत्यक्ष शरीर

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्

(१) हमारे अनेक शरीर

मनुष्यका शरीर उतना ही नहीं है जितना सर्वसाधारण-को जाग्रत अवस्थामें अनुभव होता रहता है। भारतवर्षके विद्वानोंने मनुष्य-शरीरका आन्तरिक अनुशीलन करके यह निश्चय किया है कि यह शरीर पांच कोषोंसे बना है, जिसमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों देहोंका समावेश होता है। जाग्रत अवस्थामें चेतनका सारा व्यापार देखनेमें स्थूल शरीरमें प्रधा-नतः और सूक्ष्म शरीरमें गौणरूपसे होता रहता है। स्वप्नावस्थामें स्थूल शरीरके अनेक अंश आराममें रहते हैं और उसके व्यापा-रोंका केन्द्र सूक्ष्म शरीरमें होता है। गाढ़ी नींदमें यहांसे भी हटकर उसका व्यापारकेन्द्र कारण शरीरमें चला जाता है और

सूक्ष्म शरीरका अधिकांश आराममें रहता है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण,यह तीनों शरीर किसी कोप या खोलकी तरह अलग अलग नहीं हैं प्रत्युत ओतप्रोत भावसे परस्पर सन्निविष्ट हैं। मनुष्यके जाग्रत जीवनके रहते तीनों शरीरोंका थोड़ा-बहुत व्यापार अत्यन्त घनिष्ट रीतिसे अन्योन्याश्रित रहता है। जाग्रत जीवनके अन्त होनेपर अर्थात् साधारणतया जिसे संसारमें मृत्यु कहते हैं उसके पीछे यह आवश्यक नहीं है कि सूक्ष्म और कारण शरीरका एवं तत्संबंधी कोपोंका भी अंत हो जाय। अन्नमय और प्राणमय कोष स्थूलरूपसे स्थूल शरीरके साथ समाप्त हो जाते हैं परन्तु प्राणमय कोषका सूक्ष्मांश सूक्ष्म शरीरका सहगामी होता है। इस जाग्रत संसारमें हम साधारणतया स्थूल शरीर और अन्नमय एवं प्राणमय कोपोंके व्यापार और विकार अपने ध्यानमें रखते हैं। व्यापार यदि प्रमितरूपसे जारी रहे तो यह समझा जाता है कि कोई विकार जागृत अवस्थाकी देहोंमें नहीं आया। परन्तु यह आदर्शमात्र है क्योंकि क्रियमाण कर्मोंके साधनमें प्रत्येक प्राणी स्वतंत्र है और आदर्शपर पहुंचनेके लिये प्रकृतिसे सहायता लेते हुए उसे अपने संकल्पके अनुसार आच-रण करना है। जीवनके परमोद्देश्य तीर्थका यह यात्री इस संसारमें स्वास्थ्यके मार्गमें, जहांतक व्यक्तिगत संबंध है, अकेला ही यात्रा कर रहा है। उसके साथ उसके ही कर्मोंका संबल है और उसके निजी दायित्वका भार सरपर। वह चलते चलते ठोकरें खाता है, कांटों कुशोंमें फँसता है, गिरता पड़ता है

और अपने शरीरको क्षत-विक्षत भी करता है। इन कारणोंसे उसका व्यापार आदर्श नहीं हो सकता और विकारका आना अनिवार्य हो जाता है। अपने संचित और प्रारब्ध कर्म और अपनी अर्जित परिस्थिति, वंशप्रभाव आदि भी विकारके कारण होते हैं। मानव-शरीर इसीलिये सर्वोत्तम कर्मभूमि होते हुए भी साधारणतया आदर्श देह नहीं है।

वैज्ञानिकोंका मत है कि प्रकृति निरन्तर अपने हाथ मांज रही है और यद्यपि मानव-शरीर उसका अंतिम सर्वोत्तम ढांचा है तो भी उसका अभ्यास जारी है और सुदूर भविष्यके गर्भमें आदर्श शरीरकी रचना हो रही है।

(२) कंकाल

मानव-देह वा देहोंका एक दृष्टिसे संक्षिप्त दिग्दर्शन करके हम यहां केवल स्थूल शरीरका कुछ संक्षिप्त वर्णन इसलिये कर देना चाहते हैं कि स्वाभाविक जीवनमें सतत उत्पन्न होनेवाले अनिष्ट विकारोंसे रक्षाके लिये हम जितने स्वाभाविक उपचार करेंगे सभी विकारके स्थानोंके ज्ञानपर अवलम्बित होंगे और स्वाभाविकजीवी एवं आत्म-चिकित्सकके लिये थोड़ा बहुत अंग-प्रत्यंगका ज्ञान अनिवार्य है।

मानव-शरीरका ढांचा अत्यन्त कठोर पदार्थका बना हुआ है, जिसे अस्थि कहते हैं। यद्यपि हड्डीके यह टुकड़े अलग अलग हैं, तथापि इस तरह जोड़े गये हैं कि यदि कोई विशेष भीषण आघात न पहुँचे अथवा किसी प्रकारका क्षय न हो तो यह

जीवनभर बने रहें। कहीं कहीं यह कोष या डब्बेका काम देते हैं और कहीं केवल भीतकी पुष्टिके लिये पत्थरके खंभे या ईंटोंका।

यह याद रहे कि जिस समय बालक जन्म लेता है उसके शरीरमें साधारण हड्डियोंके बदले कुरीं होती है जिसे अस्थि-कल्प कह सकते हैं। यही समय पाकर कड़ी हो जाती है और साधारण हड्डियां बन जाती हैं। प्रौढ़ मनुष्यके अंगुलीके पर्वोंमें जहां केवल तीन हड्डियां होती हैं, वहां बच्चोंके कई कई होती हैं जो समय पाकर जुटकर तीन रह जाती हैं। प्रौढ़ावस्थातक पहुँचते पहुँचते हड्डियोंकी संख्या घटती जाती है और नियमित रूपसे दो सौ हो जाती हैं। आयुर्वेद ग्रंथोंमें ३०० से लेकर ३६०-तक संख्याएं बतायी जाती हैं। उनमें दांतोंका और कई अस्थि-कल्पोंका भी समावेश कर लिया जाता है। यूनानी हकीम और पाश्चात्य वैज्ञानिक दांतों और अस्थि-कल्पोंकी गिनती हड्डियोंमें नहीं करते और प्रौढ़ मनुष्यकी अस्थियोंकी संख्याको ही प्रमाण मानते हैं।

सिरका डब्बा आठ बड़ी, दृढ़ और सूक्ष्म हड्डियोंका बना हुआ होता है जिसके भीतर मस्तिष्कका भेजा, नाड़ीचक्र, प्रधान इन्द्रियोंका केन्द्र आदि सुरक्षित होते हैं। इसके पीछे और नीचेकी ओर एक छेद होता है जिसमें रीढ़ जुड़ी हुई होती है और यह डब्बा मानो उसी रीढ़पर रखा रहता है।

खोपड़ीके आगे और नीचेका भाग चेहरेकी चौदह हड्डियोंका बना होता है।

मेरुदण्ड या रीढ़का दण्ड छब्बीस गुरियों या मुहरोंका बना होता है। उन्हें कशेरुका भी कहते हैं। प्रत्येक कशेरुकामें बीचोबीच एक छिद्र होता है और किनारेके शृंगोंद्वारा एक दूसरेमें पहनायी होती है। बीचवाला छिद्र छब्बीसों गुरियोंमें होते हुए लगातार चला जाता है। इसी छिद्रके भीतरसे होकर मस्तिष्कसे सम्बद्ध सुषुम्ना नाड़ी होती है। स्वरयंत्रके सामने टेंटुएकी हड्डी होती है।

गरदनसे मिला हुआ हड्डियोंका एक बहुत बड़ा डब्बा है, जिसके पीछेका हिस्सा रीढ़की बारह गुरियां है और आगेका भाग एक लंबी हड्डी और चौबीस पसलियोंसे बना होता है। इस डब्बेमें हृदय और फेफड़ेकी रक्षा होती है। पसलीकी हड्डियां लोचदार होती हैं और श्वास उच्छ्वासपर फैलती सकुड़ती रहती हैं।

धड़के ऊपरी भागमें दोनों ओर गरदनके नीचे पीठकी ओर दो तिकोनी चौड़ी हड्डियां होती हैं जिन्हें पक्षास्थि कहते हैं। इनके ऊपर और गर्दनको घेरे हुए हँसुलीकी हड्डियां होती हैं और पक्षास्थिके ऊपरी भागके पाससे ही भुजाओंकी एक एक लम्बी हड्डी दोनों ओर होती है। कुहनीसे इसका संबंध दो हड्डियोंसे हो जाता है। हाथके अन्तमें पहुंचेकी आठ हड्डियां छोटी छोटी दो पंक्तियोंमें होती हैं जिनके सहारे कलाई हर तरफ घूमती है। हथेलीमें चार अंगुलियोंमें बारह और अंगूठेमें दो हड्डियां होती हैं।
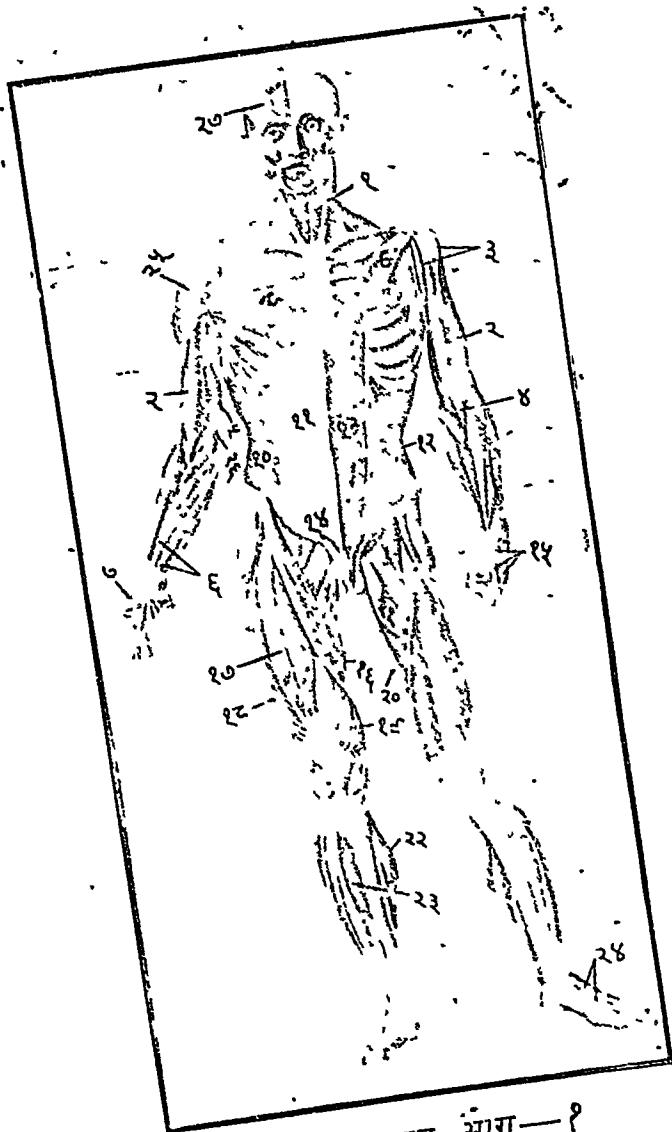
धड़के नीचेके भागमें कूल्हेसे लेकर पाँवतक ३१ हड्डियां होती हैं। कूल्हेमें एक, जंघेमें एक, घुटनेपर एक, पिण्डलीमें दो, टखने या गुल्फमें सात, पार्ष्णिकी पांच, अंगुलियोंकी बारह और अंगूठेकी दो हड्डियां होती हैं।

यह संपूर्ण ढांचा ऐसा समंजस और सुदृढ़ बना होता है कि सारे शरीरके भारको सँभालता, चोट सहता और भिन्न दिशाओंमें गति होते हुए भी इष्ट स्थान और दशामें रहता है। केवल अपना ही बोझ नहीं सँभालता; बल्कि बाहरी बोझ भी एक हदतक सँभाल लेता है।

इन कड़ी हड्डियोंके सिवा नरम लोचदार अस्थि-कल्प या कुर्रियां भी होती हैं जिनसे अंगोंकी रक्षा होती है और दो कड़ी हड्डियोंके जोड़में भी प्रायः इनसे सहायता मिलती है। पसलियोंके जोड़पर और रीढ़के मुहरोंके बीचमें यह बहुत उपयोगी होती हैं।

हड्डियोंके जोड़ कई तरहके होते हैं। एक तो दो हड्डियां एक दूसरेके अन्दर दृढ़तापूर्वक सली हुई होती हैं और जरा भी नहीं हिलतीं। और दूसरे हिलनेवाले जोड़ होते हैं। भिन्न भिन्न जोड़ोंकी भिन्न भिन्न गति होती है। (१) गोल, जैसे कुहनी और कंधेपर (२) फैलने और सिकुड़नेकी, जैसे पोरोंमें (३) आगे और पीछेकी, जैसे कलाईमें।

जो जोड़ हिलनेवाले होते हैं उनपर एक तरहके बंद लगे होते हैं। यह सफेद तंतुमय दृढ़ पदार्थ होते हैं जो जोड़नेवाली

स्वास्थ्य साधन, भाग—१

इसके पृष्ठपरके चित्र की व्याख्या

१. उरः कर्णमूलिका पेशी । २. द्विशिरस्का ।

३. द्विशिरस्काके दो शिर । ४. द्विशिरस्काकी कण्डरा ।

५. त्रिशिरस्का । ६. कण्डराएं ।

७. अंगुष्ठकी पेशियां । ८. उरश्छादनी बृहती ।

९. उरश्छादनी लघ्वी । १०. उदरच्छदा बहिःस्था ।

११. नं० १० पेशीकी कण्डरा । १२. उदरच्छदा मध्यस्था ।

१३. सरल उदरच्छदा ।

१४. छिद्र; शुक्र प्रणाली इसीमेंसे होकर उदरके भीतर जाती है; इसी छिद्रमेंसे होकर कभी कभी अंत्रका कुछ भाग निकलकर अण्डकोषमें चला आता है । १५. कण्डरा ।

१६. ऊरुकी एक पेशी जिसके संकोचसे एक जांघ दूसरी जांघपर रक्खी जा सकती है । १७. सरला औवी ।

१८. ऊरु प्रसारिणी बहिःस्था । १९. ऊरु प्रसारिणी अन्तःस्था

२०. ऊर्वन्तः पार्श्विका । २१. अन्तरयनी ।

२२. पिंडिका महती । २३. जंघा पुरोगा ।

२४. कण्डरा । २५. अंसाच्छादनी ।

२६. कूर्पर नमनी । २७. शिरश्छदा पेशी ।

हड्डियोंके सिरे पर लगे होते हैं। यह बंद फैलते और सिकुड़ते हैं, इसीलिये जोड़ोंके हिलनेमें बाधा नहीं होती। साथ ही उनसे जोड़ोंकी रक्षा रहती है।

(३) मांसका ढांचा—अन्नमय कोष

मांसपेशियां वस्तुतः मांसके सूक्ष्म तन्तुओंसे बनी होती हैं। यह हड्डीके ढाँचेको ढककर भयानक कंकालको बहुत सुन्दर और सुडौल रूप दे देती हैं। अंतरंगोंकी रक्षा करती हैं। सुषुम्ना आदि कर्मनाड़ियोंको सहायतासे शरीरमें गति उत्पन्न करती हैं। मांसपेशियोंका एक सिरा हड्डीके एक सिरेपर और दूसरा दूसरी हड्डीके सिरेपर लगा होता है। शरीरके समस्त व्यापार, सब तरहकी गतियाँ

पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्
प्रलपन्, विसृजन् गृह्णन् उन्मिषन्निमिषन्नपि

उन्हीं मांसपेशियोंके फैलने और सिकुड़नेसे होती हैं। मांसपेशियोंका पोषण रक्तके द्वारा होता रहता है,इसीलिये मांस भी लाल रंगका होता है।

रक्तकी रगें तीन तरहकी होती हैं। पहली धमनियां जिनमें शुद्ध लाल रक्तका प्रवाह हृदयकी ओरसे अंग-प्रत्यंगकी ओर होता रहता है। दूसरी शिराएं जिनमें दूषित रक्त बहता है और विकारके कारण नीला हो जाता है। यह अंग-प्रत्यंगसे अशुद्ध रक्तको हृदयकी ओर ले जाती हैं। तीसरी रगें वह हैं जो अत्यंत सूक्ष्म होती हैं, जिनका सम्बन्ध धमनियोंसे है। इन्हींके द्वारा

धमनीसे शुद्ध रक्त अंग-प्रत्यंगमें पहुँचता है। यह केशिकाएं कहलाती हैं।

रक्तके सारे शरीरमें संचरण करनेके लिये प्रधान कार्यालय हृदय है जो वक्षस्थलके वाम पार्श्वमें स्तनके ठीक नीचे नासपातीके रूपमें स्थित है, जिसका पतला सिरा नीचेकी ओर रहता है। इस कार्यालयमें चार कोठरियां हैं जिनमेंसे वायीं ओर नीचेकी कोठरीसे सबसे बड़ी धमनीमें होकर शुद्ध रक्त अन्य धमनियों-द्वारा सारे शरीरमें फैलता है और इन धमनियोंका अंत उन अत्यन्त सूक्ष्म केशिकाओंमें होता है जिन्हें साधारण आंखोंसे देखना अत्यन्त कठिन है। यह केशिकाएं समस्त शरीरमें फैली हुई हैं और त्वचातक रक्तका संचार करती हैं और इनका दूसरा अंत शिराओंमें होता है जो अशुद्ध रक्तको हृदयकी ओर ले जाती हैं और हृदयकी दाहिनी ओरकी ऊपरी कोठरीमें खुलती हैं। यहांका अशुद्ध रक्त दाहिनी, नीचेकी कोठरीसे हो होकर फेफड़ोंमें जाता है जहांसे साफ होकर फिर वायीं ऊपरी कोठरीमें शुद्ध रक्त आता है और फिर वायीं निचली कोठरीसे, जैसे पहले कहा गया है, धमनियोंद्वारा सारे शरीरमें चक्कर मारता है। इस क्रियाको रक्तचक्र कहते हैं और इस क्रियाके क्षेत्रको रक्तसंस्थान कहते हैं।

शुद्ध रक्तकी रगें शरीरमें बहुत गहराईतक फैली हुई हैं। जब हृदयका छिद्र सिकुड़ता है और रक्तको इन रगोंमें ढकेलता है तो यह रगें तन जाती हैं और इस सिकुड़ने और फैलनेकी

क्रियाके जारी रहनेसे रक्त आगे बढ़ता चला जाता है और शरीरके सूक्ष्मसे सूक्ष्म कणोंका पोषण करते हुए और मलको खींचते हुए हृदयमें लौट आता है। शिराओंका नीला रंग इसी मलके कारण है।

जब हृदय सिकुड़ता है तब धमनियां तनती हैं और जब फैलता है तो दबती हैं। इसीसे नाड़ी या धमनीमें टपकनेकीसी गति जान पड़ती है। जहां यह धमनियां गहराईमें चली गयी हैं वहां टपकना मालूम नहीं होता। परन्तु जहां ऊपरी तलके पास आ गयी हैं, जैसे जबड़ेके नीचे, कनपटीके सामने और गलेमें, अंगूठेकी जड़में, कलाईके बाहरी भागपर, पैरके भीतरी टखनेके पीछे, वहां इनका टपकना अंगुलियोंसे मालूम होता है। धमनियोंके मार्गमें ढकने हैं जो इस तरहपर खुलते मुँदते रहते हैं कि आगे बढ़नेवाला रक्त पीछेको लौट नहीं सकता। रक्त केवल नखों, बालों, कनीनिकाओं और कुर्रियोंमें नहीं पहुँचता क्योंकि यहां रक्तवाहिनियां नहीं हैं।

रक्त उन पदार्थोंसे बनता है जो भोजनरूपसे आमाशयमें पहुँचते हैं और उनका पतला रस बनकर यकृतमें पहुँचता है, जहां रक्त और पित्त बनता है। यकृतसे एक नलिकाद्वारा हृदयके बायीं ओर संचरणमें सम्मिलित होनेके लिये यह रक्त आता है।

वक्षास्थिके नीचे दाहिनी ओर यकृत होता है। यह नरम और रन्ध्रमय पदार्थका बना होता है और अंतिम पर्शुकाओंके

नीचे स्थित है। आमाशयका कुछ भाग इसके नीचे पड़ जाता है। यकृत गहरा कत्थई रंगका होता है। इसमें दो भाग होते हैं। जब यह अपने साधारण आयतनसे बढ़ जाता है तो पसुलीके नीचे टटोलनेसे मालूम देने लगता है। भोजनके पचनेके समय इसीमेंसे निकलकर पित्त एक नलिकाद्वारा अँतड़ीमें जाता है। और समयोंमें अपनी थैलीमें जमा रहता है। इस पित्तके न्यूनाधिक्यसे भी अनेक रोग होते हैं।

(४) पोषण-संस्थान

पोषण-संस्थानका आरंभ मुखसे होता है और गुदातक समाप्त होता है। उसके भिन्न भिन्न विभाग हैं।

१—मुँहमें दांतोंसे भोजनका पदार्थ पिसकर लालासे सनता है। लालाकी ग्रन्थियां दोनों कनपटियोंके नीचे, जिह्वाके नीचे और दोनों ओर जबड़ेके नीचे होती हैं जिनमेंसे क्षारमय राल निकलकर भोजनके मंडमय पदार्थको शर्करामें परिणत करती है। पाचनकी क्रियाका यहींसे आरंभ होता है। लालासे ही भोजनके नीचे उतरनेमें सहायता मिलती है।

२—ग्रास मुखसे अन्नमार्गमें उतरता है, जिसके भीतर एक झिल्ली होती है, जिसमेंसे भी एक प्रकारका रस निकलता रहता है जिसके द्वारा ग्रास खिसककर नीचे जाता है।

३—अन्न-मार्गसे अन्न-प्रणालीमें होकर भोजन आमाशयमें पहुँचता है जो पसुलियोंसे लेकर नाभितक स्थित है। इस क्षेत्रके भीतर अँतड़ियां यकृत प्लीहा क्लोम और वृक्क भी होते हैं।

४—आमाशयमें अन्नप्रणालीके द्वारा भोजन पहुँचाया जाता है। आमाशयमें एक प्रकारका अम्लमय रस उत्पन्न होता है,जिससे अन्न पचता है। आमाशयकी शकल मशककीसी होती है। इसका दूसरा सिरा छोटी अँतड़ियोंमें जुड़ा होता है। जोड़की जगह एक ढकना होता है जो अपक्व भोजनको अँतड़ियोंमें नहीं जाने देता।

५—छोटी अँतड़ियोंमें विविध रसोंसे मिलकर 'लसीका' बनती है। यह अँतड़ियां पेचदार और लगभग साढ़े चौदह हाथके लंबी होती हैं। इनके भीतर एक लसदार झिल्ली होती है जिसे श्लेष्मकला कहते हैं और सोखनेवाली रगें होती हैं जो पचे हुए भोजनके रसको सोखकर यकृतमें पहुँचाती हैं। श्लेष्मकला मलको आगे खिसकाती है जो बड़ी आंतोंमेंसे होकर गुदाके द्वारसे विसर्जित होता है।

६—बड़ी आंतोंके तीन भाग हैं—उद्गामी,अनुप्रस्थ और अधोगामी। जहां छोटी और बड़ी आंतें मिलती हैं उसके बीचमें एक ढकना होता है जो बड़ी आंतोंसे मल या वायुके अंशको छोटी आंतोंमें जानेसे रोकता है। आंतोमें केंचुएकीसी एक प्रकारकी गति होती है। क्रमशः सिकुड़ने और फैलनेसे मल आगेको खिसकता रहता है। इसी गतिमें तीव्रता या मंदता आदि विकार आनेसे बद्धकोष्ठ, अतिसार आदि रोग होते हैं।

(५) पाचन-क्रिया

भोजनका पाचन इस प्रकार होता है। मुख अन्नमार्ग और

नीचे स्थित है। आमाशयका कुछ भाग इसके नीचे पड़ जाता है। यकृत गहरा कत्थई रंगका होता है। इसमें दो भाग होते हैं। जब यह अपने साधारण आयतनसे बढ़ जाता है तो पसुलीके नीचे टटोलनेसे मालूम देने लगता है। भोजनके पचनेके समय इसीमेंसे निकलकर पित्त एक नलिकाद्वारा अँतड़ीमें जाता है। और समयोंमें अपनी थैलीमें जमा रहता है। इस पित्तके न्यूनाधिक्यसे भी अनेक रोग होते हैं।

(४) पोषण-संस्थान

पोषण-संस्थानका आरंभ मुखसे होता है और गुदातक समाप्त होता है। उसके भिन्न भिन्न विभाग हैं।

१—मुँहमें दांतोंसे भोजनका पदार्थ पिसकर लालासे सनता है। लालाकी ग्रन्थियां दोनों कनपटियोंके नीचे, जिह्वाके नीचे और दोनों ओर जबड़ेके नीचे होती हैं जिनमेंसे क्षारमय राल निकलकर भोजनके मंडमय पदार्थको शर्करामें परिणत करती है। पाचनकी क्रियाका यहींसे आरंभ होता है। लालासे ही भोजनके नीचे उतरनेमें सहायता मिलती है।

२—ग्रास मुखसे अन्नमार्गमें उतरता है, जिसके भीतर एक झिल्ली होती है, जिसमेंसे भी एक प्रकारका रस निकलता रहता है जिसके द्वारा ग्रास खिसककर नीचे जाता है।

३—अन्न-मार्गसे अन्न-प्रणालीमें होकर भोजन आमाशयमें पहुँचता है जो पसुलियोंसे लेकर नाभितक स्थित है। इस क्षेत्रके भीतर अँतड़ियां यकृत प्लीहा क्लोम और वृक्क भी होते हैं।

४—आमाशयमें अन्नप्रणालीके द्वारा भोजन पहुँचाया जाता है। आमाशयमें एक प्रकारका अम्लमय रस उत्पन्न होता है, जिससे अन्न पचता है। आमाशयकी शक्ल मशककीसी होती है। इसका दूसरा सिरा छोटी अँतड़ियोंमें जुड़ा होता है। जोड़की जगह एक ढकना होता है जो अपक्व भोजनको अँतड़ियोंमें नहीं जाने देता।

५—छोटी अँतड़ियोंमें विविध रसोंसे मिलकर 'लसीका' बनती है। यह अँतड़ियां पेचदार और लगभग साढ़े चौदह हाथके लंबी होती हैं। इनके भीतर एक लसदार झिल्ली होती है जिसे श्लेष्मकला कहते हैं और सोखनेवाली रगें होती हैं जो पचे हुए भोजनके रसको सोखकर यकृतमें पहुँचाती हैं। श्लेष्मकला मलको आगे खिसकाती है जो बड़ी आंतोंमेंसे होकर गुदाके द्वारसे विसर्जित होता है।

६—बड़ी आंतोंके तीन भाग हैं—उद्गामी, अनुप्रस्थ और अधोगामी। जहां छोटी और बड़ी आंतें मिलती हैं उसके बीचमें एक ढकना होता है जो बड़ी आंतोंसे मल या वायुके अंशको छोटी आंतोंमें जानेसे रोकता है। आंतोमें केंचुएकीसी एक प्रकारकी गति होती है। क्रमशः सिकुड़ने और फैलनेसे मल आगेको खिसकता रहता है। इसी गतिमें तीव्रता या मंदता आदि विकार आनेसे बद्धकोष्ठ, अतिसार आदि रोग होते हैं।

(५) पाचन-क्रिया

भोजनका पाचन इस प्रकार होता है। मुख अन्नमार्ग और

अन्न-प्रणालीमें क्रमशः पिस और सन करके भोजन जब आमाशयमें पहुँचता है तो आमाशयके अम्लमय रससे मिलकर उसमें एक विशेष रासायनिक क्रिया होती है। अन्नमें आमाशयके रसोंके मिलनेके लिये इस थैलीमें गतिका होना आवश्यक है। आमाशयसे निकलकर जब आमरस पक्काशयमें जाता है तो इसमें पित्त और क्लोमरसके मिलनेसे लसीका बनती है। लसीका दूधकी तरह सफेद होती है। इसे अन्नरस भी कह सकते हैं। इसी अन्नरसको आंतें सोखकर यकृतमें पहुँचाती हैं।

प्लीहा बायीं ओर अन्तिम पर्शुकाओंके नीचे होती है। यह भंजनशील श्याम वर्णका पदार्थ है जिसमें यकृतकेसे अगणित रन्ध्र होते हैं। यह भी जब बढ़ती है तब बायीं ओर पसलीके नीचे टटोलनेसे मालूम होती है। इसमें रक्तके श्वेतकण बनते हैं। यह भोजनके पाचनमें अप्रत्यक्ष सहायक है।

यकृतके दाहिने भागमें एक थैली होती है जिसे पित्ता कहते हैं। एक नालीके मार्गसे इसी थैलीसे निकलकर पित्त पक्काशयमें जाता है। जिन समयोंमें पाचनकी क्रिया नहीं होती रहती उन समयोंमें यकृतमें पित्त बन बनकर पित्तेमें इकट्ठा होता रहता है। पित्त पीले रंगका द्रव है जो स्वादमें कड़ुआ होता है, भोजन पचाता है, मलविसर्जनमें सहायता देता है, स्निग्ध भोजनके स्नेहको गलाता है, आंतके भीतर अन्नको सड़नेसे बचाता है और ऊष्मा या गरमीकी रक्षामें सहायक होता है।

यकृतकी बायीं ओर आमाशयके पीछे क्लोम होता है जिसमेंसे

एक नाली निकलकर क्रोमरसको पक्वाशयमें पहुँचाती है जिससे चिकनी और लसदार चीजें घुल जाती हैं।

कमरके पास रीढ़के दहिने और बायें दो वृक्क या गुर्दे होते हैं जहांसे एक एक नाली निकलकर मूत्राशय या फुकनेमें मिलती है। वृक्कोंमें रक्तसे मलरूप प्रस्राव बनता है जो पेशाब-वाली नालियोंके रास्तेसे फुकनेमें इकट्ठा होता है।

(६) प्रजन-संस्थान

फुकना या मूत्राशय पेड़ूमें जननेन्द्रियके ऊपर होता है। वृक्कोंसे पेशाब बन बनकर नालियोंकी राहसे बूंद बूंद फुकनेमें इकट्ठा होता रहता है। नालियोंमें ऐसे ढकने लगे रहते हैं कि फुकनेमें आकर पेशाब लौट नहीं जा सकता। जब फुकनेमें मूत्र अधिक इकट्ठा हो जाता है तो विसर्जनकी आवश्यकता होती है। फुकनेसे लगी हुई जो पेशाबकी नाली होती है उसके सिरे-पर एक गोलीसी लगी रहती है जो पेशाबको जबतक वह पर्याप्त परिमाणमें इकट्ठा नहीं हो जाता निकलनेसे रोकती है। पेशाब करते समय यह गोली हट जाती है और मूत्राशय सिकुड़ जाता है, तब मूत्रविसर्जन होता है। अंडकोषमें दो शुक्रग्रन्थियां होती हैं जिनके अंदरसे ऊपरको ओर दो नलियां पेड़ूके अंदर जाती हैं जो शुक्राशयोंमें मिलती हैं। शुक्राशयोंसे मिली हुई एक नलिका मूत्राशयमें जाती है। पुरुषोंके जननेन्द्रिय और मूत्रेन्द्रियका मार्ग एक होता है। स्त्रियोंकी जननेन्द्रिय, योनि या गर्भाशय मूत्राशयके नीचे वस्तिगह्वरमें होता है। इसके दहिने

और बायें पार्श्वमें दो डिम्बग्रंथियां होती हैं जिनसे डिम्ब-प्रणालियोंद्वारा योनिमें डिम्बस्राव होता है और ऋतुकालमें योनिमार्गद्वारा रजःस्राव भी होता है। स्त्रियोंमें योनिमार्ग मूत्रमार्गसे भिन्न तथा उसके नीचेकी ओर होता है।

(७) वात-संस्थान, प्राणमय कोष

खोपड़ीके भीतर एक कोमल पदार्थ होता है जिसे भेजा कहते हैं। उसके दो भाग होते हैं। नीचेके भागसे एक डोरीसी लगी हुई रीढ़की गुरियोंके भीतरसे होती हुई नीचेको जाती है। इस नाड़ीजालको सुषुम्ना नाड़ी कहते हैं। यहांसे नाड़ियोंकी अनंत शाखाएँ समस्त शरीरमें फैली हुई हैं। सुषुम्नासे मस्तिष्कका प्रत्यक्ष संबंध है, बल्कि यों समझना चाहिये कि मस्तिष्क खोपड़ीसे लेकर रीढ़तक चला गया है। नाड़ियां दो प्रकारकी होती हैं। जिनका ज्ञानेन्द्रियोंसे संबंध है और जो मस्तिष्कको समाचार पहुँचाती हैं, ज्ञाननाड़ी कहलाती हैं। जिनके द्वारा मस्तिष्क अपने इच्छानुसार मांसपेशियोंका और उनके द्वारा अंग-प्रत्यंगका संचालन करता है उन्हें कर्मनाड़ी कहते हैं। यह सम्पूर्ण वात-संस्थान कहलाता है क्योंकि आयुर्वेदके अनुसार पांचों प्राणोंकी समस्त क्रियाएँ इन्हीं नाड़ियोंके द्वारा होती हैं। बहुतोंके मतसे वात-संस्थानको ही प्राणमय कोष समझना चाहिये।

(८) श्वास-संस्थान

गलेके भीतर स्वरयन्त्र अन्नमार्गके सामने होता है। यह

एक नलिकाके भीतर छोटी डिबियाकी तरह कुर्री हड्डियोंका बना होता है। इसके रंध्र-द्वारपर पानके अनुरूप अस्थि-कल्पका एक ढकना होता है जो सांस लेते समय सीधा खुला रहता है, परन्तु जब भोजन अन्नमार्गमें जाने लगता है तो यह उलटकर स्वरयंत्रको बंद कर लेता है। स्वरयंत्रमें वायुके सिवा, कैसा ही सूक्ष्म हो, किसी अन्य पदार्थका जाना स्वभावविरुद्ध है। यदि कोई पदार्थ या पानी ही अथवा कोई अनिष्ट वायव्य ही सही स्वरयंत्रके ऊपर चला जाता है तो भीतरी वायु उसे उछाल देती है, दम घुटने लगता है और मार्ग बंद हो जाता है।

स्वरयंत्रके नीचेका भाग प्राणमार्गमें जुड़ा होता है जोकि स्वरयंत्रसे लेकर वक्षःस्थलके बीचकी हड्डीके ठीक नीचेतक जाकर श्वास-प्रणालीसे मिल जाता है। श्वास-प्रणालीसे कुछ आगे बढ़कर दो शाखाएं निकलती हैं जो दोनों फुफ्फुसोंमें जाती हैं। फुफ्फुसके भीतर अनन्त सूक्ष्म नलिकाएं हैं जो केवल अणुवीक्षण यंत्रसे ही देखी जा सकती हैं। फुफ्फुसके भीतर मधुमक्खियोंके घरोंकी तरह अनन्त वायुकोष हैं जिन सबमें वायुके भर जानेके अनिरुद्ध मार्ग हैं। श्वास-प्रणालीके भीतरी ओर एक लसदार झिल्लीका अस्तर होता है जिसपर बारीक बारीक मखमलकेसे रोएं होते हैं। हवाके साथ जो कण इत्यादि बाह्य पदार्थ चले आते हैं इसी रोएंदार अस्तरमें रुक जाते हैं और फुफ्फुसमें शुद्ध वायु जाती है। फुफ्फुस अत्यन्त रंध्रमय अङ्ग हैं जिनके भीतर केशिकाओंका

जाल है जिनमेंसे होकर अशुद्ध नीला रक्त फुफ्फुसमें फैलता है और वही शुद्ध ओषजनको ग्रहण करके और कर्बन द्वयोषिद्का विसर्जन करके शुद्ध लाल रक्त बनकर फिर हृदयको लौट जाता है। बाहर आनेवाली सांससे जलवाष्प नत्रजन आदिको संग लिये कर्बन द्वयोषिद् निकल जाता है। इसी क्रियाको आयुर्वेदग्रंथोंमें इस तरह वर्णन किया है कि हृदयसे फुफ्फुसमें रक्त जाता है और विष्णुपदामृत पान करके शुद्ध हो एवं जीवित होकर फिर हृदयमें लौटता है। शुद्ध रक्त हृदयके बायें कोष्ठकमें फुफ्फुसीय शिराद्वारा लौट आता है और बायें नीचेके कोष्ठकसे बृहद्धमनीद्वारा सारे शरीरमें फैलता है। इसीको रक्तसंचरण चक्र कहते हैं।

(६) जीवन-क्रियामें मल-त्यागका महत्व

शरीरके संपूर्ण संस्थानोंपर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीरकी स्थिति आवश्यक पोषणपर और अनावश्यक पदार्थोंके विसर्जन होते रहनेपर निर्भर है परन्तु यह कभी न समझना चाहिये कि मलके रूपमें जिन पदार्थोंका विसर्जन होता है वह खाये हुए अन्नसे ही सीधे अलग होते हैं। भोजन-पानके मेलके अतिरिक्त हमारे शरीरके असंख्य कण निरन्तर क्षय हो होकर मलोंके रूपमें निकलते रहते हैं। वास्तविक बात यह है कि इस स्थूल शरीरके जन्मसे लेकर मरणपर्यन्त प्रतिक्षण वृद्धि और क्षयकी कहानी जारी रहती है। प्रौढ़ावस्थातक वृद्धिका प्राबल्य रहता है और प्रत्येक प्राणीके जीवनमें अवश्य ही कोई

मध्यकाल होता है, जब क्षयकी क्रिया प्रबल और वृद्धिकी क्रिया निर्बल हो जाती है और अन्तमें ज्यों ही वृद्धिकी क्रियाका अन्त होता है शरीरका भी अन्त हो जाता है।

हम लोग तीन रूपोंमें भोजन अपने शरीरके भीतर ले जाते हैं, घन द्रव और वायव्य। घन द्रव तो भोजन और पानमें हम शरीरमें ले जाते ही हैं परन्तु यह न भूलना चाहिये कि जो वायु श्वासद्वारा भीतर जाती है वह भी हमारे भोजनका एक अवयव है। यद्यपि उसे हम भोजनमें मिलाकर स्पष्ट रूपसे पेटमें नहीं ले जाते तथापि इसके बिना हमारे शरीरका पोषण होना असम्भव है। विद्वानोंने पेटकी रसोईघरसे उपमा दी है जिसमें अन्न और जल पकनेवाले पदार्थ हैं, वायु ईंधन है और रक्त पैकान्न है जो हृदयरूपी भांडारद्वारा समस्त शरीरके पोषणके लिये पहुँचाया जाता है। शरीरका प्रत्येक कण भोजन पाता है। कुछ भोजन पाकर पुष्ट होते और बढ़ते हैं और कुछ अपना काम पूरा करके नष्ट हो जाते हैं। सारा शरीर अत्यन्त सूक्ष्म कणोंका बना हुआ है। ऋषियोंने रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र, इन सात धातुओंका बना हुआ मनुष्य-शरीरको बताया है। किसी किसीके मतमें केश, त्वचा और स्नायुको मिलाकर दस धातुएं गिनायी हैं। जिन कणोंकी चर्चा हमने ऊपर की है वह इन्हीं दसों धातुओंके कण हैं और सबकी वृद्धि और क्षय होता रहता है। रसोंसे रक्त, रक्तसे मांस और मांससे मेदका बनना ऋषियोंने माना है। मेद सीधे रक्तसे भी बन जाता

है और भोजनके पदार्थोंका मेद विना पचे ही कहीं कहीं जमा हो जाता है। मेदके पश्चात् अस्थि और अस्थिके भीतर मज्जाका निर्माण होता है। अन्तिम अवस्था शुक्र-निर्माणकी है, जो संसारके सातत्य और प्रजाकी उत्पत्तिकी शृंखला स्थापित करता है।

ज्यों ज्यों नित्य क्षय वृद्धिकी क्रिया चलती रहती है त्यों त्यों प्रत्येक कणमें विकार होते रहते हैं। जिस तरह साधारणतया हम व्यक्तिके जन्म, वृद्धि और मरणके विकार देखते रहते हैं उसी तरह अत्यन्त सूक्ष्म परिमाणमें प्रत्येक वैयक्तिक कणकी वृद्धि-क्षय-शृंखला जारी रहती है। कणगत विकारोंका समुच्चय समस्त शरीरके विकारका रूप प्रकट करता है। यह विकार या दोष प्रमित हो सकते हैं अथवा अप्रमित। प्रमित विकारोंसे शरीरका वृद्धि-क्षय-क्रम सामंजस्यसे चलता रहता है और यदि कभी आदर्शरीत्या सभी विकार प्रमित रूपसे होते रहें तो मनुष्यका जीवन व्याधि और जरारहित चिरकाल-तक बना रहे, परन्तु प्रायः सभी वैज्ञानिकोंका मत है और विकासवादकी तो भित्ति ही इस सिद्धांतपर अवलम्बित है कि जिस तरह कण-समुच्चय इस शरीर ब्रह्माण्डमें इसकी उन्नति या सुधारके लिये विकार उत्पन्न करते रहते हैं और अपने कर्त्तव्य-पालनमें नष्ट होते रहते हैं एवं उनकी जगह उनसे अच्छे कणों-का उत्पादन होता रहता है, ठीक उसी प्रकार इस सम्पूर्ण जगतके हम सभी एक एक कण हैं जो इसके विकास-समुच्चय-

के लिये मरते और जन्मते रहते हैं। यदि नित्य नये विकार न हों तो अवश्य ही विकासकी गाड़ी रुक जाय और संसार तमो-गुणमें आवृत हो जाय एवं कल्पांत हो जाय। इसीलिये शुद्ध प्रमित विकारोंका ही होता रहना आदर्श और कल्पनामात्र है। अप्रमित विकार अनिवार्य हैं अतः जन्म व्याधि जरा मृत्यु इन चारोंका होना प्रत्येक प्राणीके लिये अनिवार्य ही है।

इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि अनिवार्य ही हैं तो क्या उनके दूर करनेका उद्योग निष्फल नहीं है और इनके पीछे चिन्तित रहना मूर्खता नहीं है? इसमें संदेह नहीं कि चिन्तित रहना अनावश्यक है,परन्तु आदर्श-के लिये उद्योगशील रहना अपने वर्तमान शरीरके लिये चाहे नितान्त निष्फल भी हो जाय, परन्तु संपूर्ण विश्वके शरीरके लिये कदापि निष्फल नहीं हो सकता, उसी तरह जैसे कणोंका उद्योगसमुच्चय हमारे शरीरके लिये निष्फल नहीं जाता।

आदर्श स्वास्थ्यके स्थापित करने वा उसकी रक्षा करनेमें यद्यपि हम सफलमनोरथ नहीं हो सकते, तथापि अपने शरीरकी अवस्था पहलेसे अच्छी अवश्य बना सकते हैं। "धर्मार्थकाम-मोक्षाणामारोग्यं मूल कारणम्।" संसारके अभ्युदय और प्राणीके निःश्रेयसकी सिद्धिके लिये नीरोग शरीर एक अमूल्य साधन है।

अप्रमित विकारोंसे शरीरकी प्रमित दशामें एक प्रकारकी अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है और उसकी प्रमित विकारवाली

शक्तियां अप्रमित विकारोंके कारणोंको दूर करनेमें लग जाती हैं। शरीरका प्रत्येक कण इस कार्यमें स्वभावका सहायक होता है। प्रत्युत यह कहना अधिक समीचीन होगा कि कण-समुच्चयका यह रक्षाकर्म ही स्वभाव या प्रकृति कहलाता है। पाश्चात्य विद्वानोंने अप्रमित विकारों वा रोगोंका कारण वाह्य कणोंको बताया है जो श्वासोच्छ्वास भोजन पान परिस्थिति आघात अथवा संक्षेपमें "बाह्य-विषय-संग" वा मात्रास्पर्शके कारण शरीरके भीतर आ जाते हैं। सभी बाह्य कण शरीरमें रोग उत्पन्न करनेवाले नहीं होते। अनेक केवल क्षणिक यात्रीकी तरह आते और चले जाते हैं और कुछ कभी कभी शत्रु, दस्यु वा विषके रूपमें भी आते हैं, जिनसे रक्षाकी आवश्यकता होती है। इन्हींको रोगाणु वा रोगजनक कण कहा गया है। इनमें भी अनेक आक्रमणकारी सहज ही रक्षकोंके द्वारा नष्ट होते रहते हैं, परन्तु कभी कभी वैरी प्रबल हो जाते हैं और रक्षक निर्बल, जिससे रोगमें वृद्धि हो जाती है। ऐसी दशामें अपने रक्षकोंको बलवान बनानेके लिये और भक्षकोंको नष्ट करनेके लिये प्राणी वाह्योपचारद्वारा स्वभावको सहायता पहुँचाता है। यह संभव है कि उसके अज्ञानसे यह उपचार रक्षकोंको बल देनेके बदले रक्षक और भक्षक दोनोंको स्तब्ध कर दे। परन्तु उपचारका उद्देश अवश्य ही रक्षकोंकी सहायतामात्र है। संक्षेपमें पाश्चात्य विद्वानोंका उपचार-सिद्धान्त यही है। उनका यह सिद्धान्त यद्यपि मूलरूपेण बहुत चमत्कारिक सा लगता है

तथापि रोगके मूल कारणका उलझन इससे नहीं सुलझता।

अपने यहांका सीधासादा कारण 'जायन्ते विविधा रोगाः प्रायशोमल सञ्चयात्' फिर भी अधिक सन्तोषजनक है। शरीरके सारे संस्थान अन्नपान आदिसे विसर्जित मलोंको एवं शरीरके मृत कणोंको दूर करनेका बराबर उद्योग करते रहते हैं। इसी उद्योगका फल (१) उच्छ्वास है, जो न केवल नासिकाद्वारा निकलता रहता है प्रत्युत कितने अंशतक रोमकूपोंसे भी यही कार्य होता रहता है, (२) प्रस्वेद, जो समस्त शरीरके रोम-कूपोंसे द्रव वा वायव्य रूपमें निकलता ही रहता है, (३) विष्ठा, (४) मूत्र, (५) थूक कफ, (६) अश्रु और कभी कभी (७) सत्राद पीव आदि और निरन्तर, (८) नख, (९) केश, (१०) खून आदि और (११) स्त्रियोंमें आर्त्तव। इन मलोंके संचयसे विविध रोग उत्पन्न होते हैं।

स्वभाव सातों धातुओंको शुद्ध रखनेमें बराबर यत्नशील रहता है। यदि किसी प्रकारका मल शरीरमें संचित न हो तो रोग न उत्पन्न हो। परन्तु विविध अंशोंके व्यापारोंमें थोड़ा सा भी व्यतिरेक पड़ जानेसे मल-संचय हो ही जाता है। मल-त्याग करनेकी इच्छा होनेपर थोड़ी देर हो जानेमें आंतोंके भीतर मल-का द्रवांश शरीरमें समाने लग जाता है और उसके साथ साथ अनेक विसर्जनीय विष शरीरमें समाकर रोग उत्पन्न करते हैं। यह तो एक मलका उदाहरण हुआ। जितने मल हम गिना आये हैं, सभी शरीरके भीतर समानेपर रोगके कारण हो सकते

हैं। अतः मलसंचयसे बचना आरोग्यका एक मुख्य उपाय है। इसी मलका नाम अनेक पाश्चात्य प्राकृतिक चिकित्सकोंने "Foreign Matter" या विजातीय पदार्थ रखा है।

(१०) रोगके दो रूप

मलिन मल यदि स्वभावद्वारा अपने स्वाभाविक मार्गोंसे अबेर सबेर निकलता जाय तो कष्ट कम होता है, परन्तु यदि अस्वाभाविक मार्गोंसे प्रकृति एकाएकी निकालनेका उद्योग करती है तो शरीरमें यह उद्योग किसी तीव्र लघुकालिक रोगका रूप धारण करता है और जब शरीरके व्यापार इतने निर्बल हो जाते हैं कि सारा कूड़ा तुरन्त ही निकाला नहीं जा सकता तो प्रकृति यद्यपि अस्वाभाविक मार्गोंसे मलत्याग करनेके लिये लाचार होती है तथापि अत्यन्त धीरे धीरे बहुत कालमें जीर्ण और पुरातन रोगके रूपमें इस मलिन मलको दूर करती है। स्वभावको इस कार्यमें सहायता देनेके लिये ही सब उपचार किये जाते हैं।

दूसरा अध्याय
रोग-मीमांसा

(१) रोगके कारण

जैसा कि हम पहले अध्यायमें दिखा आये हैं, रोग चाहे किसी दशामें हों, किसी रूपमें हों वा बाह्याघातजन्य हों, सभी एक अप्रमित विकारके रूपान्तर हैं। रोग-मीमांसाके विषयको स्वतन्त्र रूपसे विचार-क्षेत्रमें लानेके लिये हमें यह कल्पना कर लेना चाहिये कि यह शरीर अनेक संस्थान-चक्रोंसे निर्मित एक विचित्र यंत्र है जो बहुत कालतक चलते रहनेके लिये शक्ति-सम्पन्न किया गया है, जैसे घड़ी कूक देनेसे दी हुई शक्तिके अनुसार परिमित कालतक चलती रहती है, उसी तरह शरीर भी एक परिमित प्राणशक्तिके द्वारा परिमित कालतक चलता रहता है। हम यह समझ चुके हैं कि शरीरके भीतर जन्मसे मरण-पर्यन्त प्रतिक्षण विकारोंका होता रहना अनिवार्य है। जिस शक्तिके द्वारा निरन्तर यह विकार होते रहते हैं उसे हमारे शास्त्र-कारोंने जीव, जीवन या प्राणशक्ति कहा है। इस प्राणशक्तिका ह्रास होना भी शरीरमें अप्रमित विकार उत्पन्न कर सकता है। स्थूल शरीरके रोगी होने वा अल्पमृत्युके तीन मुख्य कारण समझे जाने चाहिये।

१—प्राणशक्तिका ह्रास। नाड़ी दौर्बल्य वा वात दोष

२—रसोंमें और रक्तमें अप्रमित विकार। पित्त दोष

३—मलों और विषोंका संचय। कफ दोष

यह तीनों कारण हमारे शरीरमें इसलिये उपस्थित होते हैं कि हम सांस लेनेमें, खाने पहिननेमें, काममें, आराममें एवं सामाजिक और वैयक्तिक आचारमें, पारिवारिक प्रसङ्गमें और अपने विचारमें बहुधा स्वभावविरुद्ध आचरण करते हैं। इस विरुद्धाचारके अतिरिक्त बाह्य प्रहारसे चोट लगना, बुढ़ापेका आना, निमित्तकी प्रतिकूलता आदि अवैयक्तिक कारण भी हो सकते हैं। इन कारणोंका स्पष्ट रूपसे दिग्दर्शन निम्नलिखित सारिणीसे हो सकता है।

हमारे आचार और विचारमें अस्वाभाविकतासे उपजे रोगोंके मुख्य और गौण हेतु—

मुख्य हेतु	गौण हेतु
१—प्राण-शक्तिका ह्रास, जो अति श्रम, रात्रिश्रम, अतिप्रसङ्ग, अतिपान, विषोपचार और अनुचित शल्यचिकित्सासे और पूर्व संस्कारसे भी हो सकता है—वात दोष	१—वंशानुगत या शरीरस्थ, गठिया, कण्ठमाला, खुजली, गर्मी आदिके बीज और अथवा पारा कुनैन, तेल वा इसी तरहके अन्य विषोंके चिरकालतक सेवनका फल।
२—रसोंका और रक्तका	२—ज्वर, शोथ, दाने

अप्रमित विकार अनिष्ट भोजनके कारण और विशेष रूपसे अन्नगत लवणोंके अभावसे—

पित्त दोष

२—मलों और विषोंका सञ्चय जो उपर्युक्त पहले और दूसरे मुख्य कारणोंसे हो सकता है। साथ ही अहित भोजन, अमित भोजन (मादक पदार्थोंका सेवन) अनुचित औषधों और विषोंका सेवन भी, आकस्मिक विषका प्रभाव, तीव्र अल्पकालिक रोगोंका दब जाना, अहित शल्यचिकित्सा भी एक कारण हो सकती है—

कफ दोष

श्लैष्मिक विकार, व्रण, फोड़े कृमि रोगाणुओं और परसत्वादोंसे।

३—बाहरी चोटसे हड्डियोंका, मांसपेशियोंका और बंधनोंका मोच खाना, ढीला हो जाना, उखड़ जाना, इत्यादि। बुद्धि, संकल्पशक्ति और आत्मसंयमका ह्रास और नाश जिससे कि अत्यन्त वातप्रकोप हो सकता है। उन्माद अपस्मार एवं इन रोगोंके विविध रूप इन्हीं कारणोंसे दिखाई पड़ते हैं। प्रेतबाधा, नजर लगना अथवा मारण, मोहन, उच्चाटन आदिके प्रयोग भी ऐसी दशामें हो सकते हैं।

(२) रोग और उपचारकी एकता

हम ऊपर रोगके जो तीन मुख्य कारणोंका उल्लेख कर आये हैं, उनके विचारसे पीड़ा दूर करने और रोगनिवारणके स्वाभाविक उपायोंका संकलन इस प्रकार हो सकता है—

स्वाभाविक उपचार

१—जीवनको स्वभावके अनुकूल बनाना अथवा अपना रहन-सहन और अपनी परिस्थितिको प्रमित और प्रकृत अवस्थामें रखना, वह भी इन उपायोंसे

क—सुबोध साधारण वैयक्तिक शिक्षाद्वारा मानसिक विकास।

ख—चित्तकी एकाग्रता, संकल्पकी दृढ़ता और आत्म-संयमका निरन्तर अभ्यास।

ग—विचारमें, सांसमें, आहारमें, परिधानमें, कर्मचेष्टामें, स्वप्नमें, विहारमें एवं सामाजिक, नैतिक और पारिवारिक आचारमें पूर्ण स्वाभाविक रीतिसे रहना। "अति"से बचे रहना।

घ—मालिशसे, हड्डीके बैठानेसे, उचित शल्य-चिकित्सासे और आवश्यक यंत्रोंके व्यवहारसे वाहरी चोट अथवा अन्य बाह्य-दोषोंका निराकरण।

२—प्राण-शक्तिका मितव्यवहार जिसमें नीचे लिखी बातें आवश्यक होंगी—

क—प्राण-शक्तिके अपव्यय वा क्षयके द्वारोंको रोकना।

ख—विहित रीतिसे अंग-प्रत्यंगको आराम देना और निद्रा।

ग—हित, मित और उचित आहार एवं मानसिक चिकित्सा।

घ—मनकी सात्विक वृत्ति ।

३—मलविसर्जन, जहाँ मल शब्दमें हानिकारक विष भी सन्निविष्ट है । इसमें निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं:—

क—भोजन और पानका ठीक ठीक समाहार और विहित रीतिसे उनका चुनाव ।

ख—उचित और लाभदायक व्रत और उपवास ।

ग—जल-चिकित्सा ।

घ—वायु और प्रकाशसे लाभ, उभय स्नान और घर्षण ।

ङ—अस्थि और मांसपेशियोंकी मालिश एवं आनुषंगिक व्यायाम ।

च—प्राणायाम और आनुषंगिक क्रियायें ।

छ—ऐसी ओषधियोंका प्रयोग, जिनसे रक्तके शोधनमें और प्रमितीकरणमें सहायता मिले और शरीरको सुपाच्य रूपमें आवश्यक लवणमय पदार्थ मिल जायँ ।

उपर्युक्त दोनों सारिणियोंसे प्रस्तुत अध्यायमें हमारे विषय-क्रमका पता लग जायगा । जिस तरह हमारी यह धारणा है कि रोग एक ही है और उसकी चिकित्सा भी एक ही हो सकती है, उसी तरहसे हम आगे चलकर यह दिखायेंगे कि रोगमात्रके पहली सारिणीके अनुसार जैसे तीन कारण हैं वैसे ही रोगके निराकरणके लिये भी तीन उपाय हैं, जो भरसक स्वभावके अनुकूल हैं । हम कारणोंका पहले अलग अलग वर्णन करेंगे ।

(३) प्राण-शक्तिका ह्रास

यह साधारण विश्वास है कि हमारा जीवन गिने हुए श्वास और उच्छ्वासोंपर निर्भर है। यह शरीर-यंत्र एक घड़ी है, जिसके पुर्जोंमें पूरा सामञ्जस्य करके जगह जगहपर उचित रीतिसे बिठाकर और उचित स्थानोंपर तेल देकर जगन्नियंताने कमानी कस दी है। कमानीमें कूकनेवालेने शक्ति भर दी है। इस शक्तिका सदुपयोग और दुरुपयोग करना कुछ तो हमारे हाथमें है और कुछ परिस्थितिके। हामियोपैथीका आचार्य हानिमान कहता है कि शरीर और मनसे प्राण शक्ति एक भिन्न पदार्थ है। हमारे दर्शनोंके अनुसार स्थूल और सूक्ष्म शरीर, जिसके अन्तर्गत मन भी एक इन्द्रिय है, जीवन-शक्तिके सहारे बँधे हुए हैं—

> अपरेयमितस्त्वन्यांप्रकृतिं विद्धिमेपराम्
>
> जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत्

जीवन-शक्ति या प्राण-शक्ति अखिल जगतमें विस्तृत और प्रसृत है। यही जगद्धात्री है। इसी शक्तिसे जीवमात्रकी स्थिति है। खनिज, वनस्पति, पशु, मनुष्य, चराचर इसी शक्तिके सहारे जीते हैं और सबके लिये जीवन-कालकी जो मर्यादा रखी गयी है, वह प्राकृतिक है। किन्तु इस मर्यादाके भीतर घटने बढ़नेकी भी गुंजाइश है। प्राणी इस मर्यादाके भीतर रहते हुए भी अपने जीवनको घटा या बढ़ा सकता है। यह तो साधारण प्राणियोंकी

बात हुई। इस शक्तिको अपने वशमें करनेवाला योगीश्वर मर्यादासे बाहर भी अपनी जीवन-शक्तिको स्थिर रख सकता है। परन्तु हमें यहां योग-साधनोंपर विचार करना नहीं है। सामान्यतः यह बात देखी जाती है कि जन्मसे लेकर प्रौढ़ावस्थातक पहुँचनेमें जितना अधिक समय लगता है, उतना ही अधिक प्राणीके जीवन-कालका विस्तार होता है। मृत्युके लिये सच पूछिये तो कोई काल निश्चित नहीं है और साधारणतया अकालमृत्यु शब्दसे अल्प-मृत्यु ही बोध होता है। अल्प-मृत्युका कारण पूर्व-जन्मके संस्कार, जनक-जननीके दोष और परिस्थिति, यह तीन ही हुआ करते हैं। बच्चोंको गर्भमें ही रोगी होते पाया गया है और सौमें पचहत्तर बच्चोंका स्वास्थ्य, जो पाठशालाओंमें पढ़ते हैं, प्रायः संतोषजनक नहीं होता। पूर्ण स्वास्थ्य जिसे कहते हैं, वह केवल एक आदर्श है। एक कल्पनामात्र है। परन्तु यह वह आदर्श है जिसपर पहुँचनेके उद्योगमें मनुष्यमात्रका लाभ है और यह वह कल्पना है जो हमें उन्नतिके मार्गमें बराबर अग्रसर रखती है।

प्रकृतिकी रचना विकासमय है और विकासके साथ साथ विकारका होता रहना अवश्यम्भावी है। वायुकी तरंगोंकी तरह विकास-तरंगें आगे पीछे दोनों ओरकी गति दिखाती हुई उन्नतिकी ओर ही प्रवृत्त हैं। जहां नीचेकी ओर कोई अणु जाता है, स्वभाव उसे फेरकर फिर ऊंचे चढ़ानेकी चेष्टा करता है। यही नीचेकी ओरकी गति हमारे स्वभावमें अप्रमित विकारका रूप

ग्रहण करती है और सुखी रहने और दीर्घायु होनेकी इच्छा हमें इन विकारोंसे बचनेकी ओर प्रवृत्त करती है। हम इस तरह अपनी प्राण-शक्तिकी सहायता करनेमें अग्रसर होते हैं।

पाश्चात्य देशोंमें आजकल "सुप्रजन" नामक विज्ञानका प्रचार हो रहा है। हमारे यहां वैदिक युगोंसे आजतक संस्कारकी रीतियां और तत्संबंधी उपदेश व्यावहारिक सुप्रजन विज्ञान है। पाश्चात्य देशोंमें नये ढंगसे आन्दोलन आरंभ हुआ है। हमारे यहां लोग संस्कारोंको भूल गये हैं। प्राण नहीं है। शरीर रह गया है। संस्कारोंके वास्तविक तत्त्वपर ध्यान देकर यदि लोगोंकी उस ओर अधिक प्रवृत्ति हो जाय और संस्कार केवल रस्म न समझे जायँ वरन् वास्तविक आचारके नियम समझकर बरते जायं तो अच्छी प्रजाकी उत्पत्तिमें कठिनाई न हो और अल्पमृत्यु सुननेमें न आये।

हम पहले दिखा आये हैं कि मनुष्यका साढ़े तीन हाथका शरीर अणु-वीक्षणसे भी दुर्दृश्य जीवाणुओंका बना हुआ है और हमारी प्राण-शक्ति इन जीवाणुओंकी प्राण-शक्तिके ऊपर अपना संयम रखती है और उन्हें अपने अनुकूल चलाती रहती है। हमारी प्राण-शक्तिका जब ह्रास होता है, इस संयमके कामको वह पूर्णतया नहीं संपादन कर सकती। साधारणतया बुढ़ापेके आने और जीवनकी अंतिम मर्यादातक पहुँचनेके समय तो प्राण-शक्तिका ह्रास होता ही है, किन्तु बाहरी आघातसे अथवा अपने रहन-सहन, आहार-विहारमें उद्दंडता करनेसे भी

प्राण-शक्तिका ह्रास हो जाता है और उत्कट और तीव्र रोगका रूप धारण करके यदि प्राण-शक्ति कारणके निवारणमें समर्थ न हुई तो अल्प-मृत्यु अवश्य हो जाती है।

(४) रक्त और रसोंमें अप्रमित विकार

मानव-शरीर रसायन-शास्त्रके अनुसार लगभग १७ मूल पदार्थोंके उचित मात्रामें सुव्यवस्थित होनेसे बना है। शरीरका ढांचा, मांसपेशियां, नाड़ी, स्नायु एवं तन्तु आदि नालियां और मार्ग और शरीरके अंग-प्रत्यंग इन्हीं सत्रहोंके यथावसर यथेष्ट परिमाणमें रहनेपर ही निर्भर हैं। जीवाणुओंसे लेकर शरीरके बड़े छोटे सभी अंग रक्त और रसोंके प्रवाहसे पलते रहते हैं। प्रत्येक जीवाणु और प्रत्येक अंग अपनी वृद्धि और स्थितिके लिये भोजन लेता रहता है और प्रत्येकके निरंतर क्षय होते रहनेसे मलका भी विसर्जन होता रहता है। आभ्यन्तरिक कारणोंसे हमारे शरीरमें जो रोग उत्पन्न होते हैं उनमें यह भी देखा जाता है कि रक्तमें और तन्तुओंमें कुछ मुख्य मूल पदार्थोंमें अवश्य कमी हो गयी है। इसमें जरा भी संदेह नहीं कि इसका भी कारण अहित और अमित आहार-विहार ही है, जिससे अत्यधिक मल और विष उत्पन्न होते हैं, जिन्हें निकालनेके लिये असाधारण उद्योगकी आवश्यकता होती है। साथ ही जो पदार्थ क्षय होकर निकल गये हैं, उनकी पूर्ति भी नहीं हो पाती; क्योंकि पहले तो अहिताहारमें आवश्यक मूल पदार्थोंका अभाव

भी हो सकता है, दूसरे जो मूल पदार्थ मौजूद भी हैं प्राण-शक्ति उन्हें खींचनेमें समर्थ नहीं होती, क्योंकि उसका अधिकांश बल अत्यधिक मल और विषोंको दूर करनेमें लग जाता है। उपवासके प्रकरणमें इस प्रसंगकी हम अधिक व्याख्या करेंगे।

(५) मलों और विषोंका संचय

ऊपर जो कुछ हम कह आये हैं उससे सहज ही बोध हो जायगा कि जीवन-शक्तिका ह्रास और रक्त और रसोंके विकारका कारण मल-संचय भी होता है। परन्तु पूर्व दोनों कारणोंका मल-संचयके साथ अन्योन्याश्रय संबंध है। प्राण-शक्तिके ह्राससे और रक्त और रसोंके बिगड़ जानेसे मल और विषके दूर करनेमें भी कठिनाई पड़ती है। इस कठिनाईके होते हुए भी मनुष्य प्रायः अपने आहार-विहारको मित और हित करनेकी चेष्टा नहीं करता। नित्य नये मल और विषका संचय करता जाता है, जिससे तीव्र और जीर्ण दोनों प्रकारके रोगोंका घर हो जाता है। यह तो हुई भीतरी मल और विषकी बात। रोग होनेपर ठीक कारणके निराकरणके बदले रोगी ऊपरसे अत्यंत उग्र औषधियां सेवन करने लगता है, जिससे कई बाहरी विष भी शरीरमें पंहुचकर विषकी मात्राको बढ़ा देते हैं। यह तो नित्यकी बात है कि रोगी पीड़ासे घबड़ा कर चिकित्सकसे कहता है कि मुझे कोई तेज दवा दीजिये और बहुधा पीड़ाकी उग्रता उसे विष खा लेने या आत्म-हत्या कर लेनेको भी प्रवृत्त करती है।

"कुपथ मांगु रुज व्याकुल रोगी ।
वैद्य न देइ सुनहु मुनि योगी ॥"

रोगसे व्याकुल मनुष्यको चतुर चिकित्सक उग्र औषधि नहीं देते। परन्तु चतुर हैं कितने ?

रोगीके मनोविकार भी प्रायः उसका रोग बढ़ा देते हैं। भय, चिन्ता, शोक, क्रोध आदि स्नायुके मार्गको रोक देते हैं, तन्तुओंको बिगाड़ देते हैं, प्राण-शक्तिकी क्रियामें बाधक होते हैं और मल-विसर्जनमें रुकावट डालते हैं। अधीरता, क्रोध और चिड़चिड़ेपनसे ज्वर बढ़ जाता है और स्वभावके सभी रोग-निवारक कामोंमें बाधा पड़ जाती है। शरीरमें मनोभावोंका वेग रोगके ऊपर इष्ट या अनिष्ट प्रभाव डालनेमें कितना समर्थ है, इसका अनुमान बहुत कम चिकित्सकोंको होता है। मानसिक चिकित्सा करनेवाले केवल कल्पना-शक्तिसे और रोगीके मनमें दृढ़ विश्वास उत्पन्न करके अनेक रोग अच्छे कर देते हैं। इन चिकित्सकोंका दावा तो यह है कि कोई रोग ऐसा नहीं जो मानसिक बलद्वारा अच्छा न किया जा सके। किन्तु इसमें तो तनिक संदेह नहीं कि "विश्वासो फलदायकः" वाली कहावत चिकित्सामें जितनी चरितार्थ होती है, उतनी कहीं नहीं। मनोविकार रोगोपचारमें जैसे लाभ-दायक हो सकते हैं, उसी तरह मनोविकारोंका रोगके बढ़ानेमें भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है।

---

(६) गौण हेतु

हम मुख्य हेतुओंपर विचार करके अब कुछ गौण हेतुओंका वर्णन करेंगे। प्राचीन कालसे संस्कारोंकी जो रीतियां हममें चली आयी हैं, हमारे देशके मनुष्य-समाजने समयके फेरसे उन्हें इतना बिसार दिया कि आज यदि हम कहें कि सारे समाजमें संस्कारोंका यथावत पंजर भी शेष नहीं रहा है तो अनुचित न होगा। अच्छी संतान उत्पन्न करनेके लिये संस्कारके जिस वास्तविक प्राणकी आवश्यकता थी, वह समाजके दौर्बल्यसे उसके शरीरसे निकल गया। इसीलिये हमारी सन्तान रोगी, दोषी और कम प्राण-शक्तिवाली होती है। गर्भाधानके समयसे ही रज और वीर्यमें माता-पिताके दोषोंका बीज पनपने लगता है और जो नया शरीर बनने लगता है, उसमें कर्मानुसार ऐसे जीवका प्रवेश होता है जो अपने पूर्वसंस्कारोंके कारण उस विशेष देशकाल और निमित्तके लिये उपयुक्त होते हैं। इस तरह हमारे पूर्वजीवनोंके और पूर्वसमाजोंके कर्म दिनपर दिन अधोगतिके कारण हो रहे हैं। इसका यह मतलब नहीं कि हम अपने कर्म ठोंक, हाथपर हाथ धर, बैठ जायँ। यह हकीकतमें हमारे कर्मों और संस्कारोंका तकाजा है कि हम तपस्या और सदाचारसे अपने भावी जीवन या जीवनोंको ऊंचा बनावें और निष्प्राण संस्कारोंमें प्राण डाल दें।

माता-पिताके अथवा उनके पूर्वजोंके बहुतेरे रोग और शारीरिक दोष संतानमें आ जाते हैं। यह जीव-विज्ञानसे सिद्ध है। कुछ

दोष निवार्य हैं और कुछ अनिवार्य। जिस अंगका जन्म कालमें ही अभाव होता है, उसकी पूर्ति पीछे नहीं हो सकती। जन्मका लंगड़ा, अंधा, लुंजा, काना अच्छा नहीं किया जा सकता। परंतु शरीरके अंग-प्रत्यंगोंके पूर्ण होते हुए भी उनमें पहलेका मल और विष संचित रहता है, इसे उपाय करके दूर कर सकते हैं। कंठमाला, खुजली, गर्मी आदि जो ऊपरी शरीर-तलपर उग्र रूप धारण करते हैं, वह केवल विष-विसर्जनका उपाय है। किन्तु साथ ही इस बातकी सूचना है कि शरीरके भीतर इस जातिके विष मौजूद हैं, जिनके निकालनेके लिये स्वभावने शरीर-रचनाके समयसे ही उद्योग कर रखा है। इसीलिये चिकित्सक यदि प्रकृतिकी सहायता यथेष्ट रीतिसे कर सके तो यह आवश्यक नहीं है कि निराकरणीय दोष जीवनभर बने रह जायँ। अमेरिकामें, जहां स्वाभाविक चिकित्साका थोड़ा-बहुत प्रचार हो गया है, अनेक बच्चोंका जीवन स्वाभाविक रीतिसे पालन-पोषणद्वारा निर्दोष बनाया जा रहा है।

गौण हेतुओंमें दूसरा नम्बर कीटाणुओं, जीवाणुओं, परस-स्वादोंका आता है। साथ ही ज्वर, शोथ, दाने, आँव, कफ, थूक, व्रण, फोड़े-फुंसियां आदि भी सम्मिलित हैं। जीवाणु-विज्ञान आजकल एक स्वतन्त्र वर्धमान शास्त्र हो गया है। जीवाणु-विज्ञानियोंने उत्तमसे उत्तम अणु-वीक्षण यंत्रोंका प्रयोग करके जीवमूलकी तलाश की और यह सिद्धांत निकाला कि जिस तरह प्रत्येक भौतिक पदार्थ परमाणुओंका बना हुआ है, उसी

प्रकार प्रत्येक प्राणी जीवाणुओंसे बना है। प्रत्येक जीवाणु भौतिक मूल पदार्थोंसे निर्मित अणुरूप शरीर है, जिसमें आहार और मल-त्याग एवम् जनन-शक्ति है। उन्होंने यह भी देखा कि जहां कहीं कोई शरीर रोगी होता है, वहां विशेष प्रकारके जीवाणुओंका जमघट पाया जाता है। इससे यह अनुमान किया गया कि यही रोगविशेषके कारण होंगे। यदि इन्हें विषोंके प्रयोगसे नष्ट कर डाला जाय तो अवश्य ही रोग नष्ट हो जायँगे। उन्होंने विषोंके प्रयोग किये। जीवाणु नष्ट हुए। रोगके वाह्य लक्षण भी दूर हो गये। यह प्रतीत हुआ कि हमने रोगपर विजय पायी। परन्तु वस्तुतः क्या हुआ? उस रोगके मूल कारणने बाहर निकलनेका एक द्वार बन्द पाया और फिर शरीरके भीतर फैलकर जीर्णरूपमें धीरे धीरे प्रकट हुआ। उपदंश रोगमें पारेकी दवायें देकर उसके जीवाणु नष्ट तो किये गये परंतु रोगका मुख्य हेतु, रोगका विष, शरीरसे बाहर तो न हो पाया बल्कि पारेका विष और ऊपरसे शरीरमें डाल दिया गया। अब प्रकृतिको और प्राण-शक्तिको एकके बदले दो विषोंको निकाल बाहर करनेकी चिन्ता हुई, और वह भांति भांतिके उपाय करने लगी, जिन्हें चिकित्सकोंने भिन्न भिन्न नाम दिये।

"एक न एक आरजा रहा—हमको
थम गये दस्त तो बुखार आया"

विज्ञानके ले भगनेवालोंने जीवाणु-विज्ञानका चिकित्सा-शास्त्रमें एक प्रकारसे दुरुपयोग किया है। इस बातका प्रमाण

अनेक परीक्षाओंसे हुआ है। रोगका मूल कारण यदि जीवाणु होते तो जल वायु अन्न, जो कुछ हम अपने शरीरके भीतर ले जाते हैं, सबमें असंख्य जीवाणु रहते हैं जो सैकड़ों प्रकारके रोग उत्पन्न कर सकते हैं, परंतु उनसे यदि रोग फैलता होता तो संसारका कभी सर्वनाश हो चुका होता। जब प्लेग फैला था, हजारोंकी संख्यामें लोग मरते थे। उस समयके रोगीके शुश्रूषा करनेवाले लाखों जीवित हैं, जिन्हें उस समय ज्वर भी नहीं आया और जिन्होंने प्लेगकी टीका भी नहीं लगवायी। साथ ही यह भी विचारनेकी बात है कि जो लोग प्लेगकी टीका लगवाते थे, छ महीनेसे अधिक प्लेगके आक्रमणसे सुरक्षित नहीं समझे जाते थे। यह तो साधारण अनुभवकी बात है। अब कुछ वैज्ञानिक परीक्षाओंकी बात सुनिये। युरोपके वीनां विश्व-विद्यालयके प्रोफेसर और बड़े प्रसिद्ध चिकित्सक एवं खोजी डाक्टर पेटनकोफरकी यह धारणा है कि जीवाणु स्वयं रोग पैदा नहीं कर सकते। इन्होंने कई बरसतक इस विषयपर व्याख्यान दिये और लेख लिखे। यद्यपि युरोपका चिकित्सक-संसार बराबर उनके विरुद्ध रहा। एक दिन उन्होंने अपने विद्यापीठमें व्याख्यान देते हुए श्रोता-समाजको चकरा दिया। उन्होंने एक कांचका बर्तन उठाया, जिसमें हैजेके करोड़ों जीवाणु थे, और वह विद्यार्थियोंके देखते देखते सारा घोल पी गये? देखनेमें यह परीक्षा बड़ी भयानक थी, परन्तु इससे जरा मतलीके सिवा और कुछ नहीं हुआ। ऐसा ही एक दूसरा चमत्कारिक उदा-

हरण लिन्डलारने अपनी पुस्तकमें डाकटर रोडरमन्डका दिया है। यह अमेरिकाके विस्कन्सन प्रान्तमें डाकटर थे। उन्होंने अपने डाकटर भाइयोंके सामने यह सिद्ध करनेके लिये, कि स्वस्थ शरीरमें चेचककी छूतका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, अपने सारे शरीरमें विस्फोटकोंका मवाद मल लिया। वहांके आईनके अनुसार वह पकड़कर जेलमें बन्द कर दिये गये, परन्तु गिरफ़्तारीके पहले बहुतसे आदमियोंसे स्पर्श हो चुका था तो भी विस्फोटक रोग न तो उन्हें हुआ और न किसी औरको उनकी छूतसे हुआ।

साधारण सफ़ाई, बलवती प्राण-शक्ति, शुद्ध रक्त और तन्तु, मल-विसर्जनके साधनोंका उत्तम दशामें होना और सबसे बड़ी बात मनकी निर्भयता, इन पांच बातोंके होनेसे शरीरमें बाहरसे रोगोंका आक्रमण होनेपर भी शरीरपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। और यदि किसी कमजोरीसे प्रभाव पड़ा भी तो स्वभाव स्वयं शोथ आदि उत्पन्न करके और ज्वर अतीसार आदि लाकर विषों और जीवाणुओंको निकाल बाहर करता है।

अदृश्य जीवाणुओंका भय जहां निर्मूल है, वहां यह भी याद रखना चाहिये कि कीड़े-मकोड़े, सांप-बिच्छू आदि विषैले प्राणियोंके काटने या डंसनेसे जो जीवन-हानिका भय होता है, वह भी वास्तविकतासे अत्यधिक बढ़ा हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि अनेक उग्र विषवाले प्राणी मानव-जीवनके लिये बड़े भयानक हैं, पर साथ ही यह भी देखा गया है कि युक्ताहार-

विहारसे रहनेवाले लोगोंपर ऐसे विषोंका या तो प्रभाव उग्र नहीं पड़ता या स्वभाव उनके शरीरसे उन विषोंको सहज ही निकाल बाहर करता है।

(७) सड़नेकी क्रिया और रोगाणु

जब गुड़ सड़ाकर सिरका बनाते हैं या आटेमें खमीर उठाते हैं अथवा किसी प्रकारका आंगारिक पदार्थ सड़ता है तो क्या क्रिया होती है? इस क्रियाको यदि पाठक समझ लें तो जीवाणुओंकी गौणता स्पष्ट हो जायगी। सड़ना क्या है? खानेके योग्य पदार्थ आर्द्रतायुक्त वायुके सम्पर्कमें यदि पड़े रहें और लवण तेल आदि उग्र अभोज्यों वा विषोंसे मिले न हों तो उनके खानेवाले जीवाणु वायुमेंसे भोज्य पदार्थोंमें पड़ जाते हैं और उनका वियोजन करके भोजन करते जाते हैं और साथ ही मल-विसर्जन भी करते जाते हैं। भोजन और मल-त्यागहीपर वह अपना काम पूरा नहीं करते, वह बड़े वेगसे जनन-कार्य भी करते रहते हैं। प्रतिक्षण हजारसे दो हजार, दोसे चार हजारके हिसाबसे देशकाल निमित्तके अनुसार बढ़ते जाते हैं। और ज्यों ज्यों वह बढ़ते जाते हैं, त्यों त्यों सड़नेका वेग भी बढ़ता जाता है। जबतक भोज्य पदार्थका अंत नहीं हो जाता या जबतक तेज आंच, तेज रोशनी, कृमिनाशक ओषधियां इस कार्यमें बाधा नहीं डालतीं, तबतक सड़ना जारी रहता है। हमने जो यह प्रक्रिया बतायी है सर्व-विश्वसम्मत वैज्ञानिक तथ्य है। इससे

किसीको इन्कार नहीं है। अब इसी तथ्यको लेकर शरीरके जीवाणुजनित रोगोंपर विचार कीजिये।

अँतड़ियोंके भीतर सड़नेके लिये उपर्युक्त सारे साधन प्रस्तुत हैं। आमाशयमें भोज्य पदार्थोंके साथ पहुँचकर लवणस्नेह आदि अधिकांश वियुक्त हो जाते हैं और अँतड़ियोंमें सबसे अधिक अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है और जीवाणुओं-की समस्त क्रियायें चलती रहती हैं। सांससे जो वायु हम भीतर ले जाते हैं, जो अन्न और जल हमारे शरीरके भीतर पहुँ-चते हैं, जीवाणुओंसे कोई खाली नहीं। प्रत्युत यदि हम चाहें कि अन्न जल साँसमें एक भी जीवाणु शरीरके भीतर न जाने पावे तो पहले तो यह एक असाध्य बात है, दूसरे यदि किसी तरहसे हमने इसे साध्य कर लिया तो हमारा जीवन ही असंभव हो जायगा, इसीलिये ठीक जैसे हमारे शरीरके भीतर रोग उत्पन्न करनेवाले शत्रु जीवाणु जाते हैं, उसी तरह स्वास्थ्य और जीवन शक्तिके सहायक जीवाणुओंकी संख्या प्रायः शत्रुओंकी अपेक्षा अत्यधिक होती है। शरीरके भीतर मल-विसर्जनके साध-नोंमें जीवाणुओंकी क्रिया भी एक साधन है। भोजनके जिन अंशोंको शरीर रस बनाकर काममें नहीं ला सकता, उन अंशोंको बाहर निकालनेमें इन जीवाणुओंसे विश्लेषकका काम लेता है। जीवाणु ही मल-विभाग करते हैं। किसी परिस्थितिविशेषसे, जिसका कारण मनुष्यकी उपेक्षा हो सकती है, जब जीवाणु मल-विसर्जनमें समर्थ नहीं होते, तब यही मल या तो विषका रूप

धारण करता है अथवा मलसे ये जीवाणु विष बनाते हैं जो अपनी उग्रताके कारण शरीरमें शोथादि अनेक उग्र विकार उत्पन्न करते हैं और उन्हींके मार्गसे दूर हो जाते हैं।

जिस तरह खमीरके जीवाणु शकरको खाते भी हैं और सड़ाते भी हैं, उसी तरह रोगके जीवाणु मलको खाते भी हैं और सड़ाते भी हैं। जिस तरह खमीरके जीवाणु खमीरसे ही अपनी सन्तान बढ़ाते हैं, उसी तरह रोगके जीवाणु भी मलसे ही अपनी सन्तति बढ़ाते हैं। इस बातसे स्पष्ट है कि रोगाणु रोगोंके कारण भी हैं और कार्य्य भी। साथ ही शरीरको मृत्युकी जोखिमसे बचानेके लिये स्वभाव शोथ उत्पन्न करता है और विषोंका मारक बनाता है।

स्वभाविक उपचार उन सभी उपायोंका नाम है, जिनसे (१) रक्त शुद्ध रीतिसे बनता है, (२) मलका पूरा परित्याग होता है, (३) नाशक रोगाणुओंकी क्रिया सीमासे बाहर नहीं जाने पाती और (४) प्राण-शक्तिका ह्रास नहीं होने पाता।

यद्यपि रोगाणुओंसे वा जीवाणुओंसे हम सर्वथा असंपृक्त नहीं रह सकते, तथापि हमारा कदापि यह तात्पर्य्य नहीं है कि मनुष्य शौचाचारकी परवा न करे। विशुद्ध शौचाचार, पूरी सफाई, छूतसे परहेज़ आवश्यक बातें हैं, जिनकी चर्चा हम अन्यत्र कर चुके हैं और जिन्हें हम दीर्घायु और सुखी जीवनके आवश्यक अंग बता चुके हैं।

---

(८) दबाना और उभारना

सारे संसारके चिकित्सक दो प्रकारकी चिकित्सा करते हैं। किसी अवस्थामें रोगको दबाते हैं और किसीमें उभारते हैं। साधारणतः यह समझा जाता है कि वमन, विरेचन आदि-के द्वारा रोग उभारकर दूर किये जाते हैं। शोथ, ज्वर आदिको ओषधिके द्वारा बहुधा दबा देनेका उद्योग करते हैं। परन्तु वमन विरेचनादि उत्पन्न करनेवाली ओषधियां अधिकांश उलटा प्रभाव रखती हैं। पहले विरेचन होता है, परन्तु शीघ्र ही बद्धकोष्ठ हो जाता है। कब्ज स्वयं रोगके दबानेका कारण हो जाता है। तीव्र और नवीन रोगोंकी चिकित्सामें साधारणतः बैठानेवाली ओषधियां ही सेवन कराते हैं। किसी विशेष अंगके फोड़ेको, जिसके चीरफाड़में जोखिम होता है, बैठानेका ही उपचार करते हैं। हम यह अन्यत्र बता चुके हैं कि फोड़ा विषम विषके निका-लनेके लिये प्रकृतिकी नये सिरेसे बनायी हुई गली है। यदि शरीरमें प्राणशक्तिकी नितान्त कमी है तो इस गलीकी तय्यारीमें या इसके मार्गसे विषके निकालनेके उद्योगमें मृत्यु हो सकती है। परन्तु मृत्युका कारण इस दशामें भी प्राणशक्तिका दौर्बल्य ही हुआ। डाक्टरी वा पाश्चात्य चिकित्साप्रणालीमें तो त्वचाके रोग प्रायः दबा दिये जाते हैं, सरदी, जुकाम, ज्वर, रोक दिये जाते हैं, जिससे उभरता और शरीरसे बाहर जाता हुआ विष फिर शरीरके भीतर घुसकर भांति भांतिके विकार उपजाता है और अधिकाधिक भयंकर रूप धारण करता है। सरदी-

जुकाम, खांसी, ज्वर, हैजा, प्लेग, चेचक, दस्तोंका आना, आँव, आँखोंका उठना, खूनी बवासीर, गठिया आदि तीव्र रोग वस्तुतः शरीरसे विष वा मलको निकालनेके प्रयत्न हैं। इन्हें दबाना मूर्खता नहीं, वरन् जीवन तथा प्राणशक्तिके साथ पूरी शत्रुता है। पहले तो कोई समझदार डाकटर इन तीव्र रोगोंको दबानेका उपचार करता ही नहीं, परन्तु यदि ऐसा दुरुपचार हुआ भी तो फल यह होता है कि विषको दबानेको जिस विषका ओषधिके नामसे प्रयोग करते हैं, वह स्वयं शरीरके भीतर जाकर हानिकर विजातीय द्रव्य बनकर भविष्यके किसी भीषण रोगका बोज बन जाता है। रोगको दबानेके लिये जो शल्य-चिकित्सा की जाती है, वह भी उसी तरह भयानक परिणाम दिखाती है। गलेके भीतर कौवेके दहने बायें दो गांठें होती हैं, जो कफ-विकारसे प्रायः फूलकर खांसी पैदा करती हैं। साधारणतया इनके संकोचनके लिये संकोचक ओषधियां लगा दी जाती हैं, उनसे कुल्ली करायी जाती है और इतनेपर भी लाभ नहीं होता तो गांठें कटवा दी जाती हैं। परन्तु यह एक विष-उगलतू उपचार है। बुद्धिमान चिकित्सक देखता है कि बिगड़े हुए कफके निकलनेके लिये स्वभाव वा जीवन-शक्ति मार्ग बना रही थी। गांठें सूजकर उस कफको खांसीके द्वारा दूर करतीं। कफ निकालनेमें हमें सहायक होना चाहिये था। नालीका मुँह स्वभाव वा प्रकृति बढ़ा रही थी। उसने जो परनाला बनाया, उसे जारी करना था। हमने नालीका मुँह बन्द करा दिया और

फिर इतनेसे सन्तुष्ट न होकर हमने बाहरी भीतोंको काटकर फेंक दिया और क्षत उत्पन्न करके प्रकृतिको लाचार किया कि इस बुरी तरहसे ढाही हुई दीवारकी मरम्मत करे और परनालेको बन्द कर दे, क्योंकि चाहे घर गिर जाय, पर किरायादार उधरसे परनाला नहीं चाहता।

कुछ बरसोंसे शल्य-चिकित्साका प्रचार इतना अधिक हो गया है कि अमेरिकामें तो उन्माद आदि मस्तिष्क एवं नाड़ीके रोगोंपर भी चीड़फाड़से काम लिया जाने लगा है। दांतकी चिकित्सावाले दांतकी नाड़ीको नष्ट करके दांतको पीड़ाहीन कर देते हैं। परन्तु पीड़ाका वास्तविक तात्पर्य क्या है? पीड़ा-द्वारा हमें स्वभावकी ओरसे यह सूचना मिलती है कि अमुक स्थानपर पीड़ाका कारण मौजूद है, अमुक स्थानपर क्षत है, वा विष है, वा विजातीय द्रव्य है। नाड़ियां हमें समाचार पहुँचानेमें वही काम देती हैं जो संसारमें बिजलीके तार देते हैं। सच पूछिये तो मानव-शरीरमें नाड़ियोंकी उपयोगिता तारकी अपेक्षा कई गुना अधिक है। दांतकी नाड़ीको नष्ट कर देना दांतके पासके तारघरको नष्ट कर देना अथवा तार काट देना है। ठीक समाचार पानेका उपाय नष्ट कर देना है। दांतमें इस विधिके पीछे पीड़ा तो नहीं होती, परन्तु दांत अब पेट और आँतके विकारों-का पता नहीं देते, अब वह नाड़ीके विकारका समाचार नहीं पहुँचाते। जोखिमको जानकर उससे बचनेका उपाय हो सकता है। बेजाने वही जोखिम भीषण रूप धारण कर सकता है और

कल्पनातीत हानि पहुंचा सकता है। नाड़ी नष्ट हो जानेसे हम एक बड़े उत्तम संवेदना-साधनको खो बैठते हैं।

जिन डाकटरोंका शल्य-चिकित्साका बहुत कालसे अनुभव है, उनका कहना है कि भारी चीर-फाड़के पीछे मनुष्यकी प्राण-शक्ति कुछ ऐसी क्षीण हो जाती है कि वह बहुत कालतक नहीं जीता। लिंडलार तो बड़े जोरोंसे कहता है कि मेरा पन्द्रह वरसका अनुभव है और सभी तरहके चिकित्सकोंके निकट यह बात सिद्ध है कि उत्तम अङ्गों और इन्द्रियोंके भारी चीर-फाड़के पीछे कोई दस वरससे अधिक नहीं जीता और जितने दिन जीता भी है, उतने दिन उसका स्वास्थ्य पहलेकी अपेक्षा प्रायः गिरा ही रहता है।

उग्र, तीव्र वा नवीन रोगको दवा देनेसे, अथवा उग्र दशामें विषके बाहर निकलनेमें किसी तरहकी रुकावट डालनेसे, ऊपरी लक्षण तो शान्त हो जाते हैं, रोग देखनेमें मिट जाता है, परन्तु उसका विष फिर भीतर समाकर किसी और अङ्गमें और ही रूपमें दिखाई पड़ता है, जो प्रायः जीर्ण एवं दुर्दमनीय प्रतीत होने लगता है। रोगी मोहवश उसे नया रोग समझकर उसकी चिकित्साके पीछे पड़ जाता है और प्रायः अनुचित उपचारसे उसे और भी भयङ्कर कर डालता है। कोई दस बरस हुए लेखकको टांगोंमें बड़ी खुजली हुई। उसपर सीसासिरकेतका घोल लगाकर लेखकने खुजली अच्छी कर ली। खुजली दवते दवते ही उसे चक्करका रोग हो गया, जिससे लेखक पाँच छः

बरस बराबर तङ्ग रहा। अन्तमें होमियोपथिक गंधकके प्रभाव-से और दूसरे सभी उपचारोंसे कड़ा परहेज करनेसे खुजली फिर निकली। अब चक्करकी शिकायत घटने लगी। लेखकका यह निजी अनुभव है कि खुजली और चक्करका उसके शरीरमें घनिष्ट सम्बन्ध है। खुजलीसे शरीरका विष निकलता है। यह विष जब निकलने नहीं पाता तो नाड़ीमण्डलपर वही प्रभाव डालता है जो विषैले या मादक पदार्थोंका शरीरपर हुआ करता है। विषके निकलनेका मार्ग न होनेसे यह अनिष्ट प्रभाव स्थायी हो जाता है और "जीर्ण" रोगका एक ऐसा रूप देख पड़ता है जो नवीन रोगके रूपसे नितान्त भिन्न है।

खुजलीके रोगोंमें बहुधा देखा गया है कि कीड़े पड़ जाते हैं, जो कभी दिखाई पड़ते हैं और कभी इतने सूक्ष्म होते हैं कि अणुवीक्षण यंत्रसे ही दीखते हैं। डाक्टरोंके मतसे यह कीड़े ही रोगके कारण हैं, परन्तु हालके वैज्ञानिक विचारकोंकी दृष्टिमें यह कीड़े स्वभाव इसलिये पैदा करता है कि विष या मलका विश्लेषण करके उसके विषत्वको दूर कर दें। बहुत सफाईसे रहनेवालोंके सिरमें जूं पड़ गयीं और कुछ काल पीछे अपने आप गायब हो गयीं। जूंने खुजलीके विषैले पदार्थका विश्लेषण किया, उसे खा डाला। जब जूंका काम समाप्त होगया, जूं स्वयं नष्ट हो गयीं। बहुतसे लोग जूंके नाशके लिये अनेक विषैली वस्तुएं और तेल डालते हैं। यह अत्यन्त हानिकारक विधि है। इससे शरीरके भीतरी विष शरीरमें ही समा जाते हैं और जूं

जो कि स्वभावद्वारा नियुक्त भङ्गियोंकी एक जाति है, व्यर्थ मर जाती है। ठण्ढे जलसे खूब मलकर कंघी करनेमें हानि नहीं है, क्योंकि इस विधिसे जैसे अनेक जूं दूर हो जायँगी, वैसे ही विष और मल भी दूर हो जायगा। केशोंका पूरा मुण्डन और शुद्ध जलसे अच्छी तरह नित्य धोना भी उत्तम उपाय है, जिससे विष भी दूर हो जायगा और जूंकी आवश्यकता और स्वयं जूं न रह जायँगी।

आजकलके अस्वाभाविक पाश्चात्य जीवनसे, मांसके अधिक सेवनसे, गरम मसाले और चटपटे पदार्थोंके दासत्वसे, मद्य, चाय, कहवा, तमाखू, गाँजा, भङ्ग, चरस, अफीम, कोकेन आदि विषोंके खानपानसे, अत्यधिक दिन और रातके परिश्रमसे, काम-क्रोध, लोभ, भय, चिन्ता आदि विकारोंसे, अनुचित आसन, वसन, श्वसन आदि शरीरके हानिकर व्यवहारोंसे, पारिवारिक जीवनकी निरानन्दता और दरिद्रतासे, और सबसे बड़ी बात परतन्त्रताके अथवा उच्छृंखलताके अथवा संयमहीनताके बुरे प्रभावसे मनुष्यका जीवन अ-प्राकृतिक और बनावटी हो गया है, उसका अधःपतन हो गया है, प्रकृति—वह जगन्माता जो सदा इस सन्तानकी रक्षामें तत्पर रहती है—इस नटखट सन्ततिकी कुचालसे उसकी रक्षा पूर्णतया नहीं कर सकती। माता पद पदपर उसकी रक्षाके लिये पुकारती रहती है, पर मनुष्य है कि अपनी धुनमें मस्त है, उसके कान बहरे हो रहे हैं, वह सुनता ही नहीं। जो सुन पाता है, सँभल जाता है।

उसकी रक्षा भी हो जाती है। जो अन्ततक नहीं सुनता, अपने बनाये गर्त्तमें गिरता है, आप ही अपने पैरोंमें कुल्हाड़ी मारता है, आत्महत्याका दोषी होता है।

(६) उभारकी भिन्न दशाएं

शरीरके मलों और विषोंके निकलनेको जब साधारण राह नहीं मिलती तो उन्हें दूर करनेके लिये स्वभावको विशेष उपाय करने पड़ते हैं। इस उपायकी प्रायः पाँच अवस्थाएं होती हैं।

पहली अवस्था रोगकी तय्यारी कही जा सकती है। कोई बाहरी या भीतरी कारण उपस्थित होता है, जिससे किसी अङ्गमें या सारे शरीरमें रोगकी उत्तेजना होती है। धीरे धीरे या जल्दी जल्दी शरीरके भीतर ऐसी क्रियाएं होने लगती हैं, जिनसे रोग अपना रूपविशेष धारण करता है। यह अवस्था कुछ मिनटोंमें ही पूरी हो सकती है, और कई दिन, कई सप्ताह, कई मास और कभी कभी कई बरस लग सकते हैं। इस अवधिमें उभार पैदा करनेवाले मल, विष, रोगाणु आदि किसी अङ्गमें इकट्ठे होते रहते हैं।

जब इनकी मात्रा इतनी बढ़ जाती है कि स्वभावके कामोंमें रुकावट होने लगती है, प्राणीका जीवन संकटमें पड़ जाता है, शरीरकी सारी शक्तियां उसी रोगी अंगकी ओर लग जाती हैं, रक्तका संचार उसी ओर वेगसे होता है, इसीलिये वह अंग लाल हो जाता है, फूल आता है, उसका ताप बढ़ जाता है,

तनाव होता है, पीड़ा होती है। यह सभी बातें दूसरी अवस्थाकी सूचना देती हैं।

दूसरी अवस्था कष्टके उग्र रूप धारण करनेकी है। तकलीफ़ बढ़ जाती है। तनाव, सूजन, सुर्खी, ज्वर सभी बढ़ जाते हैं। पीड़ा भी साथ ही बढ़ती जाती है। जिस स्थानमें रोगका उभार होता है, उसके भीतरी देशमें श्लैष्मिक मलसे भरे हुए रुधिरका संचार होता है, परन्तु श्लेष्मिक मल सूक्ष्म केशिकाओंमेंसे अच्छी तरह निकल नहीं सकता और उनमें इकट्ठा होकर रास्तेमें रुकावट डालता है। रक्तके गाढ़े हो जानेके सिवा प्राणशक्तिकी कमी या किसी बाहरी रुकावटसे भी वरम हो आता है। रक्त पीछेको हटता है, केशिकाओं, शिराओं और धमनियोंको भी फुला देता है। केशिकाएं ऐसी तन जाती हैं कि श्वेताणु आसपासके प्रदेशमें दबकर निकल पड़ते हैं।

तीसरी अवस्था अंगके कणोंके नाशकी है, जिससे राद्ध बन जाती है। घाव हो जाता है। पीव और लोहू बहने लगता है, मवाद निकलने लगता है, पसीना पेशावसे विष निकलने लगता है, सांससे दुर्गन्ध आती है, जो मलके निकलते रहनेकी सूचना देती है, दस्त जारी हो जाते हैं, वमन होने लगता है, निदान स्वभावके इस घोर प्रयत्नमें कि मल और विष दूर हों, बहुत सा उपयोगी भाग भी शरीरसे नष्ट होकर निकल जाता है। कूड़ेके साथ अच्छी चीजें भी छीजती हैं। इस दशामें पीड़ा असह्य हो जाती है, दुर्बलता बढ़ जाती है, शरीर शिथिल हो

जाता है, दिमाग काम नहीं करता। यही रोगकी सबसे उग्र दशा है। संकटकी अवस्था है। जोखिमकी घड़ी है। प्राण-शक्तिकी जाँच है। प्राणशक्ति दुर्बल हुई या क्षीण हो चुकी है तो स्वभावका प्रयत्न निष्फल जाता है। शरीरान्त हो जाता है। प्राणशक्ति प्रबल हुई तो इस संकटकी घड़ीको पार कर जाती है। प्राणशक्तिको ऐसे अवसरपर बाहरी मदद मिले तो संकट सहज ही मिट सकता है। यह बाहरी मदद ठीक इलाज या उपचार है।

चौथी अवस्था रोगका उतार है। प्राणशक्तिकी प्रबलता और ठीक इलाजकी मददसे रोगके घटनेके लक्षण दीखते हैं। ठीक इलाज वह उपचार है जिससे रक्तके शोधनेमें, मलके दूर करनेमें, बल लानेमें सहायता मिले। इस अवस्थामें सूजन घटती है, तनाव घटता है, नाड़ी धीमी हो जाती है, ज्वर कम होता है, सांसकी दुर्गन्ध घट जाती है। दस्त मामूली हो जाते हैं, वमन बन्द हो जाता है। पसीना साधारण रह जाता है।

पाँचवी अवस्था रोगके शमनकी है। जब विष और मलोंसे शरीर शुद्ध हो गया तो जहाँ जहाँ किसी तरहकी क्षति हुई होती है वहां क्षतिकी पूर्त्ति हो जाती है। शरीर अन्ततः नीरोग हो जाता है।

यह पांचों अवस्थाएं प्रोफेसर मेचनीकाफके अनुसार रोगाणुओं और श्वेताणुओंकी समर-लीला है। पहलीमें रोगाणु शत्रुका शरीर गढ़में प्रवेश, दूसरीमें श्वेताणुओंसे उनकी मुठ-

भेड़, तीसरीमें तुमुल युद्ध और वास्तविक हार जीतका फैसला, चौथीमें रणांगनकी सफाई और पांचवींमें पूर्वावस्थाका पुनः स्थापन बड़ी विचित्र रीतिसे बताते हैं। परन्तु जिन्हें वह रोगाणु या शरीरके वैरी बताते हैं, उन्हें ही हम भंगी या सफाई करनेवाले दिखा आये हैं। वह रोग उपजानेवाले नहीं हैं, बल्कि मल या विषको पचानेवाले या नाश करनेवाले हैं।

अमेरिकाके डाकटर लिंडलारके अतिरिक्त डाकटर पावेल*ने भी अपने ग्रंथमें दिखाया है कि श्वेताणुओंको रक्तका रक्षक या पुलीस समझना भूल है। यह रक्षक नहीं किन्तु भक्षक हैं, रक्तके शत्रु हैं, विषके कण हैं, मलके इत्र हैं, जो सड़कर वह अवस्था लाते हैं जिसमें कीटाणुओंकी उत्पत्ति होती है। यह कीटाणु ही अन्तमें मलको सड़ा सड़ाकर खाते, पचाते और शरीरभरमें संकट फैलाते और जब इन विकृत पदार्थोंका अत्यन्त विकार हो जानेसे उन्हें भोजन नहीं मिलता तब मवाद होकर या मलके साथ मिलकर शरीरसे निकल जाते हैं, और जो कहीं निकलनेका मार्ग नहीं मिला तो यही विष और विकार शरीरमें फैलकर "जीर्ण रोग"का रूप पकड़ते हैं। डाकटर पावेलने इस सम्बन्धमें जो बहस की है और जिस प्रकार अबतकके प्रचलित डाकटरी श्वेताणुवादका खंडन किया है, वैज्ञानिकों और डाकटरोंको अवश्य पढ़ना चाहिये। खंडनमंडन विशेष प्रयोजनीय न होनेके कारण

* Dr. Thomas Powell: Fundamentals and Requirements of Health and Disease.

हम यहां उस पुस्तकसे कोई अवतरण नहीं देते। आयुर्वेदके सिद्धांतोंसे पार्वेल और लिंडलारके ही मत मुझे अधिक अनुकूल जँचे, इसलिये रोगके उभारके सम्बन्धमें इनका ही मत यहाँ पुष्ट माना गया है।

(१०) रोगके मूल कारण

पास्ट्यूर, मेचनीकाफ, रैट, और वुलकको खोजोंका फल साधारणतः यह है कि मनुष्यके शरीरमें रोगाणुओंका प्रवेश बाहरसे होता है। शरीरके श्वेताणु लड़ते और उन्हें पचाते हैं, उन्हें नष्ट करनेको प्रतिविष बनाते हैं। परन्तु जब यह प्रश्न होता है कि वायुमण्डलमें ही रोगाणु कहांसे आते हैं, किसी विशेष देशकालमें ही क्यों देख पड़ते हैं, उनका प्रभाव विशेष व्यक्तियोंपर ही क्यों देख पड़ता है, फैलना आरम्भ होनेसे पहले वह कैसे और क्यों होते हैं, तो इन विद्वानोंके सिद्धान्तसे सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता। प्लेगके कीड़े यदि रोगी चूहेकी मक्खीद्वारा मनुष्योंमें फैलते हैं तो चूहोंमें आखिर वह क्यों और कैसे फैलते हैं। आसपास सैकड़ों मीलके चक्रमें जहां रेलोंकी गुजर नहीं, प्लेग देवताका आविर्भाव क्यों होता है? फिर एक ही प्रकारके रोगाणु यदि एक ही प्रकारके रोग उपजाते हैं, तो भिन्न जातियोंमें उनसे ही भिन्न रोग क्यों होते हैं? इस सिद्धान्तकी परीक्षामें जब वायुमण्डलसे लिये हुए रोगाणुओंसे रोग नहीं उपजाते, बल्कि रोगीसे मवाद लेकर उसकी टीका लगायी जाती है और रोग इसी तरह पैदा किये

जाते हैं, तो यह कैसे निश्चित हुआ कि वायुमण्डलसे लिये हुए रोगाणुओंसे भी यही फल होता है? इन प्रश्नोंके उत्तर देनेके प्रयत्न हुए हैं, परन्तु सन्तोषदायक एक भी उत्तर नहीं ठहरता। रोगकी उत्पत्तिका यह पाश्चात्य सिद्धान्त मानव-शरीरको वाह्य और आकस्मिक दुर्घटनाओंका शिकार बनाता है। प्राच्य सिद्धान्तको इससे सन्तोष नहीं हो सकता।

प्रत्येक प्राणी अपने शरीरके भीतर इष्ट अनिष्ट सभी निमित्तोंके साधन रखता है। जैसे मनुष्य इस पृथ्वीरूपी महापिण्डका एक प्रकारका जीवाणु है, और यह भूमण्डल उसके जैसे असंख्य जीवपिण्डोंसे भरा हुआ है, उसी तरह मानव-शरीररूपी महापिंड भी असंख्य जीवाणुओंका बना है, उनमें अगणित जातियां हैं, उनके विविध व्यापार हैं, उनका व्यक्तिगत जीवन भिन्न भिन्न प्रकारसे होता है। परन्तु यह कीटाणु वा जीवाणु स्वयं असंख्य सजीव परमाणुओंके बने हैं। इन्हें हम प्राणकण * कहेंगे। प्रत्येक जीवाणुमें यह उसी प्रकार होते हैं जैसे हमारे शरीरमें जीवाणु। यह प्राणकण जीवमात्रके परमाणु हैं। उद्भिज्ज, कीट, पशु, मनुष्य सभी इन प्राणकणोंसे बने हुए हैं। जहां कहीं उद्भिज्ज या दूसरे प्राणी नहीं होते वहां यह प्राणकण भी नहीं पाये जाते। जहां कहीं कोई कोई आंगारिक पदार्थ सड़ता है, जहां किसी सजीव पदार्थमें विकार होता रहता है, वहां इन्हीं प्राणकणोंकी क्रिया समझनी चाहिये। सजीव पदार्थों

* प्राणकण=microzyme or microsome.

के सड़नेसे यही प्राणकण वायुमंडलमें मिल जाते हैं, उड़ते रहते हैं, गर्द गुबारमें पाये जाते हैं। सड़ान, उफान या उठानके कारण होते हैं। गुड़का रस सड़ता है, तो उसमें वायुसे भी प्राणकण पड़ते हैं और रसमें तो मौजूद ही होते हैं। इन्हीं प्राणकणोंके संयोगसे, दो दो या अधिक संख्यामें मिल जानेसे जीवकेन्द्र* जीवमूल† आदि सूक्ष्म प्राणी बनते हैं। इन्हीं असंख्य प्राणकणोंसे जीवाणुका एक सेल बनता है। मनुष्यका वीर्याणु इन्हीं प्राणकणोंसे बना हुआ है। असंख्य प्राणकणोंके संयोगसे जीवाणुके सेल, और असंख्य सेलोंके संयोगसे अंडेके भीतर पक्षीका बच्चा बनता है। यही क्रिया "प्रकृति" है, सृष्टि है, संसारका बनना है। इन्हीं प्राणकणोंके वियोगसे सेल नष्ट हो जाते हैं और सेलोंके बिखरनेसे उनसे बना हुआ बड़ा पिण्ड नष्ट हो जाता है। यह वियोगकी क्रिया "विकृति" या विकार है, प्रलय है, संसारका नष्ट होना है। "प्रकृति" और "विकृति" शरीरके भीतरके ही मसाले प्राणकणोंके सहारे होती रहती है।

देश काल और निमित्तके अनुसार "प्रकार" और "विकार" दोनों सभी प्राणियोंके शरीरोंमें होते रहते हैं। जिन क्रियाओंसे भोजनका पाचन होता है, रस बनता है, रक्त एवं वीर्य्य बनता है, वह सभी प्रमित विकार हैं, प्रकृति हैं। जिन क्रियाओंसे

---

* जीवकेन्द्र=Nucleus.

† जीवमूल=Protoplasm.

शरीरमें मल वा विष भोजनके पदार्थोंसे अलग होकर मल-द्वारोंसे निकल जाते हैं वह भी "प्रकृति" है। परन्तु ऐसी स्थिति आ पड़नेपर, जब कि विष वा मल साधारण मार्गों वा उपायोंसे दूर नहीं होते, स्वभाव स्वयं उनमें विकार उत्पन्न करता है। प्राणशक्तिसे प्रेरित प्राणकण विषोंको तोड़ते फोड़ते सड़ाते और रोगाणुतक उत्पन्न करनेके कारण बन जाते हैं। विषों और मलोंका एकत्र होना और उनके विकारकी अवस्था शरीरको बाहरी विकारी रोगाणुओंका क्षेत्र बना देती है। परन्तु रोगका मूलकारण कहीं बाहर नहीं है। यदि शरीरमें विषका क्षेत्र तय्यार न हो तो बाहरी फैलनेवाली बीमारीके कीटाणु असर नहीं कर सकते। इसके कई उदाहरण हम अन्यत्र दे आये हैं। संक्षेपमें, प्रोफेसर बीशम्पने * इसी तरहकी व्याख्या की है, जो सर्वथा समीचीन जान पड़ती है। रोग बाहरसे आकर हमारे ऊपर आकस्मिक आक्रमण नहीं करते, बल्कि हम स्वयं जब प्रकृतिके नियमोंको तोड़ते हैं, संयमसे नहीं रहते, मिथ्याहार-विहारमें फँसे रहते हैं, तो हमारे शरीरमें विष इकट्ठा होता है और उग्र या जीर्ण रूप धरता है और हमें सताने लगता है।

जर्मनीके प्रसिद्ध जलचिकित्सक लूई कूने† का भी यही मत है कि शरीरमें विजातीय द्रव्योंके जमा होनेसे ही रोग होता है और उन्हें शरीरके बाहर निकाल देना ही प्रकृतिका प्रयत्न है

* Bechamp: Les Microzymas.

† Louis Kuhne: New Science of Healing.

जिसमें जलचिकित्सा और प्राकृतिक आहार-विहारसे सहायता मिलती है।

प्रोफेसर बीशम्पके सिद्धान्तोंसे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि रोगाणु वस्तुतः हमारे शत्रु नहीं वरन् हमारे भङ्गी हैं। यह जब अपना काम पूरा नहीं कर पाते तभी शरीरको हानि पहुँचती है।

इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि रोगाणु इतने उपयोगी हैं तो इन्हें शरीरमें प्रवेश करानेके उपाय क्यों न किये जायँ। इसका यह अर्थ होगा कि हम अस्वाभाविक रीतिसे या असंयमसे क्यों न रहें, जब कि विकारोंको निकाल बाहर करनेवाले रोगाणु मौजूद ही हैं, जब डाक्टर हमारे पड़ोसमें मौजूद है और हमें अच्छा कर ही सकेगा तो हम क्यों न अपनी जीभके गुलाम बन जायँ और जो चाहें और जितना चाहें, पेटमें ठूसते जायँ। कोई कोई जीभके दास उलटी करते हैं और फिर फिर खाते हैं। इस आशापर कि भङ्गी साफ कर देगा हम गंदगी बढ़ायें और अपना स्वभाव बिगाड़ें, इसे कोई अच्छी नीति न कहेगा। हमें तो ऐसे संयमसे रहना चाहिये कि रोग पैदा न हो, हमें हित मित आहार करना चाहिये कि वैद्यकी जरूरत न पड़े। वैद्यकी जरूरत हमारे असंयम, हमारी नैतिक कमजोरी, हमारे सदाचारमें कमीका प्रमाण है। हम अपना जीवन स्वाभाविक बनावें कि शरीरमें विष जमा न होने पाये, मलका संचय न हो, रोग बनकर उसे शरीरमें नये मार्ग न बनाने पड़ें। संयममें

हमने त्रुटि की तो हमें उग्र रोगोंका स्वागत करना ही चाहिये क्योंकि शरीरसे विष दूर होनेके लिये उग्र रोगसे बढ़कर कोई उपचार नहीं है। उग्र रोगको दबानेका कदापि उपाय न करना चाहिये, क्योंकि यदि घरमेंसे गन्दगी बहनेकी कोई नयी नाली खुल गयी तो उसे तबतक खुली रहने देना चाहिये जबतक कि सारी गन्दगी बह न जाय। जब गन्दगी बह जायगी, नालीका बहना रुक जायगा और नाली स्वयं बन्द हो जायगी।

स्वभाविक जीवन संयमका जीवन है। दिनचर्य्या और ऋतुचर्य्यामें यदि पूरी स्वाभाविकता बरती जाय तो आदर्श है नीरोगता। परन्तु अनन्त कालसे मनुष्य संयमके मार्गसे विच-लित चला आया है। दिन दिन सभ्यताके भ्रामक चक्रमें पड़कर अधिकाधिक बनावटी और व्यसनी होता आया है। असंयम उसकी घुटीमें अक्षरशः पड़ा हुआ है। उसके संस्कारमें ही दोषने घर कर लिया है। अगर किसी मनुष्यने आज अपनेको सँभाला और पूरी तौरसे संयमसे रहने लगा, तो आजके संयमका फल उसे कल मिलेगा, परन्तु आज तो उसे पिछले असंयमोंका फल भुगतना ही है। यह पिछली भूलोंकी ठोकरोंसे बच नहीं सकता। हां, पहले वह बेजाने ठोकर खाता और अपने शरीरको सँभाल न सकता, औंधा गिर जाता, पर संयमी होनेके कारण वह पिछली भूलोंसे अनभिज्ञ नहीं है, उसे ठोकर लगेगी तो भी वह अपनेको सँभाल लेगा। स्वाभाविक जीवन सदाचारका ही नाम है। संयम, सदाचार,

सच्चरित्रता एक ही तथ्यके नामान्तर हैं। सदाचारसे बढ़कर कोई उपचार नहीं। ब्रह्मचर्य स्वास्थ्यकी कुंजी इसीलिये समझा जाता है कि वीर्यकी रक्षा ही इसका अर्थ नहीं है, स्वाभाविक और सदाचारी जीवन उसका अनिवार्य अङ्ग है। असंयम और कदाचार ही वस्तुतः समस्त रोगोंकी जड़ है और यह व्यक्तिसे भिन्न कोई बाहरी चीज नहीं है।

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न देखा कोय।
मुझसे बुरा न है कोई मैं देखा सब कोय॥

---

(११) उग्र और जीर्ण रोग

खानेसे, पीनेसे, सांस लेनेसे जितने घन द्रव वायव्य पदार्थ हमारे शरीरके भीतर जाते हैं उनमेंसे कुछ अंशका रस बनता है। शेष मलके रूपमें शरीरसे बाहर निकल जाता है। जिन वस्तुओंकी आवश्यकता शरीरमें नहीं है वह सब मल है। हम अन्यत्र दिखा आये हैं कि मल कितने प्रकारके हो सकते हैं और किन किन अङ्गोंसे निकल जाते हैं। साथ ही शरीरके भीतर अमित विकार भी होते रहते हैं जिनसे शरीरके नन्हें नन्हें कणोंका क्षय भी होता रहता है, अन्नके कणोंके रस बननेमें भी अमित विकार होते हैं, रस बनता है, गरमी पैदा होती है, कोयलेका अंश जलता है और कर्बनद्वयोषिद् बनकर अधिकांश सांससे बाहर निकलता है। मिथ्याहार-विहारसे इतना अधिक मल अलग होता है और प्रायः ऐसी दशामें अलग होता है कि

मल-विसर्जन करनेवाली इन्द्रियां सबका त्याग नहीं कर सकतीं, मल रह जाता है और शोषण करनेवाली झिल्लियां उनके हानिकर अंशोंको भी अच्छे अंशोंकी तरह खींच ले जाती हैं। इस खोखे हुए अंशको हम मलका इत्र वा विष कहें तो अनुचित न होगा। घाव हो जानेपर खुले हुए द्वारसे, या खाने-पीने या सांस या रोमकूपोंसे भी, रोगाणु शरीरमें प्रवेश करते हैं और जब शरीरमें भोजनके अनुकूल मल जमा पाते हैं तो विकार आरंभ करते हैं, मलका नाश करनेमें विष भी उपजाते हैं। विष उस अत्यन्त उग्र मलका नाम है जिसका अनिष्ट प्रभाव नाड़ी-जालोंपर बड़े वेगसे पड़ता है और जिसके मुकाबिलेमें प्रकृतिको असाधारण शक्ति लगानी पड़ती है और उन्हें जल्दीसे जल्दी शरीरसे निकाल बाहर करना पड़ता है। इसी प्रयत्नका नाम "उग्र रोग" है। उग्र रोगका किस प्रकार विकास होता है, यह हम इसी अध्यायके नवें प्रकरणमें दिखा आये हैं। उग्र रोग वस्तुतः शरीरके लिये अत्यन्त हितकारी हैं और शरीरकी शुद्धिके लिये सर्वोत्तम स्वाभाविक साधन हैं। उग्र रोग मलों और विषोंको बटोरकर किसी न किसी मार्गसे निकाल बाहर करते हैं। नयी नाली बनानेमें जैसे घरोंमें तोड़-फोड़ करनी पड़ती है वैसे ही शरीरमें नया मार्ग बनानेमें प्रकृति तोड़-फोड़ करती है। कभी कभी साधारण रीतिसे मलत्यागमें भी मिथ्याहारके कारण पेटमें पीड़ा हो जाया करती है। जब नया मार्ग बन रहा है तब पीड़ाका अधिक होना कोई आश्चर्यकी

बात नहीं है। उग्र रोगसे अधिक पीड़ित होकर रोगी घबरा जाता है, धैर्य्यसे काम नहीं लेता। सङ्कटकी अवस्थामें तो उसके आस-पासके समझदार शुश्रूषा करनेवाले भी धैर्य्य छोड़ देते हैं। यही पीड़ा, यही घबराहट, यही अधीरता प्रचलित डाक्टरी प्रथाका कारण हो रही है। वैद्य और हकीम भी इसीके शिकार हैं। वही चिकित्सक सबसे चतुर समझा जाता है जो पीड़ा जल्दी दूर कर सके। चिकित्सक भी रोगी और उपचारियोंके सन्तोषके लिये प्रायः तात्कालिक ही उपाय करता है। उग्र रोगकी पीड़ा दूर करना ही जिनका उद्देश्य नहीं है, जो वस्तुतः उग्र रोगका लाभ जानते हैं, और स्वाभाविक रीतियोंको वर्त्तते हैं, उनका लक्ष्य यद्यपि तत्काल कष्टको कम करना भी रहता है तो भी वह वास्तविक लाभको और स्वाभाविक उपचारको नहीं भूलते। डाक्टरी प्रथामें पीड़ा दूर करनेके जितने उपाय हैं, रोगको दवा देनेवाले प्रायः सभी होते हैं। तत्काल पीड़ा घट जाती है, रोग शान्त होता दीखता है, ऊपरसे रोगीकी दशा सन्तोषजनक जान पड़ती है, पर भीतर क्या हाल है? प्रकृति जो नयी नाली बना रही थी वह काम एकाएकी बन्द कर दिया गया। मल जहांतक खसक चुका था, वहीं रुक गया। विष ज्योंका त्यों रहा, वल्कि ओषधिरूपी बाहरी विष भी वहां पहुँच गये, जिनसे और भी प्रमित और अप्रमित विकार उत्पन्न हुए, परन्तु बाहरी विषोंने भीतरी प्राणशक्तिको इतना स्तब्ध कर दिया कि अब उसने मल और

विषोंके दूर करनेका काम स्थगित कर दिया। बारंबार दबाने-वाली ओषधिके सेवनसे स्वभावने मलको अपनी तजवीजी हुई राहसे निकालनेका इरादा छोड़ दिया। अब मल और विष वहाँसे खसकने लगा और शरीरमें रक्त आदिके मार्गोंसे धीरे धीरे निकलनेका प्रयत्न होने लगा। इस प्रकार विष और मलके धीरे धीरे निकालनेमें बहुत काल लगता है, उग्र रोगकी अपेक्षा पीड़ा कम होती है; परन्तु विष शरीरके भीतर फैलकर अनेक अप्रमित विकार उत्पन्न करता है, एक उग्र रोगके बदले अनक जीर्णदोष दिखाई पड़ते हैं, प्राणशक्ति बहुत कालतक विषोंका व्यर्थ ही मुकाबिला करते करते जर्जर हो जाती है। इस तरह उग्र रोगोंके बार बार दबाये जानेसे जीर्ण विकार बढ़ता ही जाता है और प्राण-शक्ति अधिकाधिक जर्जर होती जाती है। अन्तमें प्राण-शक्ति एक बार फिर विषोंको दूर करनेके उद्योगमें लड़ाई छेड़ती है, उग्रता पैदा करती है, सङ्कट उपस्थित होता है, परन्तु इस सङ्कटावस्थाको रोगी पार नहीं कर सकता और शरीरान्त हो जाता है। जीर्ण रोग इसी प्रकार आयुक्षयका कारण होता है। उग्र दशामें कोई ओषधि न सेवन करना ही सबसे उत्तम उपाय है और मलोंको निकाल बाहर करनेके लिये पीड़ा सह लेना ही सबसे उत्तम उपचार है। जीर्ण रोगसे विदीर्ण शरीर बहुत दिनोंतक नहीं चलता इसीलिये चतुर और हितैषी चिकित्सक जीर्ण रोगको उभारकर उग्र दशामें लानेका उपाय करता है। सूजन, उभार, ज्वर आदि उग्र लक्षणोंको

फिरसे लौटाता है, रोगीको फिर पीड़ाएँ होती हैं, अन्तमें शरीरका पूरा संशोधन करना अपना परम कर्त्तव्य समझता है।

डाकटरीमें जीर्णसे उग्र लक्षणोंके लानेके कुछ उपाय हैं सही, परन्तु वह उपाय हैं उग्रसे उग्र विष, जिनसे ऊपरी लक्षण तो वही दीखते हैं, पर वह स्वभावके अनुकूल मलशोध वा विष-शोधके लक्षण नहीं हैं। नाड़ीजाल विषोंसे स्तब्ध होकर बिलकुल निकम्मासा हो जाता है। विषाक्त ओषधियोंसे उप-जाये लक्षण थोड़े समयमें शान्त हो जाते हैं और ठीक उलटे प्रतिक्रियात्मक लक्षण पैदा हो जाते हैं। इस तरह शरीरशोधक उग्ररोग डाकटरी उपचारसे नहीं होता। उसके बदले ओषधिके रूपमें दिया हुआ विष शरीरमें इकट्ठा होकर पीछेसे अपना अनिष्ट प्रभाव दिखाता है और जीर्ण रोगोंकी शक्ति और संख्या बढ़ा देता है। इसलिये स्वाभाविक चिकित्साके सिवा जीर्ण-रोगीके लिये दूसरा मार्ग ही नहीं है।

स्वाभाविक जीवन और स्वाभाविक उपचारोंसे प्राण-शक्तिको बल मिलता है, उसे साहस होता है कि फिरसे विषोंके लिये उचित मार्ग बनावे, और फल यह होता है कि इस उपायसे उग्र रोग फिरसे उभरता है और उभारको पूर्वकथित दशाओं-द्वारा संचित विष दूर हो जाते हैं। जब विष दूर हो जाते हैं तब आपसे आप शरीर नीरोग हो जाता है। अब रोगीको चाहिये कि दीर्घायु भोग करनेके लिये स्वाभाविक जीवनको अपना आदर्श बना ले।

विषोंके उभरकर निकलनेकी उग्र दशाका नाम जिस तरह उग्र रोग है उसी तरह उसके दबकर भीतर प्रवेश करने, शरीरमें अनिष्ट दशा उत्पन्न करने और धीरे धीरे थोड़े कष्टके साथ बहुत कालतक देहमें पड़े रहनेकी दशाका नाम जीर्ण रोग है। होमियोपथीके आचार्य हानिमानने जीर्ण रोगोंपर एक बड़ी पोथी लिखी है। उन्होंने एवं और स्वभावचिकित्सकोंने भी जीर्ण रोगोंको उग्र रूप देकर ही दूर करना एकमात्र उपाय बतलाया है।

(११) साध्य और असाध्य रोग

उग्र रोगोंमें संकटावस्था ही ऐसी दशा है जिसमें वस्तुतः किसी उपचारकी आवश्यकता है। वह उपचार भी ऐसा हो जिसमें स्वभावके काममें तनिक भी रुकावट न पड़े, बल्कि उसे पूरी सहायता मिले। इस दृष्टिसे उग्र रोगोंको साध्य समझना चाहिये। हैज़ा, प्लेग, चेचक आदि यद्यपि अत्यन्त भयानक समझे जाते हैं, सभी साध्य हैं। शरीरकी अवस्था अनुकूल होनेपर इन रोगोंसे शरीरकी सफाई सफलतापूर्वक हो जाती है। अवस्था प्रतिकूल होनेसे हो,—अर्थात् प्राण-शक्तिकी क्षीणता, उपचारका उलटा पड़ना आदि,—इन रोगोंमें अधिकांश मृत्यु होती है। उग्र रोग अधिकांश चिकित्सकोंके हाथमें पड़कर बिगड़ जाते हैं। यदि स्वभावपर छोड़ दिये जायँ और रोगी ईश्वरपर और अपनी प्राणशक्तिपर विश्वास करता हुआ धैर्य्यसे सह ले, तो बिना उपचार या चिकित्साके अच्छा हो

जाय। देहातोंमें दवा करनेको गरीबोंको धन कहां मिले। एक बार खानेको पेटभर मिलना कठिन है। ऐसी दशामें प्रायः लोग उपवास करते हैं, एक पैसेकी दवा नहीं खाते और अच्छे हो जाते हैं। धनवान नित्य ओषधि-सेवन करता रहता है और रोगसे उसका पिण्ड नहीं छूटता। जीभके पीछे स्वभावसे सदा अत्याचार और अपनी प्राणशक्तिको दुर्बल करता रहता है। यह जानते हुए भी कि कोई ओषधि देनेकी जरूरत नहीं है, चिकित्सक जब बुलाया जाता है तब कोई न कोई ओषधि देता ही है। यदि ओषधि न दे तो रोगी या उसके हितू चिकित्सकको फीस देना व्यर्थ समझें और चिकित्सकका रोजगार मारा जाय। ओषधि भी अगर सस्ती सुलभ और जानी हुई दी जाय तो लोग उसका और वैद्यका आदर न करें। इसीलिये वैद्यक वा डाकटरीका रोजगारी लाचार हो ढोंग रचता है, और परिणाम जो होता है, प्रकट ही है।

सचिव वैद्य गुरु तीन जो प्रिय बोलहिं भय आस
राज धर्म्म तन तीनि कर होइ वेगही नास

प्रयागकी बात है। एक रानीकी जांघमें फोड़ा था। बड़ी पीड़ा थी। एक प्रसिद्ध डाकटरको बुलाया गया। वह सीधे-सादे सच्चे भलेमानस थे। बताया कि पाव पाव घंटेपर गरम गरम पुलटिस लगाओ। रानीको संतोष न हुआ। उनकी फीस सोलह रुपये देकर विदा किया। एक और नामी डाकटरको बुलवाया। यह बड़े चालाक थे। आतेके साथ इतिहास

मालूम कर लिया। स्थिति समझ गये। कम्पौंडरको हुक्म दिया, "लाल दवाई गरम करके लाओ।" इसे फोड़ेपर लगाया। बैठ गये। इधर उधरकी कुछ बातें की। पाव घंटेपर बोले, "दवा बदलो, नीला मलहम लगाओ। खूब गरम कर लेना।" इसी प्रकार वे चार घंटे बैठकर रंगबिरंगी पुलटिस लगाते गये। सिवा पुलटिसके कोई. और उपाय करना न था, परन्तु पुलटिसको रंगीन दवाके नामसे असाधारण बना दिया। रानीकी पीड़ा पुलटिससे घटती गयी। फोड़ा फूट गया। रानी बड़ी प्रसन्न हुई। डाक्टरको बड़े विनयसे दो सौ रुपये देकर विदा किया।

चिकित्सकके ऊपर नैतिक दायित्व रोगी और उसके हितु-ओंकी अपेक्षा अधिक है, परन्तु नीतिमान चिकित्सक कितने हैं? ऐसे गिरे हुए चिकित्सकोंकी संख्या थोड़ी नहीं है जो रुपयेके लालचसे रोगीके धन और प्राणकी परवा नहीं करते। रोगको जीर्ण बना देते हैं, असाध्य कर देते हैं।

जिन जीर्ण रोगोंका प्रभाव केवल अंगों और इंद्रियोंकी क्रियापर पड़ता है, वह भी साध्य ही समझे जाने चाहियें। रोगके कारण क्रियामें जो बाधा पड़ती है वह मल और विषके निकल जानेपर दूर हो जाती है। परन्तु जीर्ण रोग जहां अंगके क्षयका कारण हो जाते हैं वहां दोनों बातें संभव हैं। स्वाभा-विक उपचारोंसे प्राणश

जाती है कि रोग दूर हो

बन सकें तो क्षीण अंग भी पूरा हो जाता है। जहां इतनी सहायता नहीं पहुंच सकती, या जहां प्राणशक्ति स्वयं क्षीण हो गयी है वहां रोगके दूर हो जानेपर भी अंगकी पूर्त्ति नहीं हो सकती। कभी कभी तो प्राणशक्ति इतनी कम हो जाती है कि क्षयकारी रोग स्वाभाविक उपचारोंके हाथसे भी निकल जाता है। अतः क्षयरोगोंमें,—जैसे राजयक्ष्मा, हड्डीकी क्षयी, संग्रहणी, कुष्ठ,—स्वाभाविक उपचार लाभ अवश्य पहुंचाते हैं, पर रोगीकी प्राणशक्तिपर ही रोगका साध्य वा असाध्य होना निर्भर है। जो फेफड़ा गलकर नष्ट हो गया उसे फिरसे बनाकर लगा देना संभव नहीं, प्राणशक्ति भी बनानेमें अभीतक समर्थ नहीं पायी गयी है, जो हड्डी या अंग कुष्ठसे गलकर गिर गया उसे उगा देना प्राणशक्तिसे संभव नहीं है, परन्तु रोग दूर करके एक ही फेफड़ेसे सांस लेनेवाला नीरोग मनुष्य, या हाथ पावँसे लुंज नीरोग मनुष्य स्वाभाविक उपचारका फल हो सकता है। जहां इन रोगोंको और चिकित्साएं नितान्त असाध्य मानती हैं, स्वाभाविक उपचार इस दरजेतक साध्य बना देते हैं। साधारण घाव तो लोग नित्य पूरा होते हुए देखते हैं, भेद इतना ही होता है कि बच्चों और जवानोंके घाव कितनी जल्दी पुरते हैं, पर बूढ़ोंके घाव बहुत समय लेते हैं। घावतक अंगपूर्त्ति नित्य देखी जाती है, परन्तु जो अंगुलियां कोढ़से गिर गयीं फिरसे जमती नहीं देखी गयीं। जो दांत गिर गये—यदि दूधके दांत न हों तो—प्रायः फिरसे नहीं जमते।

हमने "प्रायः" इसलिये कहा कि कहीं कहीं इसका अपवाद भी सुननेमें आया है।

(१३) रोगके रासायनिक रूप

हमलोग साधारणतया जो कुछ भोजन करते हैं अधिकांश खटाई पैदा करनेवाली चीजें होती हैं। दाल, भात, बारीक आटेकी रोटी, आलू, शकरकन्द, शकर सभी खटाई पैदा करनेवाली चीजें हैं। इसके साथ चटनी अचार आदिके क्या कहने हैं। यह तो खटाई ही ठहरी। शाकोंमें अवश्य ही क्षार पदार्थोंका आधिक्य रहता है, पर खटाई डालकर उनके क्षारत्वको भी मिटा दिया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि पाचनके लिये आमाशयके भीतर जो रस निकलकर अन्नके साथ सन जाते हैं, उनका अम्ल होना अनिवार्य्य है। इस अम्लताको पूरा करते रहनेके लिये अम्लोत्पादक मंडमय पदार्थोंका खाना जरूरी है। रोटी चावल इस कामके लिये पर्य्याप्त हैं। फलोंमें भी अधिकांश अम्ल या अम्लोत्पादक होते हैं। हर सड़ने या पचनेकी क्रियामें अम्ल अलगा जाता है। जब कभी कोई सेल सड़ता है तो उससे अम्ल अलग होता है। यह अलगाया हुआ पदार्थ शरीरसे अम्लके रूपमें भी निकलता है और लवण होकर भी। यह मशहूर है कि गठियाका कारण है यूरिकाम्ल, जिसके रवे गांठोंमें जम जाया करते हैं। यही क्षारोंके मिलनेसे युरेत नामके लवण बनकर पेशाबमें घुले हुए निकल जाते हैं। हमारे भोजनके साथ जो क्षार शरीरमें पहुँचते हैं, अम्लोंसे मिलकर लवण

बनाते हैं, और यही लवण पसीने और पेशाबसे शरीरके बाहर निकल जाते हैं। शरीरके सूक्ष्म कण वा सेल भी जब सड़ते हैं तब अम्ल बनता है। समस्त प्रमित और अप्रमित विकारोंका परिणाम श्लैष्मिक पदार्थ और अम्ल होता है। यही मल और विष हैं जिनकी चर्चा हम कर आये हैं।

सेलोंको भोजन देनेके लिये (१) मनुष्य कर्बोज्जेत खाते हैं जैसे चावल, गेहूं, मक्का, आलू आदिके मंड, (२) कर्बोज्ज खाते हैं, जैसे घी, चर्बी, तेल आदिकी चिकनाई, (३) नत्र-जनीय पदार्थ खाते हैं, जैसे दाल, तैलमय मेवे, मांस, मछली आदि। इनसे मांसके कण या सेलका पोषण इसलिये होता है कि इनमें और मांसके सेलोंमें कर्बन, ओषज्जन, उज्जन, नत्रजन, स्फुर और गन्धक यह छः मौलिक पदार्थ संयुक्त होते हैं। परन्तु जैसे सातों धातुओंके कणोंमें भेद है, और सब मिला-कर लगभग सत्रह मौलिक पदार्थ पाये जाते हैं, उसी तरह हमारे भोजनमें भी अनेक लवण क्षार और अम्ल मिले हुए हैं और इन छः के सिवा अन्य मौलिक भी संयुक्त दशामें हमारे शरीरमें जाते हैं और विविध सेलोंके वृद्धिक्षयमें काम आते हैं। क्षयके क्रममें प्रायः यह अम्ल निकलते हैं—

कर्बनिकाम्ल, क्षीराम्ल, अक्सलिकाम्ल, द्विसिरकाम्ल, आज्याम्ल, नत्रिकाम्ल, नत्रसाम्ल, मूत्राम्ल, ग्लैकोहलिकाम्ल, विलिवर्डिनिकाम्ल; इंडोल, स्केटोल, स्फुरिकाम्ल, स्फुराम्ल, गन्धकाम्ल, गन्धसाम्ल, और लवणाम्ल।

भोजनके पदार्थोंमें, लोहा, चूना, सज्जीखार, जवाखार, आवा, मगनीस, मांगल आदि क्षार शरीरमें पहुँचते हैं और उपर्युक्त अम्लोंके साथ पानीमें घुलनेवाले और कठिनाईसे घुलनेवाले या न घुलनेवाले लवण बनाते हैं जो मल मूत्र प्रस्वेद आदि मलोंके साथ वाहर निकलते हैं। साथ ही अधिकांश विष और मल श्लैष्मिक रूपमें बनते हैं जिनमें अम्ल बनानेवाले ही मौलिकोंका आधिक्य होता है * यह सब मल विविध रूप धर शरीरसे निकला करते हैं। रवादार और श्लैष्मिक पदार्थोंमें यह अन्तर है कि यद्यपि दोनों जलमें घुल जाते हैं, तथापि झिल्लीमेंसे रवादार लवणका घोल तो आरपार रस रसकर निकल जाता है, पर श्लैष्मिक पदार्थ झिल्लीके पार नहीं जाता। रस रसकर निकल न जानेके कारण यह झिल्लीकी दीवारोंपर दबाव डालता है, नलिकाओंमें इकट्ठा होकर राहमें रुकावट डालता है। श्वेतकण या श्वेताणु भी डाक्टर पावलके अनुसार श्लैष्मिक विषके कण हैं, जो वालसे भी बारीक नलिकाओं

* विकारजन्य श्लैष्मिक मल और विष यह हैं—
Cadaverin, Cholin, Amylamin, Gadmin, Betain, Hydrocolloidin, Putrescin, Neurin, Mydatoxin, Guanidin, Gerontin, Paraxanthin, Xanthin, Xanthocreatin and Reducin. इनके नाम और सांकेतिक चिह्न हिन्दीमें देना व्यर्थ है। अंग्रेजीमें भी वही समझ सकते हैं जिनका (Physiological Chemistry) देह-रसायनमें अच्छा प्रवेश है। ले०

या केशिकाओंके भीतर ठसकर रक्तकी राह रोक देते हैं। इसीसे सूजन या वरम दिखाई पड़ता है, पीड़ा और तनाव मालूम होता है। इस दशाके उत्पन्न होनेसे वही सड़ना और उभारकी क्रिया होती है जिसे हम पहले दिखा आये हैं। इसमें प्रमित और अप्रमित काममें लगे प्राणकण बढ़ विकसकर रोगाणु बन जाते हैं जो श्वेतकणों और श्लैष्मिक मलोंको तोड़ तोड़कर, खा खाकर, पचा पचाकर, छोटे छोटे यौगिक अम्लरूपी मल बनाते और त्याग करते हैं जिनकी सूची हम ऊपर दे चुके हैं। अब इन यौगिक मलों अम्लोंसे मौलिक वा मूलकल्प क्षारोंसे संयोग होता है जिससे लवण बनते हैं। मलों और विषोंके समाप्त हो जानेपर या तो रोगाणु उनके साथ ही बाहर निकल जाते हैं जो बाहरी रोगाणु बन जाते हैं या स्वयं मर जाते हैं, शरीरके भीतर ही खण्ड खण्ड होकर पुनः प्राणकण बन जाते हैं।

आधुनिक डाकटरी चिकित्सा विपरीत है। डाकटरने कफकी परीक्षा करके देखा कि राजयक्ष्माके कृमि मौजूद हैं और अत्यधिक हैं। उन्होंने इन कृमियों या रोगाणुओंके नाशके लिये हरिणजलके योगवाली दवाएं दीं। हरिण उग्र विष है, प्राणनाशक है। उसने राजयक्ष्माके रोगाणुओंका नाश करना शुरू किया। यह रोगाणु क्या करते थे? वस्तुतः फुप्फुसमें इकट्ठे श्लैष्मिक मलको खा रहे थे। अप्रमित विकारोंसे, विषोंसे, फुप्फुस भरा हुआ है, सड़ रहा है, उसके मांस-कणोंका जो क्षय

हो रहा है, वह भीतरी प्राणकणोंके अप्रमित विकारोंसे हो रहा है, वह मिथ्याहार विहारसे हो रहा है, अस्वाभाविक जीवनसे हो रहा है, विषोंका और मलोंका फुप्फुसमें इकट्ठा होना जारी है। रक्तके शोधनेका स्थान फुप्फुस है, यदि रक्तका मल यहां ओषजनरूपी (Incinerator) जलानेवाली वायुसे भी बच जाय तो उसको साफ करनेको भङ्गी जरूर चाहिये। यह सूक्ष्म भङ्गी हैं जिन्हें डाकटर "रोगोत्पादक" कहते हैं और जिनको मारनेका उपाय करते हैं। फलतः भङ्गियोंकी मृत्युसे शरीर भरमें मल इकट्ठा होता है। देखनेमें रोगीका वजन बढ़ता है, परन्तु विष इकट्ठा होता रहता है, शरीरमें रूपान्तर धरता रहता है, रोग जीर्ण हो जाता है, डाकटर परीक्षा करके यही कहता है कि "क्षयरोग जड़से तो कभी अच्छा होता नहीं, मरीजको हर हालतमें होशियार रहना चाहिये।" क्षयरोगी बीसों बरसतक जीता है, पर सदा उसकी जान जोखोंमें रहती है और क्षयरोगके बदले और रोग, जीर्णताके रूपान्तर, तो उसे सताते ही रहते हैं। जितनी चिन्ता उसे ऐसी दशामें करनी पड़ती है, उससे कम ही चिन्तासे वह स्वाभाविक जीवन संयमसे बिता सकता और नीरोग भी रहता और दीर्घायु भी होता।

हम देखते हैं कि जहां कहीं मल देरतक पड़ा रहता है शूकरादि बड़े जानवर उसे पहले ही साफ कर डालते हैं। उनकी पहुँच न हुई तो छोटे कीड़े और गुबरैले अपना काम

शुरू कर देते हैं। यदि गन्दगी मलके कारण है तो मलको ही दूर करना बुद्धिमानी है। कीड़ों और गुबरैलोंपर विष डालने या सूअरोंको हाँक देनेसे और मैलेको केवल ढाँक देनेसे तो गन्दगी फैलेगी। दूर कदापि न होगी। गंदगीसे जो कुछ बिगाड़ है, इस बुद्धिहीनतासे बढ़ता ही है, घटता नहीं। देखा जाता है कि जिन रोगियोंके विषकी उग्रता बढ़ गयी है, उनके रोगाणुओंको विषसे नष्ट करनेसे कुछ लाभ नहीं होता। प्राणशक्ति जब देखती है कि उधर बाहरसे हमारे काममें बाधा पड़ रही है और इधर जीवनका जोखिम है, तो हजार भङ्गियोंके विषसे मारे जानेपर वसिष्ठकी कामधेनुकी तरह दस हजारकी भंगी-सेना तैयार करती है। डाक्टर घबराता है कि अब रोग असाध्य है क्योंकि रोगाणु बाढ़पर हैं। यद्यपि कारणके सम्बन्धमें उसकी कल्पना ठीक नहीं है, तथापि कार्य्यका अनुमान, अर्थात् रोगकी असाध्यता नहीं तो भयङ्करता अवश्य ही ठीक है। अपनी जान वह स्वभावकी सहायता करना चाहता है, पर उसीके अज्ञानसे उसके सारे जतन उलटे पड़ते हैं।

शरीरमें जो सत्रह मौलिक पदार्थ हैं, उनमें अधिक मात्रा-उन्हींकी है जिनसे अम्ल बनता है। नित्यके होते रहनेवाले विकारोंमें क्षारों, अम्लों और लवणोंकी रासायनिक क्रिया बराबर होती रहती है। देह रसायनकी दृष्टिसे अम्लों और क्षारोंका मात्रासामञ्जस्य ही स्वास्थ्य है, असामञ्जस्य ही रोग है। इस असामञ्जस्यके हम यहां थोड़ेसे उदाहरण देंगे।

स्वस्थ शरीरमें साधारणतया मूत्राम्ल बहुत थोड़ी मात्रा-में पाया जाता है। इसके बढ़नेसे शरीरमें गठिया वात रोग हो जाता है, तथा और रोगोंके कष्ट भी बढ़ जाते हैं। रक्तमें बहुत अल्पमात्रामें इसका रहना कुछ हितकारी है, पर अधिक मात्रामें होना ही कष्टकर है। रक्त क्षारमय होनेके कारण मूत्राम्लको खींच लेता है, मूत्रेत नामक लवण बनाकर प्रस्वेद और प्रस्रावसे निकाल देता है। परन्तु यदि स्थिति ऐसी हो कि मूत्रेत बनकर बाहर उचित और पर्य्याप्त मात्रामें निकल न जाने पावे अथवा अधिक नत्रजनमय पदार्थ जैसे दाल वा मांसादि खानेसे मूत्राम्लकी मात्रा अत्यधिक हो जाय, तो रक्त इस अम्लको न तो घुला सकता है, न लवण बना सकता है, बल्कि नत्रजनीय और मूत्राम्लमय पदार्थोंका श्लैष्मिक मल बन जाता है जो रक्तके मार्गमें रुकावट डालता है और धम-नियोंसे शिराओंतक भी पहुँचने नहीं देता, केशिकाएँ भठ जाती हैं। हृदययन्त्रकी जितनी दूरीपर यह घटना होती है उतनी ही अधिक रुकावट होती है क्योंकि रक्तकी धाराका वेग उतना ही कम होता जाता है। यही बात है कि शरीरके ऊपरी तलोंपर और हथेलियों और तलवोंमें रक्त-प्रवाहका वेग कम रहा करता है। इसकी जांच सहज ही हो सकती है। तलवेके बीच भागमें दहने हाथकी बिचली अँगुलीसे जोरसे दबाइये और कुछ सेकण्डोंके बाद छोड़ दीजिये। तुरन्त देखिये, दबनेवाली जगहपर एक सफेद दाग बन जाता है। यह दाग

एक दो सेकंडमें लाल हो जाय तो ठीक है। यदि चार पाँच या अधिक सेकण्ड लगें तो समझिये कि मूत्राम्ल या श्लैष्मिक मलोंका अवरोध रक्तमें अवश्य ही है। मूत्राम्लके रक्तमें इकट्ठे होनेका यह लक्षण डाकटर हेगने बताया है। डाकटर हेगपर टिप्पणी करते हुए लिंडलार कहता है कि कर्बनिकाम्लके इकट्ठे होने और ओषजनकी कमीसे भी श्लेष्मा इकट्ठी होती है और इसी प्रकार रक्तका वेग (blood pressure) हृदयसे दूर प्रदेशोंमें घट जाता है।

श्लेष्मा या कफके कारण अथवा अन्य मलोंके अवरोधसे जब केशिकाएं भरी रहती हैं तब धमनियोंमें रक्तका वेग और दबाव बहुत बढ़ जाता है, दिमाग, दिल, फेफड़े आदि भीतरी अङ्गोंमें दबाव अधिक हो जाता है, नाड़ीका वेग बढ़ जाता है। ऊपरी तलोंपर हाथ पाँव आदिमें और शिराओंमें वेग इतना घट जाता है कि हाथ पाँव ठंढे जान पड़ते हैं। दिमाग गरम हो जाता है, चाँदीपर गरमी मालूम होती है। शिराओंसे हृदयको लौटता हुआ नीला गन्दा खून धीरे धीरे मलसे लदा आता है क्योंकि उसपर धमनियोंके रक्तके वेगका प्रभाव नहीं पड़ता, केशिकाओंपर ही वेगका बहुतसा बल नष्ट हो जाता है। इस तरह रक्तका उचित संचार और उसके द्वारा पोषण रुकता है, घट जाता है, और मलोंका अवरोध अनेक भयङ्कर लक्षण दिखाता है। गांठोंमें दर्द, सिरमें पीड़ा, मांसपेशियोंका दुखना, सिरमें रक्तका आधिक्य, शरीरका लाल

पीला होता रहना, चक्करका आना, जीका उदास रहना या डूबना और मिरगीतक इनका कुफल होता है।

मूत्राम्ल और श्लेष्मिक विकारोंसे ही फुप्फुसमें, वायुरंध्रोंमें, आमाशयमें, अन्तड़ियोंमें, मूत्र और जननेन्द्रियोंमें जलन पैदा हो जाती है। कफकी झिल्लियां सूज आती हैं, दाने पड़ जाते हैं, मवाद इकट्ठा होने लगता है। नाड़ीकी गति तीव्र हो जाती है, धुकधुकी बढ़ जाती है, हृदयमें पीड़ा आदि रोग हो जाते हैं। श्लैष्मिक विकारोंसे यकृत वृक्क आदिकी सूक्ष्म नालियां भी भठ जाती हैं, जिससे यह अङ्ग अपने कर्त्तव्य-पालन नहीं कर सकते और शरीरमें मलों और विषोंका संचय अधिकाधिक होने लगता है।

गन्धकाम्ल, स्फुरिकाम्ल और टोमेन लूकोमेन आदि अन्य विषों और मलोंके कारण भी, जो पाचन-क्रियासे एकत्र होते हैं, यह सारे उपद्रव बढ़ जाते हैं। इन सबका एक नाम "श्लैष्मिक रोग" वा "श्लेष्मा" है।

रक्तमें श्लेष्माके घुलानेकी शक्ति परिमित होती है। श्लेष्माके अधिक घुले रहनेकी दशामें "श्लेष्मा" रोगके ऊपर बताये हुए कष्ट थोड़े बहुत होते रहते हैं। परन्तु ऐसी दशामें जब दाल, मांस, मद्य, कहवा आदि नत्रजनीय पदार्थ प्रचुर परिमाणमें भोजनद्वारा पहुँचाये जाते हैं, तो मूत्राम्ल तथा श्लैष्मिक मलोंकी मात्रा इतनी बढ़ जाती है कि रक्त उनसे "संपृक्त" हो जाता है और संपृक्त होते ही श्लेष्माका

अधिकांश मांसकणोंपर पतित हो जाता है और रक्तमें थोड़े ही परिमाणमें श्लेष्मा रह जाती है। एकाएकी तबियत अच्छी हो जाती है, मानों कोई शिकायत ही न थी। शराब पीनेपर सरूर गठनेका कारण यही है। चा, कहवा, मांसादि पी खाकर इन्हींसे ताजगी मालूम होती है। पी खाकर रातभरके आराममें फिर रक्तमें क्षारपन एकत्र होता है, फिर श्लेष्मा खिंचकर रक्तमें घुलने लगती है, फिर "श्लेष्मा" रोगके लक्षण खड़े होते हैं। यही खुमारी कहलाती है। यही दशा कहती है कि और मदिरा लाओ और मांस लाओ। मदिरा मांससे ऊंथिन नामक पदार्थ बनकर रक्तकी श्लेष्माको पतित करके सरूरकी दशा पैदा करता है। और फिर वही खुमारी आती है। शराबीकी आदत पड़नेका कारण यही है। इस तरह मलपर मल और विषपर विष जमा होकर गठियाबाद पैदा होती है और शराबी कबाबीकी बुरी हालत हो जाती है। परन्तु कोई ऐसा न समझे कि दाल आदि नत्रजनीय पदार्थोंको अधिक मात्रामें खानेवाला इससे बचा रहता है। अम्ल, ऊंथिन और खटिक अक्सलेत धमनियों और शिराओंकी दीवारपर चिप्पड़ जमा देते हैं, रक्तवाहिनियोंका व्यास और आयतन घट जाता है, कड़ी पड़ जाती हैं, उनका लचीलापन नष्ट हो जाता है, और अन्तमें कम रक्तके संचारसे दिमाग और दूसरे महत्वके अंगोंका पोषण घट जाता है। वाहिनियोंका लचीलापन नष्ट होनेसे भंजनशील हो जाती हैं, टूट जाती हैं और नकसीर फूटना

आदि रक्तस्रावकी शिकायतें अक्सर होने लगती हैं। ऐसी दशामें दिमागका सुस्त हो जाना, पक्षाघात आदि रोगोंके लक्षण पैदा होते हैं। कुछ स्वभावके लोगोंको इन्हीं कारणोंसे अश्मरी (पथरी) आदि मसाने और गुर्देके रोग हो जाते हैं।

डाक्टर हेगका मत है कि मूत्राम्लजनित रोग दो श्रेणियोंके हो सकते हैं। अस्थायी वह जिनका सम्बन्ध रक्तसंचारतक रहता है। स्थायी वह जिनमें कि मूत्राम्ल पतितावस्थामें मांसकणोंपर इकट्ठा हो जाता है। परन्तु रोग एक ही है, दो नहीं। हां, अस्थायी दशामें मूत्रमें अम्लत्व अधिक रहता है, क्योंकि मूत्राम्ल घुलित होता है, पतित नहीं। स्थायी दशामें मूत्रका अम्लत्व घट जाता है।

मूत्राम्लके साथ जंथिनोंकी भी चर्चा हम करने आये हैं। चा, कहवा, तमाखू, मटर, सेम, मसूर, चना, अरहर, मोथी, माश, इत्यादि दालोंमें जंथिनकी प्रचुर मात्रा है। यह मांससे बढ़कर हैं, घटकर नहीं। इनका अधिक सेवन भी विचारणीय है। तमाखू तो पूर्णतया विष है। चा, कहवा थोड़े थोड़े। इनका सेवन सर्वथा वर्ज्य है। दालोंका सेवन भी बहुत थोड़ा करना चाहिये। "प्रवृत्तिरेषः भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला।" दालोंकी जगह सबजी, फलादिका व्यवहार अधिक करे। परन्तु इस विषयपर भोजन-विचारमें विस्तारपूर्वक चर्चा होगी।

(१४) निर्णयावसर और वारी

हमने अन्यत्र संकटकालकी चर्चा की है। रोगीकी उग्र दशामें एक समय अत्यन्त कष्टका आ जाता है जो इसपार या उसपार-का निर्णय करता है। जिस संकटके बीतनेपर स्वभावकी जीत होती है और रोगका शमन होने लगता है उसे स्वास्थ्य-संकट और [रोगकी जीत होती है और मृत्यु हो जाती है उसे मृत्यु-संकट कहा गया है। यही संकटका समय इस बातके निर्णय-का समय होता है कि रोगी बचेगा या न बचेगा, रोग साध्य है, कष्टसाध्य है वा असाध्य है। यह निर्णयावसर रोगके शमन और मृत्यु दोनों ही दशाओंके पूर्व ऐसा समान होता है कि यह कहना कठिन होता है कि परिणाम क्या होगा। भयानक जुकाम, खूनी बवासीर आदिसे रक्तस्राव, फोड़े, नासूर, जहर-बाद, चेचक आदि विस्फोटक, अतीसार, अत्यधिक प्रस्वेद, आदि सभी तरहके उभार दोनों दशाओंमें होते हैं। जो मनुष्य स्वाभाविक जीवन बिताता है,युक्ताहार-विहारके नियमोंका कुछ न कुछ पालन करता है, मिथ्याहार-विहारसे भरसक बचता रहता है, उसके शरीरमेंसे भी थोड़े बहुत संचित मलों और विषोंका उद्गार होना कभी कभी आवश्यक है। यह उद्गार उग्र-रूप धारण करता है। इसकी संकटावस्था स्वास्थ्यकी ओर ले जानेवाली है। इसमें स्वभाव भावी रोग-निवारणके लिये सफाई करता है। स्वभाव प्रबल रूपसे रोगपर चढ़ाई करता है और 'रोगका निवारण करके रणभूमिसे विजयी लौटता है।

इस तरह सदैव स्वाभाविक जीवन वितानेवाला कभी कभी इन छोटी छोटी उग्र व्याधियोंद्वारा शरीरका शोधन करता रहता है। मनुष्य जब संयमको भूल जाता है, विषयोपभोगमें लिप्त होकर शरीरको विषोंसे भर लेता है, उग्र व्याधियोंका तात्कालिक प्रतीकार करके उन्हें दवाता रहता है, तो उसके शरीरमें जीर्ण व्याधियां अपना घर कर लेती हैं, भाँति भाँतिके जीर्ण रोगोंसे पीड़ित रहता है। परन्तु शरीरके भीतर मल और विषोंकी मात्रा एक हद्तक रह सकती है। अपरिमित विष और मलके एकत्र होनेकी समाई कहां है? जब हद्से ज्यादा विष एकत्र हुआ तो अन्ततः फिर उग्र रोगकी अवस्था आ जाती है। स्वभावको विषम उपचारों और कड़ी ओषधियोंसे बराबर दवाया गया है। प्राणशक्ति दिनपर दिन क्षीण होती आयी है। स्वभाव अब यथेष्ट काम नहीं कर सकता। ऐसी दशामें रोगकी उग्रावस्था विषोंके अनिवार्य्य उभारके कारण हुई है, स्वभावके सफाईके प्रयत्नसे नहीं हुई है। विषकी स्वभावपर चढ़ाई होती है, स्वभाव अपनी रक्षाके लिये उद्योग करता है। परन्तु विषोंकी प्रबलताके आगे अब स्वभाव दब जाता है। विष निकलते हैं सही, पर प्राणके साथ ही साथ निकलते हैं। संखिया खानेवालेके शरीरसे दस्तोंकी राहसे संखिया-विष निकलता है अवश्य, परन्तु जब सारे शरीरमें उसका संचार हो चुका है तब केवल दस्तोंसे निकल जाना संभव नहीं, इसीलिये संखियाके साथ ही साथ प्राण भी निकल जाते हैं, इसी

तरह शरीरके भीतर भरे हुए विषकी मात्रा जब शरीरकी सहन-शक्तिसे अधिक हो जाती है और वह विष पर्य्याप्त परिमाणमें निकल नहीं सकता, तब मृत्यु हो जाती है। इस संकटावस्था-को मृत्युसंकट कहते हैं। संकटकाल इस तरह निर्णयावसर है। प्रत्येक रोगीका निर्णयावसर रोगकी अवस्थापर निर्भर है। परन्तु उसके लिये निश्चित:काल है और अनुभवी चिकित्सक रोगीकी अवस्थापर पूर्ण विचार करके इस निर्णयावसरको पहलेसे बता भी सकता है। निदानकी रीतियोंसे वह वर्त्तमान और भावी लक्षणोंको भी बता सकता है।

विषों और मलोंके उद्गारमें स्वभावकी शक्तियोंको निश्चित कालतक काम करना पड़ता है। सारे अङ्गमें फैले हुए पदार्थको निकालनेकी हर तय्यारीमें समय लगता है और हर तय्यारीके बाद संकटावस्था आती है। जब मलेरिया ज्वरकी चढ़ाईमें उसे दबानेके उपाय किये जाते हैं तो बहुधा अंतरा, तिजारी, चौथियाका रूप धारण करता है, या बराबर बना रहा तो सात सात दिनपर अपने लक्षण बदलता है और सङ्कटावस्था उपस्थित हुए बिना यह परिवर्त्तन संभव नहीं है। प्रत्येक स्वास्थ्य-सङ्कट तन्दुरुस्तीकी राहकी एक मञ्जिल है, स्वास्थ्यके मार्गकी एक चट्टी है। यहां हम तीव्र दुःखके बाद ही आराम पाते हैं और भावी अधिक सुखकी नीवँ पड़ जाती है। बारीके रोगोंमें एक विशेषता होती है। प्रायः सात घण्टे, या सातके पहाड़ेवाले घण्टे, अथवा सात घड़ी, सात पहर, या सात दिन

या सात सप्ताह आदिके हिसाबसे संकटावस्था आकर पड़ जाती है। इसे ही बारी बारीसे रोगका आना कहते हैं। परन्तु यह वस्तुतः रोगकी उग्रताका भिन्न कालोंमें विभक्त हो जाना है। सातका अंक प्रकृतिमें बड़े महत्वका अंक है। शब्द, रूप, रस, तो सात अंकोंमें विभक्त हैं ही, यदि स्पर्श और गन्धकी भी अधिक विवेचना करें तो सम्भवतः सात श्रेणियोंमें वह भी विभक्त हो जायँ। सात संख्याके वाचक द्वीप, सिन्धु, अश्व, अर्चिष्, जिह्वा, इत्यादि इतने हैं, कि यहां उनपर इशारा काफी है। संकटावस्था भी इसी संख्यापर आती है, यह बात भी अत्यन्त स्वाभाविक है।

अन्तिम संकटावस्था वही है जिसके साथ मृत्यु होती है। यद्यपि हम कह आये हैं कि यहां रोगकी शक्ति प्रबल होती है, परन्तु यह याद रहे कि शरीरकी अयोग्यताके कारण ही मृत्यु होती है। अतः मृत्युद्वारा प्रकृति आत्माको निकम्मे शरीरसे अलग करके अच्छे शरीरमें ले जाती है। इस क्षुद्र पार्थिव जीवनसे हटाकर ऊंचे स्वर्गीय जीवन अथवा नये शरीरवाले पार्थिव जीवनमें पहुँचाती है। अतः मृत्यु उसी तरह स्वागतके योग्य है जिस तरह संकटावस्था। सातकी संख्या बारी बारीसे अवस्थामें जैसा परिवर्त्तन लाती है मानवजीवनमें भी उसी तरहका परिवर्त्तन स्पष्ट है। सात बरसतक बच्चा एकदम निस्सहाय होता है। चौदह बरसतक कुमारावस्था, इक्कीस बरसतक किशोरावस्था, अट्ठाईस बरसतक जवानी, पैंतीस

वरसतक जवानीकी बाढ़ पूरी होती है। बयालीसवें बरसतक पूरी प्रौढ़ावस्था होकर मनुष्य अपने जीवन-मार्गको बदलनेकी तय्यारी कर लेता है। उनचासवें बरसतक स्थिर प्रौढ़ बुद्धि हो जाती है। अनुभव उसका रङ्ग बदल देता है। रूपका बहुत परिवर्त्तन हो जाता है। फिर दूसरा सप्तक चलता है। मनुष्यका जीवन १२० वर्षका समझा जाता है। ११९ पर तीसरे सप्तकका इक्कीसवां वर्ष पूरा होता है। शरीरका अन्त होनेपर फिर और चक्रोंका आरम्भ होता है—

देहिनोऽस्मिन्यथादेहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।

(१५) प्राणशक्ति

मानव शरीरके अद्भुत यंत्रका संचालन जन्मसे लेकर मरण-तक बहुत उत्तमतासे होता रहता है, पर मनुष्य नहीं जानता कि इस सुन्दर प्रबन्धका करनेवाला कौन है। मनुष्यकी चेत-नाका विकास जन्मसे ही होने लगता है। शरीरका भी विकास साथ ही साथ चलता है। पर प्रत्येक व्यक्तिमें, प्रत्येक प्राणीमें, बल्कि भूतमात्रमें व्यक्तिगत जीवनका निरन्तर विकास या विकार होता रहता है, एक ओर चेतनका दूसरी ओर शरी-रका। इस विकास या विकारका प्रेरक चेतनाशक्तिसे अधिक बुद्धिमान है, अधिक ज्ञानवान् है, इस बातका निश्चय उसके कामोंसे होता है। वैद्य, हकीम, डाकटर सभी इस विचित्र

यंत्रको ही आश्चर्यवत् देखते हैं, आत्माकी तो बात न्यारी है। बुकरातने कहा है कि हमारा इलाज करना अँधेरेमें ढेला मारना है। परन्तु सभी प्रत्यक्ष देखते हैं कि व्यक्तिकी भीतरी शक्ति उसके जीवनकी रक्षा बड़ी दृढ़तासे, बड़े निश्चयसे, बड़ी समझ-बूझसे करती रहती है। बहुधा उसे सहायता पहुँचानेके बदले चिकित्सक अपनी मूर्खतासे उसकी रक्षामें बाधक हो जाता है। इस शक्तिकी हम बराबर प्राणशक्तिके नामसे चर्चा करते आये हैं। यह वही प्राणशक्ति है जिसके लिये गीतामें कहा है:—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत्॥

और अन्यत्र भी "कूटस्थोऽक्षर उच्यते" से इसी ओर इशारा किया है। हमारे शरीरमें हृदयको हिलानेवाली, भोजनको पचानेवाली, सांसकी भाथीको चलानेवाली, रक्तका शोधन और संचार करनेवाली, मलों और विषोंको दूर करानेवाली, प्राणकणोंसे लेकर शरीरके बड़ेसे बड़े अविज्ञात कर्म्मोंकी संचालिका,—जिनपर अहंभाव रखनेवाली चेतनाका भी बस नहीं चलता,—वही शक्ति है जिसे भगवान्ने अपराप्रकृति कहा है। हम जो कर्म्म अपने संकल्पसे करते हैं, जिनपर हमारा काबू कुछ न कुछ अवश्य है—

पश्यन्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्।
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि॥

वह भी इसी भीतरी शक्तिकी प्रेरणा समझी जानी चाहिये, क्योंकि हमारे संकल्पकी उत्पत्ति जिस अन्तःकरणसे होती है, वह भी भीतरी इन्द्रियां ही है जिनके पीछे वही शक्ति लगी हुई है। जिन जिन भीतरी और बाहरी इन्द्रियोंतक उस प्रेरणाके स्फुरणको चलना पड़ता है उनकी कमजोरी और अपात्रता कर्म्मके रूपको थोड़ा बहुत विकृत या अनिष्ट कर देती है। ठीक प्रेरणाके अनुकूल हमारे कर्म्म नहीं हो पाते। भीतरसे भोजनके लिये प्रेरणा हुई। यह शरीरके पोषणके लिये आवश्यक समझा गया। इन्द्रियोंके द्वारा यह प्रेरणा जब चेष्टारूपमें परिणत हुई, तो मन अपनी कुप्रवृत्तिसे स्वादोंकी ओर झुका। इन्द्रियोंने भोजनके चुननेमें अपनी पसन्दसे काम लिया। यहीं आकर हमारे हाथों प्रकृतिके प्रतिकूल आचरणसे शरीरका अनिष्ट हुआ। यदि चेतनाशक्तिके इन व्यापारियोंको चुनावकी इतनी स्वतंत्रता न दी जाय तो फिर उस शक्तिका विकास कैसे हो? चेतनाशक्तिका विकास सृष्टिका उद्देश्य जान पड़ता है, और इसे भी प्रकारसे अभिन्न समझना चाहिये। उधर प्रेरणा हुई कि भोजन न किया जाय, भूख नहीं लगती है, अरुचि है। पर इधर इन्द्रियां स्वादकी ओर झुक रही हैं, मन स्वादिष्ट भोजन मांग रहा है। चिकित्सक भी मोहवश कहता है कि रोगी कमज़ोर हो जायगा, मर जायगा, इसे पथ्य अवश्य दो। भीतरकी अरुचिकी और निषेधकी परवा न करके वह स्वभावविरोध करता है। इस प्रकार भीतरी शक्ति और बाहरी प्रवृत्तिमें झगड़ा होने

लगता है, शरीरकी दुर्दशा हो जाती है। इस दुर्दशासे चेतना-शक्तिको पता लगता है कि बाहरी प्रवृत्ति अनिष्ट थी। अनुभवके कड़वे फल चखकर बुद्धि बढ़ती है और आगे उन कुवृत्तियोंका दमन करती है।

इस प्रकार स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीरोंपर एवं अन्न-मयादि पंचकोशोंपर उनकी रक्षाकी दृष्टिसे अपराप्रकृतिका शासन है। तो भी इन्द्रियोंको, भीतरी हों या बाहरी, उनकी मर्यादाके भीतर ही भीतर पूरी स्वतंत्रता है। विकासक्रम सृष्टिका उद्देश्य है। यह विकास विना विकारोंके संभव नहीं। विकार जीवनका लक्षण है। प्रमित विकारोंका होते रहना ही प्रकृतिका अभीष्ट है, परन्तु अन्तःकरण और बाहरी इन्द्रियोंकी स्वतंत्रता अप्रमित विकार उत्पन्न किये विना रह नहीं सकती। यह अप्रमित विकार ही शरीरमें "रोग" का रूप धारण करते हैं। अप्रमित विकारोंको घटाना और प्रमित विकारोंको होने देना ही आरोग्यसाधन है, सृष्टिका अभीष्ट है और वास्तविक विकास है।

इस प्रकार रोगको पैदा करनेवाली इन्द्रियां हैं और इन्द्रि-योंका राजा मन उनका प्रेरक है। मन ही अप्रमित विकारोंका उत्पन्न करनेका प्रधान कारण है। मन ही विषयोंका उपभोग करता है। मन ही जवीय है, चंचल है, अस्थिर है, विषयोंका लालची है, उनपर दौड़ता रहता है। समस्त रोगोंका यही मूल कारण है। प्राणीका आचरण जब प्रकृतिके अनुकूल होता है,

सदाचार कहाता है। प्रकृतिके विपरीत आचरण करना ही कदाचार है। जिस तरह कदाचार रोगोंका कारण है, सदाचार उनका शमन करनेवाला है, स्वास्थ्यका साधन है, रोगोंका इलाज है। काम, क्रोध, लोभ, ईर्षा, मद, मात्सर्य्य, हिंसा, असत्य, चंचलता, पिशुनता, क्रूरता, निर्लज्जता, द्रोह आदि मनके रोग हैं। इन्हींसे शरीरके रोगोंका आरंभ होता है। विषयवासनाएं प्राणीको आत्मसंयमसे दूर रखती हैं। वासनाएं ही मिथ्याहार-विहार, अनिष्ट चेष्टा, अपकर्म्म, अत्यधिक निद्रा, आलस्य, प्रमाद, और अत्यन्त श्रम या शक्तियोंका दुरुपयोग कराती हैं। और इन वासनाओंका पिता है मन। इसीलिये रोगोंका परम कारण मन ही ठहरा। इसलिये सबसे उत्तम चिकित्सा है "मनःसंयम", मनका साधन।

कूने आदि स्वाभाविक चिकित्साके आचार्य्योंने एक ही रोग और एक ही चिकित्साका प्रतिपादन किया है। इसमें सन्देह नहीं कि रोग एक ही है परन्तु उसके रूप अनेक हैं, सिलसिला स्वभावतक जाता है, इसी सिलसिलेसे यह पता लगता है कि रोगका मूल कारण है आत्म-संयमका अभाव। जो जितना संयमसे रहता है वह उतना ही अधिक रोगसे बचा रहता है। योगसाधन स्वास्थ्य-रक्षाका सर्वोत्तम उपाय इसीलिये है कि इससे अन्तःकरण और इन्द्रियां सर्वथा वशमें रखी जाती हैं। साधारण मनुष्य संयमसे नहीं रहता, इसीलिये रोग नियम हो गया है और आरोग्य अपवाद।

विषयवासनामें लिप्त होकर मनुष्य मिथ्याहार करता है तो शरीरमें अप्रमित विकार होते हैं और विषों और मलोंका संचय होता है, रस बिगड़ जाते हैं, और कामवासनामें लिप्त होकर अपनी शक्तिको क्षीण करता है, वातरोग बढ़ाता है। पाश्चात्य सभ्यताकी वासना उसे ऐसे कर्म्म और ऐसी चेष्टाओंमें लगनेको लाचार करती है कि वह अपनी परिस्थितिको अस्वाभाविक कर डालता है। इस प्रकार त्रिदोषकी उत्पत्ति मन और इन्द्रियोंकी उच्छृङ्खलतामें ही है। उच्छृङ्खलता ही प्रधान कारण है।

लोग विस्मरण, उन्माद, भ्रम आदिको मानसिक रोग समझते हैं। पाश्चात्य वैद्यप्रवरोंकी रायमें चोरी, ठगी, डाका, लालच आदि भी मानसिक रोग हैं। वैज्ञानिक पत्रोंमें अभी हालमें एक मानसिक रोगीका विवरण छपा था। एक लड़का बड़ा सौम्य, सुशील, सदाचारी था। ग्यारह बरसकी उमरमें उसे सिरमें भीतरी चोट आयी। दूसरे दिनसे ही वही लड़का आलसी, शरीर, चोर, ठग, और पढ़नेसे दूर भागनेवाला दुराचारी हो गया। इस तरह यह दुराचारी लगभग ३५ बरसकी उमरको पहुँचा। इस बीच दुराचारोंके लिये अनेक बार दण्ड भुगते। एक दिन हालकी ही बात है कि उसे फिर सिरमें चोट आयी और एकाएकी पूर्वकी सदाचारकी अवस्था फिरसे लौट आयी। चेहरेकी आकृति, जब ग्यारह बरसका था, चोटसे कुछ बदल गयी थी। इस बार उसकी आकृति कुछ फिर बदली। अब केवल सदाचारी, सौम्य, शान्त ही नहीं हुआ

वरन् अपनी इससे पूर्वकी दुराचारकी दुर्दशाको स्वप्न मानने लगा। इसमें सन्देह नहीं कि अनेक रोग जो पाश्चात्य पद्धतिमें मानसिक कहे जाते हैं, वस्तुतः मस्तिष्कके रोग हैं, परन्तु यह मानना पड़ेगा कि शरीरकी बनावटपर, दिमागके कोषोंके क्रम और रचनापर सदाचारकी अनेक बातें निर्भर हैं। जो उदाहरण हमारे सामने है उसमें रोगीको बाहरी चोट लगी थी, परन्तु चोटके सिवा आहार, विचार, संगति, कर्म आदिके सात्विक, राजस और तामस होनेसे भी मनुष्यमें सात्विक, राजस और तामस भाव आ सकते हैं। बुरे अन्न या तामसिक भोजनसे प्रमाद, आलस्य, निद्रा और अकर्मोंकी ओर रुचि और कुसंगतिकी ओर प्रवृत्ति बढ़ती है। इसीलिये चोरी आदिको भी मानसिक रोग मानना अनुचित नहीं है।

यह शरीर विकासका साधन है। जबतक इससे जीवका विकास होता रहता है तबतक इसकी रक्षा होती रहती है। शरीरका विकासके उपयुक्त बना रहना ही दीर्घायु है। प्रत्यगात्मा या प्राणशक्ति इस शरीरमें तभीतक रहनेको तय्यार है। जब शरीरमें विकास संभव नहीं होता, जब जीवित रहनेका उद्देश्य नष्ट हो जाता है, तो प्रत्यगात्मा उसे छोड़कर नया शरीर धारण करता है,

जिमि नूतनपट पहिरिकै नर परिहरइ पुरान।

ज्यों ज्यों शरीरमें विकासके साधन घटते जाते हैं त्यों त्यों प्रत्यगात्माके रहनेकी रुचि भी घटती जाती है। अर्थात् त्यों

त्यों प्राणशक्ति क्षीण होती जाती है। प्राणशक्तिके प्रबल रहनेका साधन है आत्म-संयम या योग। यही बात है कि योगसाधनसे योगी अपनी आयु बढ़ा लेता है और दीर्घकाल-तक व्याधि और जरासे मुक्त रहता है, बीमारी और बुढ़ापेका उसे अनुभव ही बहुत कालतक नहीं होता।
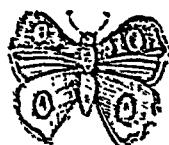
पाश्चात्य वैज्ञानिक भी "कलावन्नगतप्राणाः" कहनेवालोंकी तरह समझते हैं कि जीवन भोजनपर ही निर्भर है। यदि दो चार दिन भोजन न करें तो मर जायँ। इसमें सन्देह नहीं कि जब इतना विकास नहीं हुआ है कि इसके तत्त्वको मनुष्य समझ सके और जनसाधारणके विकासके लिये अन्नके द्वारा देहका पोषण अनिवार्य्य है, तो दुर्भिक्षमें असंयमके कारण जन-साधारणकी बड़ी संख्यामें मृत्यु हो जाना भी अनिवार्य्य है। पर जिन्होंने तत्त्वको समझा है, जिन्होंने संयम किया है, वह जान-बूझकर विधिपूर्वक उपवास करते हैं और कई महीनेतक उपवास करके भी केवल जीते ही नहीं, बल्कि ज्यादः तन्दुरुस्त हो जाते हैं। उनकी प्राणशक्ति बढ़ जाती है। तपस्वी और योगी अपनी आयु इसी तरह बढ़ाते हैं। इन बातोंसे स्पष्ट है कि दुर्भिक्षसे या फाकोंसे लोग नहीं मरते, बल्कि असंयमसे मर जाते हैं। फाके करते करते झटपट कहीं मिलते ही बुरी विधिसे अन्न खा लेते हैं। यही "लग" जाता है और मृत्युका कारण हो जाता है। इस विषयपर उपवास-चिकित्सा-प्रकरणमें विशेष विचार किया गया है।

मृत्युका कारण उसी तरह रोग नहीं होता, जिस तरह जन्मका कारण कोई रोग नहीं होता। लोगोंकी समझमें रोग इसीलिये मृत्युका कारण समझा जाता है कि मरनेके पहले कोई न कोई रोग प्रायः होता ही है। परन्तु असलियत यह है कि जब शरीरमें जीवात्माको रहना मंजूर नहीं होता,—चाहे शरीरकी खराबीके कारण हो, चाहे उस शरीरमें जीवात्माका काम पूरा हो जानेके कारण हो,—तभी जीवात्मा शरीरको छोड़ देता है। व्याधि या बुढ़ापा, या दोनोंसे शरीर अगर रहनेके लायक न रह जाय तो जीवात्माको छोड़ना शरीरकी खराबीके कारण जरूरी है। परन्तु ऐसा भी देखनेमें आया कि मनुष्य आरामसे सोया और नहीं उठा। या बैठे बैठे समाप्त हो गया। गरज कि बिना किसी रोग या बुढ़ापेकी शिकायतके "अकारण" ही मृत्यु हो गयी। डाकटर देखकर कहता है कि धुकधुकी बन्द हो जानेसे मृत्यु हुई, परन्तु यह कैसे भोलेपनका उत्तर है! मृत्युके बाद क्या किसीकी धुकधुकी चलती भी रहती है? उसका बन्द होना ही तो मृत्यु है। वह तो कारण नहीं है, प्रत्युत कार्य्य है। डाकटरके इस तर्कहीन उत्तरका अर्थ यही है कि वह कारण नहीं जानता। प्रत्येक व्याधिसे मृत्यु भी नहीं होती। इसीलिये ऊपर जो दो कारण हमने दिखाये वही शरीर-त्यागके वास्तविक कारण हो सकते हैं, यों सिलसिलेमें तो रोगके लिये कारण होगा अप्रमितविकार और उसका कारण होगा असंयम, इत्यादि।

योगद्वारा जरा भी टाली जा सकती है। परन्तु जरा कोई रोग नहीं है। बुढ़ापाका अर्थ यही है कि शरीरका उद्देश्य शीघ्र ही पूरा होनेवाला है। जन्म और मृत्यु अनिवार्य्य हैं। जरा और व्याधि निवार्य्य हैं। जन्म और मृत्युके बीच जरा और व्याधिका आना आवश्यक नहीं है।

हमने यह देखा कि जन्ममृत्यु जराव्याधिका कारण खोजें तो अन्तमें हमको परमात्माकी प्रकृतितक जाना पड़ेगा। इसमें सन्देह नहीं कि हमारी बुद्धिकी दौड़ बहुत थोड़ी है। जन्ममृत्यु जराव्याधिके रहस्यका भी वह यथावत् पता नहीं लगा सकती। अन्तमें यही मानना पड़ेगा कि—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति,
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया।
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ॥

तीसरा अध्याय

मिथ्योपचार

(१) मिथ्योपचार क्या है ?

हम यह दिखा आये हैं कि वास्तविक चिकित्सक स्वभाव है जो शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये भरपूर उद्योगमें रहता है, और सबसे उत्तम चिकित्सा वही है जिससे स्वभावको सहायता मिले। जिस किसी उपायसे स्वभावके काममें बाधा पड़े वह अवश्य ही मिथ्या उपचार है और वर्ज्य है। चिकित्साके जितने उपाय प्रचलित हैं उनमें अनेकका लक्ष्य स्वभावकी सहायता है, परन्तु उन उपायोंका देशकालपात्रके अनुसार सदुपयोग करनेवाले चिकित्सक कम हैं। ज्वर आया हुआ है, भूख नहीं लगती, परन्तु अनेक डाक्टर लंघनके बदले दूध सागूदाना आदि देते हैं और उसे कुपथ्यके बदले "पथ्य" कहते हैं। प्यास तेज लग रही है, ठंडा जल देनेसे गरमी कुछ शान्त होगी, ताप मिटेगा, परन्तु या तो पानी मना कर देते हैं या गरम दिलवाते हैं। शुद्ध वायु और रोशनी लाभकारी है, परन्तु रोगी बेचारेको ईश्वरकी दी हुई यह नियामतें, जो स्वभावको सहायता देनेवाली हैं, कम मिलती हैं। यह मिथ्योपचारके दो एक उदाहरण हैं जिसके दोषी साधारणतया वैद्य, डाकटर, हकीम

सभी पद्धतिके चिकित्सक होते हैं। यह प्रायः व्यवहारका दोष होता है, सिद्धान्तका नहीं। आयुर्वेदमें प्रकृतिकी सहायता तो एक खास बात है, परन्तु पाश्चात्य पद्धतिमें भी यह बात पूरी तौरसे मानी जाती है। यूनानी हकीमोंका यही सिद्धान्त है। सबसे पुराने हकीम बुकरात मशहूर हैं। संभव है कि इन्होंने आयुर्वेदकी शिक्षा पायी हो। एंसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिकामें इनके सिद्धान्तोंका दिग्दर्शन करते हुए उस निबन्धके लिखनेवालेने कहा है—

"बुकरातका एक दूसरा सिद्धान्त है जिसका प्रभाव अभी बना हुआ है। यह है, स्वभावकी स्वयं रोग-निवारण करनेकी शक्ति। परन्तु बुकरातकी यह शिक्षा न थी कि रोग-निवारणके लिये प्रकृति काफी है, क्योंकि बुकरात चिकित्सा और उपचारकी कलाको मानता था। उग्र रोगोंमें तो वह इतना जरूर मानता था कि वात पित्त कफमें स्वाभाविक विकार उत्पन्न होते हैं, पहले वह विकार विष और मलके रूपमें होते हैं, फिर इनका पाचन होता है, और अन्तमें वह शरीरके किसी न किसी मार्गसे निकल जाते हैं। चिकित्सकका कर्त्तव्य है कि इन विकारोंको पहलेसे समझ ले, स्वभावकी सहायता करे, या कमसे कम स्वभावके काममें बाधा न डाले, जिसमें चिकित्सककी सहायतासे रोगी रोगपर विजयी हो जाय। संकटकाल चिन्ताका विषय था और बुकरातके अनुयायी हकीमोंमें यही विशेषता थी कि संकटकालका अन्दाजा पहलेसे कर लेते थे

और ठीक ठीक वतला देते थे। कहा जाता है कि वुकरात फीसागोरसके सांख्यतत्त्वको भी मानता था और उसके अनुसार वह यह स्पष्ट वता देता था कि कितने युग्म या फुट दिनोंके पीछे संकटकाल आवेगा। इसके लिये कुछ हिसाव था। अंकगणितकी सहायता ली जाती थी। वुकराती हकीमोंमें "वुहरान" अर्थात् संकटकालका भविष्यवाद एक विशेषता थी। इस गुणमें उनके मुकावलेका आजतक कोई हुआ ही नहीं। निदानकी रीतियां अवश्य ही अपूर्ण रही होंगी क्योंकि रोगोंका वैज्ञानिक विवेचन, और देह-व्यवच्छेद आदिके आजकलकेसे उत्तम साधन उपलब्ध न थे। तो भी रोगके लक्षणोंपर वड़ी गंभीरतासे और शुद्धता और वारीकीसे विचार किया जाता था और वड़ी चतुराई और कौशलसे उनका अर्थ लगाया जाता था। आजकल वुकरातकी रचनाओंमें नाड़ी-विज्ञान नहीं पाया जाता, परन्तु उनके अनुयायियोंमें नाड़ी-विज्ञानपर अनेक ग्रन्थ प्रचलित हैं।

चिकित्साके सिलसिलेमें उनके अनुयायी पथ्यपर विशेष ध्यान देते थे। रोगभेदसे वड़ी वारीकीके साथ पथ्य-भेद भी होता था। जीर्ण रोगोंमें तो पथ्योपचार, विशेष ढंगके व्यायामादि और स्वाभाविक रीतियोंपर निर्भर करते थे।"

इस अवतरणसे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक डाकटरी उपचारोंके जन्मदाता वुकरात नहीं हैं। हमारे देशमें जिस तरह चरककी काष्ठ ओषधि प्रधान चिकित्सा

प्रमुखरासायनिक नागार्जुनके समयमें रसप्रधान चिकित्सासे बदल गयी, उसी तरह पाश्चात्य देशोंमें भी यूनानके चरक बुकरातकी स्वभाव-प्रधान चिकित्सा आधुनिक रासायनिक रीतियोंमें डूब गयी। इस स्थलपर हमारा विषय यह निर्णय नहीं है कि किस किस प्रकारसे भारतीय आयुर्वेद प्रकृत या विकृत रूपमें पाश्चात्य देशोंमें पहुँचा और किस प्रकार आधुनिक डाक्टरी-प्रथा विज्ञानके उत्तरोत्तर विकासके कारण अपने पुराने आयुर्वेदिक रूपसे नितान्त भिन्न पद्धति बन गयी है। हम इतना ही कहेंगे कि प्रचलित पाश्चात्य अलोपथी बुकरातके सिद्धान्तोंसे बिलकुल अलग होते हुए भी इस बातको मानती है कि डाकटरका काम है प्रकृतिकी सहायता। परन्तु व्यवहारमें इस बातपर अत्यन्त कम ध्यान देते हैं। प्रकृति तो चाहती है कि रोग उग्र रूप धारण करके मलों और विषोंको दूर करे। इसमें रोगीको अत्यन्त कष्ट होना बिलकुल स्वाभाविक है, एकदम अनिवार्य्य है। परन्तु रोगीका लक्ष्य होता है कष्ट-निवारण। चाहे जैसे हो, वह यही चाहता है कि हम कष्टसे बचे रहें। विषयका अनावश्यक उपभोग करके जो अधिक अनुपार्जित सुख भोग चुका है उसके प्रायश्चित्तमें दुःख भोगना पसन्द नहीं। इस बातको वह बिलकुल भूल जाता है कि हमें पूर्वकर्म्मोंका प्रायश्चित्त जरूरी है। सिरकी पीड़ा दूर करनेको चन्दन घिसनेकी दर्दसरी भी औरोंके माथे मढ़ता है।

लोग कहते हैं कि सन्दल दर्दसरकी है दवा
कूटना घिसना लगाना दर्दसर यह भी तो है !

रोगी बिलबिलाता है, छटपटाता है, और उसकी सेवा करनेवाले हितू उसका कष्ट देख नहीं सकते। वह इसी उद्देश्यसे डाकटर, हकीम, वैद्यको बुलाते हैं कि रोगीकी घबराहट और पीड़ा थमे, कष्टमें कमी हो। इस प्रधान लक्ष्यके साथ यह गौण उद्देश्य तो रहता ही है कि रोग दूर हो जाय। सच्चा समझदार और सर्वथा योग्य चिकित्सक तो स्वभावकी सहायता करनेवाली चिकित्सा करता है। रोगीका उपस्थित कष्ट उसके उपचारसे दूर भी हो जाता है और कभी प्रकृतिद्वारा प्रेरित स्वास्थ्य-संकटकी उग्र दशा लाचार करती है कि चिकित्सक छेड़छाड़ न करे। ऐसी दशामें सच्चा चिकित्सक कष्ट-निवारणको अपना प्रधान उद्देश्य नहीं रखता और उभारकी दशाको दबानेकी चेष्टा नहीं करता। उसका लक्ष्य होता है स्वभावकी सहायता। परन्तु रोगी और उसके दुर्बुद्धि हितैषी प्रत्यक्ष देखते हैं कि चिकित्सकके उपायोंसे कष्ट रत्तीभर घटा नहीं तो समझते हैं कि चिकित्सक अयोग्य है। दूसरा डाकटर आया। इस बीच यदि संकटावस्थाका अन्त हुआ तो परमेश्वरकी दया और पहले डाकटरका प्रभाव समझा जाता है। अन्त न हुआ तो दूसरा डाकटर भी उपाय करता है। बुद्धिमान डाकटर रोगको दबानेकी चेष्टा नहीं करता। यदि संकटावस्थाका अन्त हो गया तो दूसरे डाकटरको रोगनिवारणका

यश मिलता है। न हुआ, तो तीसरा आया। परन्तु संसारमें सच्चे और निर्भीक बुद्धिमान चिकित्सकोंकी संख्या बहुत नहीं है। प्रायः अपने पेशे और नामके लिये चिकित्सक ऐसी ओषधि देता है ऐसे उपचार करता है कि रोगकी उग्रता दब जाय और रोगीको कुछ आराम मिले। ऐसे उपायसे डाकटरमें तुरन्त विश्वास उत्पन्न हो जाता है। साथ ही उग्रताके दब जानेसे या तो किसी और अंगमें उग्रतर रूपमें रोग उत्पन्न होता है, या जीर्णरोग होकर शरीरको स्थायी रूपसे रुग्ण कर देता है। रोगीको यह पता नहीं कि प्रकाश रूपसे चंगा करनेवाले डाक-टरकी ही यह करतूत है। ऐसे प्रिय दिखा अहित करनेवालोंकी संख्या थोड़ी नहीं है।

सचिव वैद्य गुरु तीन जो प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म्म तन तीनिकर होइ बेग ही नास॥

रोगसे व्याकुल होकर रोगी तो केवल कुपथ्य ही नहीं माँगता, कभी कभी तो आत्महत्याके लिये तय्यार हो जाता है, परन्तु सच्चे वैद्यका काम है कि हित-उपचार करे, चाहे वह कितना ही अप्रिय क्यों न हो। अपयश और रोजगारके न चलनेके डरसे रोगीका अहित नहीं करना चाहिये।

अनेक चिकित्सक बुरी शिक्षा और अपने अज्ञानके कारण भी रोगीका अनिष्ट कर देते हैं। चेचकका टीका, प्लेगका टीका या अन्य टीके, रोगनिवारणके लिये विषोंकी पिचकारियां, अंगहीन कर डालनेवाली शल्य-चिकित्सा, कड़ी कड़ी विषमय

ओषधियां, उलटे प्रकारका पथ्य, इत्यादि अनेक मिथ्योपचार आजकलके सभ्य कहलानेवाले देशोंमें केवल प्रचलित ही नहीं हैं वरन् कानूनके बलसे जारी किये जाते हैं। इनसे क्या क्या दोष उत्पन्न होते हैं, इनका वर्णन अलग अलग प्रकरणोंमें किया जायगा।

(२) टीका और विषकी पिचकारी

भारतमें कानूनके* बलसे सबसे भ्रष्ट और सबसे अधिक हानिकर उपचार जो प्रचलित है, वह सीतलाका टीका है। गायके थनपर विस्फोटक हो जाते हैं, उसका मवाद लेते हैं। मनुष्यकी बाँहपर दोहरा स्वस्तिक सुईसे बनाते हैं, और जब जरा जरा रक्त इस स्वस्तिकपर निकलता रहता है, वही मवाद् लगा देते हैं। हिन्दूके लिये तो यह रीति अत्यन्त गन्दी है, परन्तु हानि यहींतक मर्य्यादित हो तो कुशल है। जिस प्राणीसे यह मवाद् लिया जाता है उसके अनेक तरहके विषका भी शरीरमें इस तरह प्रवेश होता है। यह अत्यन्त घृणित और अत्यन्त हानिकर क्रिया है।

---

* सन् १८८० का ऐक्ट १३ वैक्सीनेशन ऐक्ट कहलाता है। टीका लगवानेसे पहली बार इनकार करनेवालेको पचास रुपयेतक जुरमाना होता है। दोबारा इनकार करनेवालेको छः महीनेतककी कैद या एक हजार रुपयेतक जुरमाना, अथवा दोनों। बारम्बार यही पिछली सजा हो सकती है। ले०

विस्फोटक क्या है? उग्ररोगद्वारा शरीरके विषोंका उद्गार। उसका मवाद उन विषोंसे भरा रहता है जिसे प्रकृति गायके शरीरसे बाहर कर रही है। मनुष्यकी अपेक्षा पशुओंका जीवन अधिक स्वाभाविक है। इसीलिये उनके शरीरके विष जो कुछ होते हैं प्रायः उग्र उद्गारसे शीघ्र निकल जाते हैं। विस्फोटकका मवाद शुद्ध एक ही प्रकारके विषका मवाद तो होता नहीं। फोड़ा तो जहर दूर करनेका साधन है, जहर चाहे जिस प्रकारका हो। इसीलिये गायके स्तनके विस्फोटकके विषोंका संमिश्रण मनुष्यके शरीरमें प्रविष्ट कराया जाता है। पंचगव्यकी रीतिपर तो अनेक नयी रोशनीके लोग हँसते हैं, पर उन्हें टीकाकी रीतिपर, जो विदेशी सभ्यताका हमारे ऊपर अत्याचार है, रोना चाहिये। इससे बालकके कोमल पवित्र शरीरमें अनेक तरहके विष इसलिये डाले जाते हैं कि वह चेचकके विषके आक्रमणसे बचा रहे। परन्तु बाहरसे आनेवाले काल्पनिक और आकस्मिक विषके लिये वास्तविक और उग्रविषोंका मिश्रण जबर्दस्ती उसके रक्तमें डाल दिया जाता है। इसके लिये कांटेसे कांटा निकालनेकी या "विषस्य विषमौषधम्" की अयुक्त युक्ति पेश की जाती है। यह बात हमें बिसर जाती है कि दुश्मन भी चढ़ाई कर सकता है, इस डरसे खलिहान जला डालना, खेतोंको ऊसर कर देना, गिरस्ती बरबाद कर देना बुद्धिमानी नहीं है, इसी तरह यह भी अकलमन्दी नहीं है, शायद कभी चेचक न हो जाय इसलिये

उससे भी भयानक विषोंको अपने पवित्र शरीरमें स्थान दें। पहले तो हम स्वाभाविक युक्ताहार-विहारसे जीवन रखें तो हमें बाहरी आक्रमणका भय होना ही न चाहिये, क्योंकि कोई रोग बाहरी आक्रमणसे (बाहरी चोट आदिको छोड़) नहीं हो सकता। यदि हमारे घरके भीतर कूड़ा या मैला है, तो बाहरसे मक्खियां आके भिनकेंगी और हमसे यह देखा न जायगा, हम जरूर कूड़ेको दूर कर देंगे। हम यदि कूड़ेको घरकी सफाईके लिये फेंकें और उसका कारण कोई मक्खियोंको समझ ले तो उसकी बुद्धिका क्या इलाज है! शरीरमें विष और मल अप्रमित मात्रामें मौजूद होनेकी हालतमें चेचक, हैजा, प्लेग इत्यादि रोगोंका होना अनिवार्य्य है। लोग घबरायें नहीं और स्वाभाविक जीवन और स्वाभाविक चिकित्सासे काम लें तो इसमें उतनी मौतें न हों जितनी होती हैं। चेचक बाहरसे आक्रमणका फल कदापि नहीं है। हम अन्यत्र चर्चा कर आये हैं कि जब उसके विषका लेप कर लेनेसे भी ऐसे शरीरपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता जो विषोंसे लदा नहीं है तो उसे छूतकी बीमारी कहना तो डाकटरीका प्रमाद है।

इसपर प्रश्न होता है कि प्लेग, हैजा, चेचक खास खास मौसिमोंपर फैलते क्यों हैं? अलग रखने और दूर रहनेसे यह रोग घट क्यों जाते हैं? यदि भीतरी कारणोंसे होते हैं, तो इनका फैलना असंगत है। इन बातोंपर विचार करना आवश्यक है।

देश, काल और निमित्तके अनुसार ही मनुष्य अपनी वृत्ति बनाता है। एक देश, काल और निमित्तवाले मनुष्योंका जीवन प्रायः समान होता है। उनके आचार-विचार प्रायः समान होते हैं, उनके आहार-विहारमें भी प्रायः एकता होती है, उनके दोष भी तारतम्यके साथ एक ही होते हैं। इतनी समानताके होते इसमें आश्चर्य ही क्या है कि सबको एक ही तरहके उग्ररोग प्रायः एक ही कालमें हों। बात यह है कि स्वभाव भी सबके शरीरमें समान रीतिसे काम करता रहता है, और रोगकी उग्रता और विषोंका उद्गार लगभग एक ही मौसिममें होता है। देश-काल-निमित्तकी समानताके कारण रोगका रूप भी समान होना स्वाभाविक है। हां, पशुमें जो विषोद्गार एक रूप धारण करता है, मनुष्यमें उसका दूसरा रूप धारण करना भी स्वाभाविक है। किसी किसी बातमें देश, काल और "स्वभाव"-की समानतासे विषोद्गारमें भी समानता हो सकती है। प्लेगके विषयमें चूहे और मनुष्यमें समानता है। परन्तु और प्राणियोंमें कम है या नहीं है। साथ ही समानता-मात्रसे सबका विषसे बराबर बराबर लड़ा रहना भी आवश्यक नहीं है। मेरे भाईको प्लेग हुआ था, उनकी शुश्रूषामें मैंने कोई बात उठा न रखी। वह मर गये। परन्तु घिष्टपिष्टके होते भी मुझे सिरमें पीड़ा भी न हुई। शहरमें कोसों आसपास एक भी चेचकका मरीज नहीं होता तो भी चेचक निकलती ही है। डाकटर लिंड-लारने उदाहरण दिया है कि मेरे पुत्रको ऐसी ही अवस्थामें

देखनेमें अकारण ही चेचक निकली। इस तरहके एक नहीं सैकड़ों उदाहरण हैं। पहलेपहल कहीं देशमें चेचक न होते हुए भी आरंभ होती है तो कहांसे होती है? प्लेग चूहोंसे फैलता है तो आखिर चूहोंमें उसका आरंभ कैसे होता है? अन्तमें अपना असंयम या अपने अपकर्म्म ही रोगका कारण ठहरते हैं। बाहरी आक्रमण एक भारी भूल है जिसके पीछे लोग अपनी देहमें चेचक, प्लेग, राजयक्ष्मा, गरमी, कोढ़ आदि बड़े विषम रोगोंके विष डलवाकर अपनी दीर्घायुको खोकर अकाल ही कालके गालमें चले जाते हैं। बुद्धिमान गृहस्थ चोर-डाकुओंके डरसे अपना धन नष्ट नहीं करता और एक डाकूसे अपनी रक्षा करनेके लिये घरमें बीसों डाकू नहीं बसाता। वह अपना किला मज़बूत रखता है, अपनेको सुरक्षित रखनेके वह उपाय करता है जिससे धनकी वास्तविक रक्षा होती है, बरबादी नहीं होती।

भीतरी कारण जब एक ही देश-काल-निमित्तमें एकसे होते हैं, तब विषोद्गारका उग्ररूप भी एकसा हुआ करता है। इसे ही लोग फैलना समझते हैं। वस्तुतः रोगका फैलना कोई बात नहीं है। जिस महल्लेमें फैलता है उसमेंके सब लोग नहीं मर जाते। भयके मारे बहुतसे लोगोंके भाग जानेसे महल्ला सूना हो जाता है। लोग समझते हैं अब मौतें कम हो रही हैं। परन्तु कारण यह है कि बीमार होनेवाले ही भाग गये। और ऐसी जगहोंमें भागे जहां शायद जलवायु अच्छी

मिली, प्रकाशमें, खुले मैदानमें, स्वास्थ्यकर जगहमें रहने लगे, संयम वढ़ गया, विषका लादना कम हो गया। तवदीली न हुई होती तो सवकी तरह इन भगोड़ोंकी देहमें भी विष लदते लदते प्लेगके रूपमें उग्र विषोद्गार आरंभ हो जाता। किसी किसीके शरीरमेंसे विषोद्गारके श्रीगणेशमें भीतरी उभार आरंभ हो गया और ऐसी दशामें उन्होंने स्थानत्याग किया। फल-स्वरूप भागनेवालोंको भी और स्थानमें जाकर प्लेग हुआ। तीव्र प्लेगके समयमें अनेक काशीनिवासी सज्जनोंने अपने अपने महल्लेके समस्त रोगियोंकी शुश्रूषा और शवोंकी दाह-क्रिया करना अपना धार्मिक कर्त्तव्य वना लिया था। अनेकको मैं अच्छी तरह जानता हूं, जिन्हें वरावर यही काम करते रहते भी ज्वर न आया।

चेचकका टीका पुराना हो गया है। इसकी अपेक्षा क्षयरोग, डिफ़्थेरिया, प्लेग आदिके टीके हालके हैं। यह सव परीक्षाकी अवस्थाएँ हैं। परन्तु परीक्षाके लिये जो साधन चाहियें वह उपलब्ध नहीं हैं। कौन सा देश या जाति केवल परीक्षाके लिये अपने जीवनको ऐसे अभ्यासकी पटिया वनावेगी जिसका सुफल निश्चित नहीं है। परन्तु लोभी और अदूरदर्शी डाक्टर-समुदाय और रोजगारी लोगोंने, जिन्हें धन कमाना ही इष्ट है और पाप-पुण्यसे कोई मतलव नहीं, अपने प्रभावसे, व्यापारी कल-वल-छलसे, राज्यशक्तिसे अनेक देशोंको और जातियोंको अभ्यासकी पटिया वना रखा है। यदि धन कमाना ही उद्देश्य

न होता, यदि परीक्षाका सत्य परिणाम जानना ही इष्ट होता तो यह परीक्षाएं जिस परिस्थितिमें की जाती हैं, न की जातीं। टीका लगवानेवाले बड़ी असावधानी और असंयमसे दिन बिताते और बहुत अस्वास्थ्यकर स्थानमें अस्वाभाविक ही सिद्धान्तोंपर रखे जाते। धूप हवा रौशनी स्वच्छ जल आदिका सुभीता न होता और रोगीके सम्पर्कमें रखे जाते। इतनेपर रोग न होता तो समझा जाता कि टीका रोगसे रक्षाका सच्चा उपाय है। फल तो विपरीत यह होता है कि स्वास्थ्यके सभी सुभीते-से रहते हुए टीका लगाये लोग रोगके शिकार हो जाते हैं। अतः समझना चाहिये कि परीक्षाका सुखान्तक होना किसी प्रकार सिद्ध नहीं है। फिर ऐसी अनिश्चित परीक्षाके लिये हमारी देह अभ्यासकी पटिया क्यों बनायी जायं और विषोंसे अकारण क्यों दण्डित की जाय ?

कहा जाता है कि पाश्चात्य देशोंमें टीकेके प्रचारके बाद चेचक कितनी घट गयी ? परन्तु क्या केवल चेचक घट गयी ? और रोग नहीं घटे ? यदि सभी रोग घटे, तो और सबके घटने-का क्या कारण है ? यदि वह स्वास्थ्य-साधनोंकी उत्तरोत्तर उन्नति और स्वाभाविकताकी ओर अधिक झुकाव है, तो चेचकके लिये भी यही बात क्यों न कारण समझी जाय ? चेचकके टीकेका प्रचार हुए भारतमें भी एक युग गुजर गया, क्या आये दिन चेचक नहीं फैलती ? क्या साथ ही और फैलनेवाले रोग नहीं फैलते ? किस टीकेकी यहां कौनसी सुकीर्त्ति है ?

कई वार टीका लगवाये हुओंको क्या चेचक नहीं होती और नहीं मार डालती? बात यह है कि वहां अस्वास्थ्यकर दशा सभी रोगोंका कारण है। स्वाभाविक जीवनके और सफाईके नियमोंका अपालन जबतक न मिटेगा, तबतक रोग न घटेगा। टीकेसे तो किसी दशामें लाभ नहीं। हानि उस दशामें अवश्यम्भावी है, जिसमें शरीरकी प्राणशक्ति घटी हुई है और विषसे शरीर लदा हुआ है। जीर्ण रोग घर बनाये हुए है। स्वस्थ शरीरमें टीका लगते ही उभार हो जाता है और विष शरीरके भीतर रहने नहीं पाता। अनेक लोगोंको वारम्वार टीका लगाया जाता है पर उभरता नहीं। जीर्ण रोग अथवा विषाधिक्य अथवा प्राणशक्तिकी क्षीणता उभार और उग्रता उत्पन्न होने नहीं देती। इसका उलटा अर्थ लगाया जाता है कि शरीर इतना पुष्ट है कि ऐसे उग्र विषका प्रभाव ही नहीं होता।

संवत् १९२७ में जर्म्मनीमें चेचक इतनी जोरसे फैली कि एक लाख वीस हजार बीमार हुए और एक लाख मरे जिनमेंसे लगभग ९६ हजारके टीका लगवाये हुए थे और केवल चार हजार विना टीकाके थे। १८ बरसकी लगातार खोज और अनुसन्धानके फलस्वरूप साम्राज्यके प्रधान अमात्य प्रिंस विस्मार्कने अपने अधीन समस्त राज्योंको लिखा कि "असंख्य चर्म्मरोगोंका, जो देशमें फैले हैं, प्रत्यक्ष कारण टीका है, और चेचकका कारण और चिकित्सा अभीतक अज्ञात है। गोस्तन विस्फोटकके मवादसे जिस सुफलकी आशा की जाती थी और समझा

जाता था कि चेचक बन्द हो जायगी, वह पूरा धोखा साबित हुआ"* इसी तथ्यके आधारपर प्रायः सभी जर्म्मन राज्योंने या तो टीका उठा दिया कानूनको अत्यन्त ढीला कर दिया।

कण्ठमाला और गरमी पैदा करनेवाले विषोंका समूह ही चेचकके स्फोटकका मवाद है। जिस शरीरमें यह विष नहीं हैं, उसमें भी टीकाद्वारा इनका प्रवेश करा दिया जाता है। इस तरह इन विषोंको निर्मूल करनेके बदले पाश्चात्य डाकटरी उपचार इन विषोंको जीवित रखता और फैलाता है। स्वाभाविक जीवन इन्हें निर्मूल करनेमें यत्नशील है, परन्तु पाश्चात्य डाकटर विषोंके प्रचार और वृद्धिमें तत्पर हैं। इसीलिये जितने प्रकारके टीके हैं सभी मिथ्योपचार हैं, अत्यन्त अपवित्र हैं, मल और विष हैं, अत्यन्त घृणित हैं, इनसे सम्पर्क भी पाप है। चीन और तिब्बतवालोंकी मलमूत्रमय ओषधि और भारतकी मूत्रमें शोधी ओषधियोंपर हँसनेवाले पाश्चात्य देशीयोंकी यह बीभत्स चिकित्सा हर शौचप्रियके लिये घृणाका पात्र है और पाश्चात्य सभ्यताके शौचाचारका एक नमूना है।

डाकटर (Cruwell)* क्रुवेलने लिखा है—"प्रत्येक गोस्तन टीकाका अर्थ है, **उपदंश रोगका सञ्चार**। गोस्फोटक ढोरोंमें ही नहीं पैदा होता। मनुष्यके गरमीके विषसे संयुक्त हाथोंसे स्तनतक पहुँचता है, क्योंकि यह उन्हीं दूधारी गायोंके स्तनोंपर मिलता है जो दुही जाती हैं। जङ्गलमें चरनेवाली गायोंमें

* लिंडलारसे उद्धृत।

और घरेलू बैलोंमें कभी यह रोग नहीं पाया जाता। यदि ढोरोंका रोगविशिष्ट होता तो सबमें पाया जाता। ग्वालिन सारा नेनेज़के गरमीवाले हाथोंसे ही डाक्टर जेनरवाले गोस्तन स्फोटकोंकी उत्पत्ति हुई थी।"

टीका लगाये हुए स्त्रियोंको प्रायः स्तनरोग हो जाता है। दूध सूख जाता है। बच्चे पाले-पोसे नहीं जा सकते। स्काटलैण्डमें कुछ बरस हुए ऐसा ही रोग भेड़ोंमें फैला। टीका लगाया गया। परिणामतः भेड़ें दूध नहीं पिला सकती थीं। टीका बन्द हो जानेपर धीरे धीरे यह शिकायत मिट गयी।

अनेक बालकोंके शरीरमें टीकेके बाद गरमीरोगके लक्षण दीखते हैं। शुद्ध और नीरोग जीवनवाले मा-बापको डाकटर दोष लगाता है कि बालकका रोग उनके कदाचारका फल है। परन्तु वस्तुतः वह अपने दोषको मा-बापके सिर ठोंक रहा है। उसका कारण टीका है।

देखा गया है कि स्वस्थ और नीरोग मनुष्यके टीका लगा और उसे किसी न किसी विषम जीर्ण रोगने धर दबाया। मिरगी, क्षय, श्वासमार्ग श्वासप्रणाली और गलेके रोग, पक्षाघात, योषापस्मार आदि बहुधा चेचककी टीकाके बाद ही पैदा हो जाते हैं।

और और टीके जो अब प्रचलित हैं, सभी इसी प्रकारके घृणित विष हैं और उनका परिणाम गोस्तन टीकेसे किसी प्रकार कम भयंकर नहीं है।

जिस तरह टीकेसे अपवित्र घृणित विष शरीरके भीतर पहुँचाया जाता है, उसी तरह सूईसी पिचकारीसे विष और प्रतिविष भी रक्तमें पहुँचाये जाते हैं, इनका परिणाम भी महा भयानक होता है। धुकधुकी बन्द होना, सुन्नबहरी (फालिज), मिरगी, मूर्च्छा आदि रोग इन विषों और प्रतिविषोंकी पिचकारीके बुरे परिणाम हैं। यह रोग यों न होते, परन्तु इन विषोंने एक रोग रोकनेको अनेक पैदा कर दिये।

हमने सूईकी पिचकारीद्वारा रोगोपचारको सूईसे टीका लगानेकी ही कोटिमें इसलिये रखा है कि दोनोंमें रक्तमें विषोंका प्रवेश कराया जाता है। विधिमें तनिकसा अन्तर है। परिणाम एक ही है। हम इन सब रीतियोंको मिथ्योपचार कहते हैं, अत्यन्त दूषित ठहराते हैं और इनसे बचनेकी सलाह हर आत्मसंयमी और सत्याग्रहीको देते हैं।

(३) शल्यचिकित्साका दुरुपयोग

शल्यकर्म अत्यन्त उपयोगी विधि है और शरीरकी रक्षाके लिये अनेक अवसरोंमें इसके सिवा दूसरा उपाय नहीं। आजकल यह विधि इतने अद्भुत चमत्कार कर रही है कि पुरानी कहानियां सच्ची जँचने लगी हैं। हम इस विधिके विरोधी नहीं हैं। परन्तु आजकल इसका दुरुपयोग भी अत्यन्त बढ़ गया है। जितनी इसकी उपयोगिता मनुष्यको लाभ पहुँचा रही है उससे हजारों गुना अधिक इसका दुरुपयोग हानि कर रहा है। लगभग सौ बरसोंके भीतरहीकी बात है कि ईथर, क्लोरोफार्म,

कोकेन, स्टोवेन आदि संज्ञाहीन करनेवाली ओषधियोंके आविष्कारसे शल्यक्रिया बहुत आसान हो गयी है। इन ओषधियोंसे ज्ञाननाड़ियां स्तब्ध हो जाती हैं और रोगी निश्चेष्ट और बेहोश रहता है अथवा उसका अंगविशेष बेहोश रहता है। मोतियाबिन्दकी पथरी निकालते समय कोकेन डालकर आंखकी ज्ञाननाड़ियां ऐसी स्तब्ध कर दी जाती हैं कि होशमें रहते हुए भी रोगीको इस बातकी सुध नहीं होती कि आंखके कोयेपर क्या क्या क्रिया हो रही है। क्लोरोफार्मसे बेहोश किये हुए रोगीका अंग काट डालते हैं, उसे जरा भी सुध नहीं होती। इस सुभीतेके साथ साथ हानि यह है कि क्लोरोफार्मका प्रभाव शरीरपर अनिष्ट पड़ता है, और यदि इस विषको प्रकृतिने निकाल न दिया तो यह भी शरीरस्थ विषोंकी भयंकरताको बढ़ा देता है। हृदयके ऊपर इसका अत्यन्त अनिष्ट फल होता है। यह तो हुई बेहोश करनेवाली दवाकी बात।

पहले जब बेसुध करनेवाली दवाएँ न थीं, शल्यकर्म्मसे रोगीको कष्ट होता था। इस वेदनाको सहनेके लिये रोगी तैयार है या नहीं, वह इस वेदनाके पार जा सकेगा या नहीं, उसकी शल्यचिकित्सा अनिवार्य्य है कि नहीं, यह सब प्रश्न उस समय आजकी अपेक्षा अत्यधिक महत्वके थे और यों ही कभी कोई बड़ी शल्यक्रिया होती थी। आज भी इन प्रश्नोंपर ध्यान देते हैं, पर स्पष्टतः उतना नहीं। आजकल अधिक प्रवृत्ति इस ओर है कि रोगीका अमुक अंग बेकार हो गया है, अच्छा होना

असम्भव है, उसे काटकर निकाल देनेसे ही रोगी अच्छा होगा। जीभकी जड़की गांठें सूज आयीं, कितनी ही दवा की गयी अच्छी नहीं होतीं, डाक्टर उन्हें काटकर निकाल देता है। पेटके उपांत्रमें सूजन है, पीड़ा है। काटकर अलग करो। खूनी बवासीर है। काटकर अलग कर दो। मैं एक रोगीको जानता हूं जिसकी गुदानलिकाको डाक्टरने काटकर निकाल दिया था, और एक नली अँतड़ीसे लगाकर एक थैलीमें मलसंचय कराते थे। यदि बेहोशीकी दवाएं न फैलतीं तो इस तरह सहज ही अंगहीन करनेवाले शल्यकर्म्मका भी उतना प्रचार न होता। मैं एक वैद्य मित्रको जानता हूं कि जिनके दांतोंमें पीड़ा हुआ करती थी। उनके डाक्टर मित्रने उनको राजी करके सारे दांत निकालकर फेंक दिये और नकली दांत लगा दिये जिनमें पीड़ा नहीं होनेकी।

यह अंग हैं, प्रकृतिने इन्हें काम सौंपा है। जब कभी विपोद्गार साधारण द्वारोंसे होना कठिन हो जाता है, स्वभाव नये अंगोंसे नये रास्ते बनाकर विषोंको निकाल बाहर करनेका प्रयत्न करता है, गांठमें पीड़ा और सूजन इसी कारण है। पीड़ाको "वेदना" कहते हैं, क्योंकि वह सूचना देती है कि अमुक अंगकी असाधारण दशा है और हो सके तो बाहरसे भी मदद पहुँचाओ। यह गोहार है। आपने इस गोहारको कैसे सुना और क्या मदद पहुँचायी? आप उठे और दुहाई देनेवालेका ही सिर काट लिया। न रहेगा, न दुहाई देगा। दांतमें पीड़ा हुई,

जो आपके पेटके बिगाड़की सूचना दे रही है, आपको सावधान कर रही है। आपने दांतोंको ही उखाड़ फेंका। न रहेगा बांस न बाजेगी बांसुरी। परन्तु आपने यह क्या किया? तारके चपरासीने बुरी खबर पहुँचायी तो आपने उठकर चपरासीको मार डाला, तारघरको नष्ट कर दिया। स्वभावने आपके शरीरमें अधिक विषके निकालनेका उपयुक्त मार्ग न पाकर दांतोंकी जड़मेंसे और मसूड़ोंके द्वारा दूर करना चाहा और नाली बनायी। आपने खामखाह उसके काममें बाधा डाली और नाली बनती बनती आपने बिगाड़ दी। नये दांत या नकली हाथसे वैसे काम कदापि नहीं होनेके। जैसे बिजलीके काम करनेवाले और रोशनीवाले तार आप अपने नये घरमें लगा लेते हैं वैसे ही नकली अंगोंमें नाड़ियों और धमनियों शिराओं आदिका सम्बन्ध संभव ही नहीं। अंगके निकल जानेसे स्वभावके काममें जो गड़बड़ पड़ जाता है, जो कमी आ जाती है, कदापि दूर नहीं हो सकती। इसलिये झटपट अंग कटवाकर फेंकना सब दशाओंमें बुद्धिमानी नहीं है।

रोगको दूर करनेका प्रयत्न अङ्गको दूर करनेमें नहीं है। सूजनसे अंग बताता है कि विषोद्गारका मुख उसी जगह बननेवाला है। पीड़ासे गुहार लगाता है कि स्वाभाविक उपचारोंसे सहायता करो। इसका उत्तर सहायता करना है। काटना नहीं है। इसीलिये उत्तम उपचार है सहायता। शल्यचिकित्साके कारण भी उपस्थित हो सकते हैं। चोट लगनेमें, गोली खानेमें,

जल जानेमें, शल्यक्रिया लाभ पहुंचा सकती है। शरीरके भीतरसे वाहरी द्रव्योंके दूर करनेमें तो यह विद्या अद्वितीय है। इससे वहीं काम लेना चाहिये जहां विना इसके उपकारका और कोई साधन ही न वचा हो।

(४) दबानेवाली उग्र ओषधियों और विषोंका व्यवहार

डाकटरी इलाजका आजकल हमारे अभागे देशमें कानूनके सहारे प्रचार हो रहा है। वीमारीका इलाज गरीव आदमी कराना चाहे तो अस्पताल जाये। देशके धनका एक वड़ा अंश डाकटरी दवाओं और उपकरणोंको खरीदनेके लिये विदेशोंमें खिचता चला जाता है। हर जगह भरसक डाकटरी, अलोपैथीको ही प्रोत्साहन मिलता है। अलोपैथ ही सरकारी नौकर होता है। उसीकी सनदपर छोटेसे वड़े सरकारी गैरसरकारी कर्मचारियोंको छुट्टियां मिलती हैं, नौकर रखे जाते हैं। भले चंगेको वीमार या पागल और वीमार या पागलको भी भला चंगा वनाना इन्हींके हाथोंमें है। इस पद्धतिकी रक्षाके लिये कानून वनाया गया है। डाकटरीसंघ वना हुआ है। अलोपैथीकी शिक्षाके लिये वड़े खर्चसे मेडिकल कालेज वने हुए हैं जिनसे विदेशी व्यापारको सहायता मिलती है। शिक्षाकालमें कोई कोई अच्छा ईमान्दार अध्यापक ठीक सिद्धान्तोंकी शिक्षा देता और डाकटरी पद्धतिकी त्रुटियां भी वताता है, और अनेक

शिक्षित डाक्टर उस पद्धतिकी त्रुटियां जानते भी हैं, परन्तु धनका लोभ और पेशेकी कमजोरियां उन्हें लाचार कर देती हैं और वह मिथ्योपचारके शिकार बन जाते हैं। हम अन्यत्र दिखा आये हैं कि रोगको उभारकर विषको दूर करना और शरीर-शोधनद्वारा वास्तविक रोगका शमन ठीक चिकित्सा है, परन्तु यह जानते हुए भी अनेक अलोपैथ ठीक रीतिका इसलिये अनुसरण नहीं कर सकते कि रोगी लक्षणोंके उभारको देखकर समझेगा कि चिकित्सकने रोग बढ़ा दिया है और फिर डाक्टरके हाथसे रोगी निकल ही न जायगा बल्कि डाक्टरकी बदनामी भी हो जायगी। इस दबावमें स्वयं पड़कर डाक्टर प्रायः ऐसी दवा देता है कि रोगके लक्षण दब जाते हैं, विकार भितरा जाता है और रोग जीर्ण रूप धारण कर लेता है। रोगी समझता है कि डाक्टरने अद्भुत चमत्कारिक चिकित्सा की है और दवा देते ही आराम हो गया। डाक्टरमें उसे विश्वास हो जाता है और यह चिकित्सा-पद्धति उसे भा जाती है।

स्वभाव बराबर इस कोशिशमें रहता है कि शरीरके भीतरी विषोंको फोड़े, फुंसी, जहरबाद, खुजली, आदि चर्म्मरोगोंके रूपमें निकाल बाहर करे, परन्तु डाक्टर पारा, सीसा, जस्ता, चान्दी आदि उग्र विषोंकी ओषधियां देकर उन्हें दबा देता है और निकलते हुए विष भितरा जाते हैं। सरदी जुकाम आदिपर भी अफीम आदि मादक और दूसरे उग्र संकोचक द्रव्य देकर जुकाम बन्द कर देना ही डाक्टरी विधि है। दस्त आने

लगते हैं तो भी अफीम आदि रोकनेवाली ओषधियां देकर बन्द कर देते हैं। इनसे कोठा स्थिर हो जाता है और सदाके लिये कब्ज़की बीमारी हो जाती है। सूजाक आदिके मवाद या गरमीके नासूर या तो पिचकारी दे देकर, या जलाकर या पारा, संखिया, अयोडीन (नैल) आदि उग्र विषमय दवाएं खिलाकर बन्द कर दिये जाते हैं और स्वभाव शरीरके भीतरके उग्र मलों और विषोंको बाहर निकालनेमें असमर्थ हो जाता है। ज्वरवाले रोगोंको कृमिनाशिनी, शीतकारिणी दवाओंसे अथवा विषों और प्रतिविषोंकी पिचकारियां दे देकर दवा देते हैं। डाकटरी निघंटु साफ कहता है कि यह ओषधियां रक्तकणोंको स्तब्ध और बेसुध कर देती हैं, हृदयकी गतिको मन्द कर देती हैं, और सभी प्राणचेष्टाओंको दवा देती हैं—और हम कह आये हैं कि शरीरको शुद्ध करने और मलको निकालनेके यही उत्तम शस्त्र हैं जो इन ओषधियोंसे बेकार और अकर्मण्य हो जाते हैं। पीड़ा, निद्राभंग आदि भी मादक द्रव्योंद्वारा दूर किये जाते हैं, सो दूर करना तो क्या है रोगी नशेमें हो जाता है और विष निकलनेके बदले दब जाता है। मिरगी आदि मूर्च्छारोगोंकी चिकित्सा ब्रमिद मिली ओषधियोंसे की जाती है जिनका काम है नाड़ीचक्रोंको और दिमागको स्तब्ध और संज्ञाशून्य कर देना। इनसे पक्षाघात, उन्माद, आदि रोग पैदा हो जाते हैं। रोगी अच्छा नहीं होता—

मरज बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की

डाकटरीमें चाईंचूआं, वालखोरा, गंजेपन आदि रोगोंका इलाज भी ऐसा होता है कि दिमागमें समाकर चक्कर, सिरदर्द, अपस्मार, वहरापन, आंखके रोग पैदा करता है। डाकटरी पद्धतिके हमने कुछ ही उदाहरण यहां दिये हैं। शायद ही कोई प्रसिद्ध इलाज होगा जिसमें डाकटर दबानेवाले उपचार न करता हो। उसकी पद्धति ही ऐसी है। उग्र विषोंका प्रयोग ही यह परिणाम लाता है। मनुष्यका शरीर विषोंका खजाना बन जाता है। परन्तु फैशनेबिल रोगी मरनेकी भी इच्छा करेगा तो इन्हीं विद्वानोंके हाथ! पाश्चात्य सभ्यताका यही फल है।

पाश्चात्य ओषधियोंने भारतकी प्राचीन आयुर्वेद विद्यापर भी चढ़ाई की है। वैद्य भी चोरी चोरी क्विनीन और टिंकचर अयोडीन इत्यादि काममें लाते हैं। रोगियोंसे अपनी इस कुप्रवृत्तिको छिपाते हैं। कुनैनके रूप बदल देते हैं। हकीम भी डाकटरी दवाओंका प्रयोग करने लगे हैं। इस विषयपर उर्दूमें पुस्तकें तैयार हैं। वैद्यों और हकीमोंमें डाकटरी पद्धतिके यह अवगुण क्यों आये? वह क्यों डाकटरीकी नकल करते हैं?

लगभग डेढ़ हजार वरस हुए कि औषध-निर्माणके रूपमें भारतवर्षमें आधुनिक रसायन शास्त्रका प्रचार हुआ। यद्यपि नागार्जुनके पहले भी अनेक रसायनशास्त्री हो गये हैं, तो भी पारे आदि धातुओंके रसों और यौगिकोंकी परीक्षाएं और प्रयोग नागार्जुनके समयमें इतना हुआ कि रसोंके प्रचारका

कर .रंभ यदि उसी समयसे माना जाय तो अनुचित न होगा। सभी रस बड़े उग्र विष हैं इसलिये इनकी अत्यन्त थोड़ी मात्रा रोगीको दी जाती है। रोगको दवाने और उग्र लक्षणोंको शमन करनेमें रस जादूका असर रखते हैं। अन्तिम कालमें भी यह एक वार बुझते हुए दीपकमें तेज़ झलक ला देते हैं*। परन्तु रस हैं विष। यह वास्तविक शमन करनेवाली दवाएं नहीं हैं। इनका काम विषको दूर करना नहीं है। शरीरमें यदि यह दवाएं ठहर गयीं तो विषोंकी संख्या और मात्रा बढ़कर प्राणःकणों और रक्तकणोंको स्तब्ध, अचेत और प्राणशक्तिको क्षीण कर देती हैं और अगर न ठहरीं, स्वभावने वमन, विरेचन, स्वेदन आदिके द्वारा इन्हें निकाल बाहर भी किया तो प्राणशक्तिका अधिक परिश्रमके कारण ह्रास हुआ। सारा शरीर थक जाता है। साथ ही उलटी प्रतिक्रियाका आरंभ होता है। जैसे अगर वमन विरेचन हुआ हो तो भूख मर जाती है और कब्ज हो जाता है। डाकटर वैद्य प्रायः वमन विरेचन आदि क्रियाएं इसी रीतिसे पैदा करते हैं और कब्ज दूर करनेके लिये इस विधिको सदुपचार ठहराते हैं। डाकटर पारेका एक लवण

---

* इसके सिवा वैद्योंको एक बड़ा सुभीता यह है कि सैकड़ों ओष-धियां एक बटुएमें लिये फिरते हैं। रोगीको नुसखा बँधवानेका बखेड़ा कम पड़ता है। रोगी समझता है कि हकीम डाकटरकी अपेक्षा वैद्य अधिक सस्ता पड़ेगा और उसका इलाज छूमन्तरकी तरह लगता भी दिखाई देता है।

देता है जिसे केलोमेल कहते हैं। यह पेटमें ठहर नहीं सकता। पेट और अँतड़ियोंके मलोंको अवश्य ही यह लिये दिये निकलता है। परन्तु इसे निकालती है प्राणशक्ति। विष खाकर हम प्राणशक्तिको लाचार करते हैं कि उसे चाहे इच्छा या समय हो या न हो, वह अवश्य ही उस विषको निकाल बाहर करे। पेटमें जो कुछ कच्चा या पक्का द्रव्य होता है उसमें पहले केलोमेल मिलता है और अन्तमें उनको लिये दिये बाहर होता है। अब थकी हुई प्राणशक्ति और बेगारसे थकी अँतड़ियां विश्राम लेती हैं। इसीको कब्ज़ कहते हैं। यह रस इस तरह कब्जका निवारण करनेवाली दवा नहीं है। इसकी प्रतिक्रिया स्वयं कब्ज़ पैदा करना है।

इस बहसपर कि विषको शरीरसे दूर करनेके लिये उद्योग करना चाहिये, न कि उसे दबाकर भीतर रखनेका प्रयत्न—वैद्य और डाकटर कह बैठते हैं कि हम तो वमन विरेचन स्वेदन आदिसे विषको निकालनेका ही जतन करते हैं, हम तो स्वभावकी सहायता करते हैं। डाकटर और वैद्य यद्यपि सहायता करनेकी ही नीयतसे वमन विरेचन आदि कराते हैं, तथापि व्यवहारमें वह चूक जाते हैं। शरीरमें विष किस स्थानपर हैं, क्या जिस अंगमें विष हैं उस अंगसे प्रकृति निकालनेका कोई यत्न कर रही है, क्या वमन या विरेचन या स्वेदनसे वह विष बाहर हटाया जा सकेगा या कमसे कम स्वभावको कुछ सहायता दी जा सकेगी? इन बातोंपर पूरा

विचार कम ही चिकित्सक करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि विरेचनादि क्रियाओंके बारम्बार होनेसे कभी कभी लाचार होकर स्वभावको और और अंगोंसे हटाकर विरेचनमार्गसे ही विषको दूर करना पड़ता है, पर इसमें कितनी प्राणशक्ति लगती है, कितनी कमजोरी आती है, यह रोगी ही अपनी दशासे स्पष्ट कर देता है। स्वभावके साथ इस क्रियामें दसमें नव प्रयोगोंमें तो अवश्य ही बलात्कार होता है। कभी कभी इस जबरदस्तीको जब प्राणशक्ति बरदाश्त नहीं कर सकती तो विरेचन नहीं होता, जुल्लाब पच जाता है, और विष अधिक उग्र रूप धारण करके और राह पकड़ता है या प्राणशक्तिका अत्यन्त ह्रास और जीवनका अन्त हो जाता है। औषधोपचार या अस्वाभाविक रीतिसे लाये हुए पेशाब और पसीनेकी परीक्षा करनेसे पता लगा है कि इस विधिसे उतना मल नहीं निकलता जितना स्वाभाविक स्वेद और प्रस्रावसे निकला करता है। बलात्कारजनित अधिक स्वेद और स्रावसे शक्ति क्षीण होती है। इसलिये वमन विरेचनादि उपचारोंका प्रयोग वैद्योंको अत्यन्त सावधानीसे खूब समझ बूझकर करना चाहिये। जब विष आमाशय या पक्वाशयमें हो अथवा अन्न-मार्गमें हो तब तो उसे निकालनेको वमन, विरेचन, वस्तिकर्म आदि देश कालके अनुकूल करना ही चाहिये, परन्तु ऐसी दशामें भी रसों और धातव विषोंके बदले काष्ठौषधियों और बाह्योपचारोंसे काम लेना ही बुद्धिमानी है।

हैजा अत्यन्त उग्र रोग है। जहां इसमें दस्त और कै बहुत होते हैं, वहां प्रायः रोगी बच जाता है। जहां वमन विरेचन अत्यन्त कम या नहीं होता, वहां हैजेका रोगी, उसके उग्र लक्षणोंके स्पष्ट या प्रकट होनेके पहले ही चल बसता है। शरीरके भीतर विषका सञ्चय पहलेसे हुआ है, उसपर मिथ्याहार-विहार अशुद्ध सम्पर्क आदिद्वारा विशेष विषोंका प्रवेश होनेसे सहनपरिमाणसे अधिक विष एकत्र हो जाता है। यदि रक्तमें प्रविष्ट विष असह्य मात्रामें है तो उलटकर अन्नमार्गकी ओर प्रवृत्त होता है और स्वभाव उसे वमन विरेचनादिसे दूर करता है। परन्तु यह क्रिया प्राणशक्तिपर निर्भर है। प्राणशक्ति जितनी बलवती होगी उतना ही इस क्रियामें सौकर्य्य होगा। जिसकी शक्ति प्रबल है उसकी संकटावस्थाको पार करके जीवनका दीपक फिर जलने लगता है। पर प्राणशक्ति क्षीण हुई तो यहांतक कमजोरी हो सकती है कि शरीर रोगकी पहली चढ़ाईको, उभारकी अवस्थाको ही सह नहीं सकता और उग्र लक्षणोंके प्रकट होनेके पहले ही शरीरान्त हो जाता है। यहां लाख ओषधि कीजिये, कोटि उपचार कीजिये, सारा उद्योग निष्फल हो जाता है। चिकित्सा तो प्राणशक्ति या स्वभावकी सहायतामात्र है। जीवनरक्षा उसके हाथोंमें नहीं है।

जहां कहीं बीमारी फैलती है वहां वस्तुतः शरीरोंकी परीक्षा हो जाती है। शुद्ध अथवा प्रायः शुद्ध शरीरवालोंको विशूचिका होती ही नहीं। विशूचिकाके जीवाणुओंसे भरा

गिलास पीकर स्वस्थ रहनेवाले प्रोफेसरका उदाहरण हम अन्यत्र दे चुके हैं। क्षीण प्राणशक्तिवाले विषोंसे लदे शरीर बाहरी चढ़ाईको सह नहीं सकते और धड़ाधड़ मौतें होने लगती हैं। जितनी ही अधिक सहनशक्ति हुई उतने ही अधिक उग्र लक्षण प्रकट होते हैं। यह लक्षण भी विषोद्गारके ही हैं। विष पर्य्याप्त परिमाणमें निकल गया और प्राणशक्ति अभी प्रबल है तो:उग्र लक्षणोंका शमन हो जाता है और धीरे धीरे सुस्ता सुस्ताकर जीवनकी प्रमित और साधारण क्रियाएँ फिर होने लगती हैं। इस उग्रतासे प्रायः शरीर शुद्ध हो जाता है। स्वास्थ्यसंकटके बीत जानेपर रोगी इतना थका होता है, स्वभाव इतना हारा होता है कि उसे विश्राम चाहिये। स्वास्थ्यसंकटके समय चिकित्सककी चतुराई और बुद्धि सबसे अधिक काम कर सकती है। यह ताड़ जाना सहज नहीं है कि प्रकृतिको इस समय कैसी सहायता चाहिये। प्रायः दस्त कै बन्द होनेकी दवा दी जाती है। कभी कभी अन्तमें ऐसी दवा संकटावसरमें लाभदायक हो सकती है, परन्तु आरम्भमें ही वमन विरेचनके बन्द होनेका अर्थ विषसंचय भी हो सकता है जिसका परिणाम आगे जाकर घातक हो सकता है।

मेरी दोनों लड़कियोंको १६७७ के सौर भाद्रपद मासमें हैजा हो गया। बड़ी लड़की बिना किसी औषधोपचारके अच्छी हो गयी। उसे ७-८ घण्टेतक कै दस्त हुआ। फिर अपने आप बन्द हो गया और शरीरमें गरमी आ गयी। बच जानेवालेके

लिये डाकटर कहते हैं कि इसे हैजा न था, हैजेका अतीसार था। अस्तु। तीन बरसकी छोटी लड़कीके दस्त कैके बन्द होनेके कोई लक्षण नहीं दीखते थे। दो दिनतक यही दशा रही। रोगीकी दशा बिगड़ती ही जाती थी। अन्तमें बन्द करनेकी दवा दी गयी। वमन विरेचन दोनों बन्द हो गये। परन्तु एक दिन रातके बाद ही उसकी सांस तेज हो गयी और डाकटरने देखकर बताया कि दोनों फुप्फुस प्रदाहकी दशामें हैं। कारण स्पष्ट था। विष रक्त और पेटमें रह गया था। अन्नमार्ग रुक जानेसे श्वासमार्गमें जमा हुआ और श्वास-यंत्र बिगड़े। अब प्रदाहका इलाज होने लगा। हकीम और डाक़-टर दोनोंने सलाह करके लक्षणोंके शमन करनेके उपाय किये। अन्तमें दोनोंकी राय हुई कि बच्चे से हाथ धोना ही पड़ेगा। निराशाकी दशामें ओषजनवायुका मैंने स्वयं छत्तीस घण्टे तक भिन्न भिन्न मात्राओंमें साधारण वायुद्वारा हलकी करके सेवन कराया। अन्तमें डाकटरने देखकर कहा कि फुप्फुसप्रदाह बिल्कुल शान्त हो गया। अब बच गयी।

दो घण्टे बाद ही आंखें चढ़ गयीं, शरीर अकड़ गया, पीला और नीला पड़ गया, श्वास और हृदयकी गति बन्द हो गयी। देखनेमें मृत्यु हो गयी। इस समय झट उसके हाथ पैर कृत्रिम श्वास-प्रश्वासके लिये डुलाये गये और ओषजन-वायुका प्रयोग किया गया। प्राण लौट आये। मेरे विचारमें आया कि पेटका विष फुप्फुसको छोड़ अब दिमागपर [illegible]

डाल रहा है। वस्तिकर्मसे यदि पेट साफ कर दिया जाय तो शायद कुछ लाभ हो। साथ ही फिर उसी मृतवत् दशाका भय था। जब दिमागपर पड़े हुए विषके प्रभावसे कोई अनिष्ट दशा एकाएकी उपस्थित हो तब नीचेवाले अंगोंकी नाड़ियोंको एकदम चौंका देनेसे दिमाग बहुधा ठीक हो जाया करता है और विषका प्रभाव नीचेकी ओर प्रवाहित होने लगता है। इस हेतुसे मैंने तप्तजल तय्यार किया और वस्तिके प्रबन्धमें ही था कि फिर वही दशा उपस्थित हुई। देहके अकड़नेके साथ ही खींचकर उसकी दोनों टांगें तप्तजलमें डाल दी गयीं, तुरन्त ही पेटसे पिचकारीकी तरह बहुत अधिक परिमाणमें मल निकल पड़ा और रोगीकी अवस्था सुधर गयी। चार बार इसी प्रकार अत्यधिक विषैले दस्त हुए। बस इन्हीं दस्तोंसे दशा वस्तुतः सुधरने लगी और धीरे धीरे लड़की अच्छी हो गयी। दवाओंने लक्षणोंको केवल दबा दिया था। परन्तु विषके निकालनेका प्रयत्न स्वभावतः अन्नमार्गसे ही होनेके कारण जबतक विरेचनसे नेचर निकाल न पायी तबतक बराबर बच्चेके प्राणोंका सङ्कट बना रहा। विष गया और जानका जोखिम गया। प्रायः दवा देना वास्तवमें दबा देना है और दवाका नाम दवा या दबा सचमुच बहुत ही सार्थक है।

पढ़नेवालेको भ्रम न हो इसलिये हम कह देना चाहते हैं कि हम ओषधिके व्यवहारके सर्वथा विरोधी नहीं हैं। ओषधिके उचित व्यवहारको हम आवश्यक समझते हैं। उग्र और विषैली

ओषधियोंसे, जिनसे विष बढ़ता है और लक्षण दबते हैं, हमको घोर विरोध है। परन्तु हम काष्ठ-ओषधियों और होमियोपथिक ओषधियोंको अनेक अवसरोंपर अति आवश्यक समझते हैं। इसका विस्तृत वर्णन हम अन्यत्र करेंगे।

(५) बाह्योपचारोंकी भूलें

रोगी ज्वरमें भुन रहा है, पीड़ासे तड़प रहा है, प्याससे कण्ठ सूखा जा रहा है, पसीना नहीं होता पर वह जलन है कि शरीरपर पतला दुपट्टा भी सह नहीं सकता, पर उसकी शुश्रूषा करनेवाले उसे उढ़ाते जाते हैं, ठंढा जल नहीं देते, ताजा ठंढी हवा उसे लगने नहीं देते। समझते हैं कि किसी तरहकी ठंढक उसे नुकसान पहुँचावेगी, यह कितनी भारी भूल है! स्वभाव भीतरी जलनको घटानेके लिये बाहरी त्वचाकी राहसे गरमीको निकाल रहा है, और मांग रहा है ठंढा जल कि भीतर कुछ ठंढक आवे और ज्वर घटे, मांगता है हवा कि त्वचाकी गरमीको उड़ा ले जाय और घटा दे, परन्तु रोगीके मित्र उलटा समझ रहे हैं, स्वभावकी सहायता करनेके बदले उसका विरोध कर रहे हैं। साथ ही इसका उलटा उपचार करनेवाले भी स्वभावके विरोधी हैं। जहां केवल साधारण ठंढे पानीसे काम चल सकता है, वहां बरफकी तहकी तह चढ़ाकर केवल ठंढा ही नहीं करते बल्कि नाड़ीको ज्ञानशून्य और स्तब्ध कर देते हैं। पहला बाह्योपचार तो

स्वभावकी सहायता नहीं करता था, परन्तु दूसरा तो निकलते हुए विषको दबा देता है, सफाई करनेवाली मलसे भरी नालियोंको बन्द कर देता है और उग्रताके लक्षणोंका शमन करके जीर्णरोगकी नीवँ रखता है।

ज्वरके रोगीको थोड़ा थोड़ा ठंढा जल धीरे धीरे पिलाइये कि उसे भीतरी शान्ति मिले। पसीना जबरदस्ती लानेके लिये ठीक उग्र जलनके समय उसे कपड़ोंसे लादकर तंग न कीजिये। उसके शरीरका ताप बाहरी हवासे घटेगा। ताप यदि बहुत ऊँचे दरजेका हो गया है, पीड़ित बेसुध हो रहा है, बकता-झकता है, उठ उठ भागता है, तब भी उसके सिरपर बरफ न बांधिये। ठंढे जलकी पट्टी बांधना, सारे शरीरको ठंढे जलकी पट्टीसे ढककर ऊपरसे सूखे कपड़े लपेट देना इसलिये अधिक लाभकर है कि शरीरसे विषोद्गारकी वह उग्रता इस उपचारसे घट जायगी जो इन्द्रियोंको बेबस कर डालती है और संकटावस्थाको चिकित्साके काबूमें नहीं रखती परन्तु साथ ही साथ उग्र दशाका शमन भी नहीं होता, कुछे हरारत घटकर ताप इतना हो जाता है कि रोगी सहज ही सह सकता है। १०७ से लेकर १०५ या १०४ का ज्वर इस ठंढे जलके उपचारसे घटाकर १०२ तक लाया जा सकता है। जलकी पट्टी स्वभावकी सहायता करती है। स्वभाव त्वचाको उसके चारों ओरके पदार्थोंसे अधिक गरम करके कुछ गरमी निकाल बाहर करना चाहता है। जलकी पट्टीने इस कामको

आसान कर दिया। शरीरसे अधिक तापके निकलनेके लिये एक सहज मार्ग मिल गया। बरफ तो एकाएकी इतनी ठंढक लाता है कि सम्पर्कके स्थानपर रक्तका प्रवाह ही बन्द सा हो जाता है, राह ही रुक जाती है, विष या विषकी गरमी निकलना चाहे तो किस मार्गसे जाय। उसे भितरा जाना पड़ता है। इसीलिये बरफसे वही हानि होती है जो उग्रताके लक्षणोंको शमन करनेवाली या रोगोंको दबाकर भितरा देनेवाली दवाओंसे होती है। रोगी पानी मांगता है तो स्वाभाविक चिकित्सा यह भी नहीं कहती कि संयमसे काम न लिया जाय, पानी एकदम अधिकसे अधिक मात्रामें रोगीको पीने दिया जाय, या उसे बरफके पानीसे नहलाता रहे। असंयमसे वही परिणाम होगा जो बरफ या दबानेवाली दवाओंसे होता है। नहला देनेसे ज्वर बहुत घट जाता है, परन्तु प्रतिक्रिया बहुत भयानक होती है, ज्वर कभी कभी बहुत ऊंचे चढ़ जाता है। पट्टीमें यह गुण है कि वह स्वयं जल्दी ही तापके कारण गरम हो जाती है और शरीरसे थोड़े ही थोड़े परिमाणमें धीरे ही धीरे गरमीको निकालती है।

रोगाक्रान्त शरीरमें, विशेष रूपसे उग्रदशामें, शरीरके और सभी व्यापार शिथिल होजाते हैं और उभारकी ओर सारी शक्तियाँ प्रवृत्त हो जाती हैं। इसीलिये बहुधा उभारकी दशामें भूख-प्यास नहीं लगती। कमजोरी मालूम होना तो उभारकी दशाका एक आनुषंगिक लक्षण है। परन्तु डाकटर प्रायः कोई न

कोई पथ्य अवश्य दिलवाता है कि रोगी कमजोर न हो जाय और रोगकी चढ़ाईका सामना करनेको शरीर सबल रहे। पहले तो डाकटर यह भूल जाता है कि प्रकृति स्वयं अपना भोजन-भांडार बन्द किये हुए है, इस समय अगर हम आमाश पहुँचाकर उसे रसोईका बन्दोबस्त करनेको लाचार करते हैं तो चढ़ाईके मैदानमें गये हुए काम करनेवालोंको लौटाना पड़ता है और महानसमें लगाना पड़ता है। इस उथल-पुथलसे चढ़ाईका सामना करनेमें असलमें स्वभाव कमज़ोर पड़ जायगा। दूसरे वह यह सैद्धान्तिक बात भूल जाता है कि प्राणशक्ति वस्तुतः अन्न या पथ्यपर निर्भर नहीं है। अन्नसे हम उसे बढ़ा नहीं सकते, उपवाससे घटा नहीं सकते। प्राणशक्ति संयम और योगसे बढ़ती है और असंयम और अयुक्त जीवनसे अवश्य घटती है। डाकटरके सिवा शुश्रूषा करनेवाले भी इसी भ्रममें रोगीको पथ्य लेनेके लिये प्रलोभन दे देकर प्रवृत्त करते हैं और जिस समय रोगीको अन्नजल न चाहिये उस समय अन्नजल देकर रोगको अधिक कुपित कर देते हैं। उभारकी अवस्थामें लंघन ही रोगीके लिये सबसे उत्तम पथ्य है, और प्रकृतिके सर्वथा अनुकूल है। जहां भूख-प्यास अधिक लगती हो वहां काष्ठौषधियोंके रूपमें, हकीम वैद्योंका काढ़ा और जोशांदा ओषधि और पथ्य प्रायः दोनोंका काम करता है, यदि उभारकी अवस्थाको दबानेवाला न हो बल्कि संकटावस्थाको पार करनेमें प्रकृतिका सहायक हो।

लंघन या उपवास करनेवाले अपने शरीरको प्रायः असंयम-से भी विगाड़ देते हैं। उपवास तोड़नेमें संयमपर जितना ही जोर दिया जाय उतना ही थोड़ा है। पहले तो उपवास तोड़नेका उपयुक्त समय आया कि नहीं, यही विचार परमावश्यक है। आने-पर भी उपवास तोड़ना वस्तुतः स्वभावको अपने असाधारण व्यापारोंसे हटाकर साधारण नितके व्यवहारोंमें लगाना है, इसलिये बहुत हलका, जलसरीखा, अत्यन्त थोड़ा, अच्छी तरह चवाकर या लालासे मिलाकर उदरके भीतर पथ्य ले जाना आवश्यक है। उपवास या लंघनपर तेज भूख लगती है तो रोगी सारा संयम भूल जाता है और जो पाता है, अपनी उदरदरीमें बड़े वेगसे पहुँचाता है। ऐसी दशामें उपचारियोंको उचित है कि रोगीकी पूरी रक्षा करें कि संयमके नियम टूटने न पावें।

किसीका सिर दुखने लगता है तो तुरन्त ही वैद्य या डाक्टर या ओषधि ढूँढ़ने लगता है। उपचारी बन्धु तुरन्त ही पीड़ा "बन्द" करनेके उपाय करने लगते हैं। पीड़ा तो भीतरी रोग-जनित या अप्रमित विकारोंकी उग्र सूचना है। यह दूत है जो संदेसा लेकर आया है। इसे दूर नहीं करना है। इसका संदेसा सुनिये। यह प्रकृतिका पैगाम लेकर आया है कि देहदेशमें अमुक अंगमें अप्रमित विकार हो रहे हैं, मल या विष संचित है, आप स्वभावकी सहायता कीजिये, उपचारोंकी कुमक भेजिये। परन्तु उपचारी और चिकित्सक प्रायः रोगीकी पीड़ा-का अर्थ न समझकर स्थानीय व्यथाको दूर करनेमें लग जाते

हैं। प्रायः वह ओषधियां लगा देते हैं जिससे स्थानीय ज्ञान-नाड़ियां बेसुध हो जाती हैं और यद्यपि पीड़ा होती रहती है, तथापि मालूम नहीं होती। मादक ओषधियां पिला या खिला-कर भी इसी तरहकी बेसुधी पैदा की जाती है। इससे वास्तविक रोगमें स्वभावको यथेष्ट सहायता नहीं मिलती। प्रकृतिकी अपील बेकार जाती है।

मिट्टी, जल, वायु, प्रकाश आदि हमारे संसारकी नींव हैं, हमारे शरीर इन्हींसे बने हैं। इन्हींसे स्थिर हैं। इन्हींके सदुप-योगसे हम शरीरकी रक्षा कर सकते हैं। इनके उपयोगमें संयम अवश्य चाहिये।

ग्रह भेषज जल पवन पट पाइ कुजोग सुजोग।
होहिं कुबस्तु सुबस्तु जग लखहिं सुलक्खन लोग॥

असंयमसे अच्छी वस्तु कुवस्तु हो जाती है। सूतिकागृहके भीतर नवजात बालकके लिये तेज रोशनी नहीं चाहिये। अत्यधिक ठंढक या गरमी भी नहीं चाहिये, आंधी ऐसी हवा नहीं चाहिये, सौड़के घरमें पूरी सफाई परम आवश्यक है। पर साथ ही इसके हमारे देशके लोग सौड़का घर निहायत गन्दा चुनते हैं, जो अँधेरा हो, जिसमें हवा न जाती हो, नीचे सील हो। यों पोतलीप तो कर दी जाती है, परन्तु साधारण दशा जैसी रहती है वैसा काला चित्र यहां नहीं खींचा गया है। जम्हुएके डरसे सब दर-वाजे बन्द रहते हैं और आने-जानेवाले दरवाजेपर आग जलायी रहती है जिसमें अजवायन जलायी जाती है। अजवायनका

जलाना बुरा नहीं है, उसका धुआं और वायु कृमिनाशक है। परन्तु यदि पूरी सफाई रखी जाय, हवा रोशनी शुद्ध स्वच्छ आनेका वन्दोबस्त रहे तो घरमें धुआं करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। पूरी सफाई घरमें हो, नाल काटनेवालीके हाथ धुले हों, नाखून कटे और साफ हों, जितने सौड़में जायँ सभी शुद्ध स्वच्छ दशामें हों तो जम्हुआ सपनेमें भी नहीं आ सकता। अजवायनका धुआं कुछ थोड़ासा धूपकी तरह हो तो हर्जकी बात नहीं है। परन्तु साधारणतया जितना धुआं होता है उससे तो दम घुटने लगता है। चमायन जो सौड़में जच्चेकी सफाई सेवा आदिके लिये रहती है उसे भी नहा धोकर साफ कपड़े पहनकर जच्चेखानेमें रहना चाहिये। हिन्दुओंमें जन्म और मरण दोनोंको अशौचकी अवस्था मानते हैं। अशौचकी अवस्थामें जो लोग रहते हैं वह न तो किसीको छूते हैं, न कोई उन्हें छूता है। न कोई उनके यहां खाता है, न वह किसीके यहां खाते हैं। भिक्षातक न दी जाती है, न ली जाती है। कपड़ोंतककी धुलाई विशेष रूपसे होती है। यह सब इसीलिये होती है कि पुराने शरीरके विष और मलका सम्पर्क नष्ट हो जाय और नये शरीरमें, वा औरोंकी देहमें विषों और मलोंका प्रवेश न हो। दोनों अवस्थाओंमें हमारा शौचविधान और स्पर्शका बचाव सराहनीय है। परन्तु इस विधानको समझदारीसे वर्त्तनेकी जरूरत है और स्पर्शका बचाव भी करना उचित ही है। मिथ्योपचारके ही कारण हजारों बालकोंको जम्हुआ दबा देता

हैं; और अजवायनका धुआं बचा नहीं सकता, बल्कि यह धुआं, बन्द दरवाजे और गन्दगी ही जम्हुआका कारण होती है। जम्हुआ और कोई चीज नहीं, बालकके शुद्ध रक्तमें बड़ोंकी असावधानीसे (प्रायः नाल कटनेके समय) बड़ोंके शरीरसे विपका प्रवेश है। एकाएकी गर्भावस्थासे निकलनेसे प्राणशक्ति-पर बड़ा धक्का पहुँचा रहता ही है, मातापिता और पूर्वसंस्कारके कारण प्रायः प्राणशक्ति दुर्बल रहती है। बाहरका विप उसके लिये घातक हो जाता है।

नितके रहनसहनमें यदि मनुष्य शौचके नियमोंसे रहे और युक्ताहार-विहार युक्तचेष्टा और युक्तस्वप्नावबोधका पूरा ध्यान रखे तो रोगी होनेकी नौबत न आवे। रोगी होनेपर तो बाह्य और आभ्यन्तरिक संयम एवं स्वाभाविक उपचार ही जीवनकी रक्षाका कारण हो सकते हैं।

चाथा अध्याय

निदान

(१) निदानके प्रकार

हम अन्यत्र दिखा आये हैं कि रोग एक ही है इसलिये उसका उपचार भी एक ही है। रोग है शरीरमें विषोंका इकट्ठा होना और इलाज है उन्हें बाहर निकालकर शरीरको साफ करना। ऐसी दशामें निदानकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। रोग कहां है, किन किन अंगोंमें किस किस प्रकारके क्या क्या विकार हो रहे हैं, इन बातोंकी स्वाभाविक जीवन बिताने-वालेको आवश्यकता नहीं है। वह प्रकृतिमाताकी गोदमें निर्भय खेलता है। वह किसी उग्र लक्षणके प्रकट होनेपर प्रसन्न होता है कि प्रकृति शरीरका मल धो बहानेका प्रबन्ध कर रही है। लूईकूनेने इसी मतका प्रतिपादन किया है तो भी उसने "आकृति निदान" नामक ग्रंथमें आकारसे रोगकी स्थिति पह-चाननेकी रीति बतायी है। निदानकी कुछ थोड़ी बहुत जरूरत चिकित्सामें पड़ती है। जब हम यह जानते हैं कि विष किस अंग-में किस रूपमें इकट्ठा है, तो हम विचार करके उसके निकालने-के लिये कोई सुभीतेका उपाय भी कर सकते हैं जिससे प्रकृति-को पूरी सहायता मिले। रोगीकी वास्तविक दशाका भी पता

लगा लेनेसे उसकी साध्यता असाध्यतापर विचार हो सकता है। कभी कभी स्वाभाविक चिकित्सा करनेवालेके पास रोगीके निदानके सम्बन्धमें प्रश्न आ ही पड़ते हैं। एक ही रोगी होमियो-पैथ, हकीम, अलोपैथ, वैद्य सबको बुलाता है और सभी निदान-पर विवाद करते हैं। स्वाभाविक चिकित्सकको ऐसे अवसरपर भी अपने सिद्धान्तोंके प्रतिपादनमें कोई कठिनाई न हो इसलिये निदानकी समस्त रीतियां जानना उसके लिये भी जरूरी है।

निदानकी अनेक विधियां प्राचीनकालसे प्रचलित हैं। सबसे मोटी विधि तो बाह्य लक्षण हैं जिन्हें सब कोई देखता समझता है। रोगीको दस्त आते हैं या कब्ज है, वमन हो रहा है, या पसीना आ रहा है, घाव है, या फोड़ा है, इत्यादि। इन लक्षणोंके अतिरिक्त अमुक अंगमें पीड़ा है, अमुक अंगमें जलन है, टीस है, कसक है, खुजली है, सिर घूमता है, इत्यादि भीतरी लक्षण रोगी बतलाता है। बाहरी स्पष्ट और भीतरी अस्पष्ट लक्षण कहलाते हैं। इनके सिवा विशेष रूपसे नीचे लिखी आठ प्रकारकी जांच आजकल की जाती है—

(१) नाड़ीविज्ञान—इससे तीनों दोषोंका पता लगता है। हृदयकी गति और नाड़ीकी गति एकसी होती हैं। नाड़ी अंगुलियोंसे स्पर्श करके समझी जाती है, हृदयकी गति सुनकर।

(२) मूत्रकी जांच। केवल देखकर रंग आदिसे वा गुणा-त्मक वा मात्रात्मक विश्लेषणद्वारा।

(३) मलकी जांच। जैसा मूत्रकी जांचमें।

(४) जिह्वाकी जांच। उसपर जमी हुई मैलके रंग वा उसके रूपकी जांच।

(५) शब्दकी जांच। अंग अंगमें किस प्रकार शब्द निकलते हैं। मुखके शब्द। फुफ्फुसके शब्द। हृदयके शब्द इत्यादि।

(६) स्पर्शसे जांच। छूकर ताप या दबाकर यकृतप्लीहा इत्यादिका हाल जानना।

(७) आंखकी जांच। रंगके विकार देखकर। आंखकी पुतलीके इर्दगिर्दके रंग और आकार उन्नतोदर तालसे देखकर शरीरकी सारी व्यवस्था जानना।

८) आकृति, अर्थात् रूप देखकर अंग अंगपर विचार करके रोगकी ठीक स्थिति जानना।

इन्हीं आठ जांचोंपर आजकल समस्त चिकित्सा निर्भर है चाहे वह किसी देश वा किसी प्रथाकी हो। डाकटरी रीतिमें अनेक तरहके यंत्रोंसे काम लिया जाता है। एक यंत्र है जो नाड़ीसे लगा दिया जाता है। वह नाड़ीकी गतिके अनुसार भाँति भाँतिकी रेखाएं खींच देता है। जो बात वैद्य छूकर या दबाकर जानता है, उसीका चित्र डाकटर उस यंत्रद्वारा सामने रख देता है। यह सच है कि हाथसे नाड़ी देखनेकी रीतिमें हमारे देशको कमाल हासिल है। डाकटर नब्बाज़ नहीं होते। परन्तु

चित्रद्वारा चाहें तो डाकटर वैद्यकी अपेक्षा अधिक स्पष्टतासे वास्तविक स्थिति जान सकते हैं। यंत्रद्वारा यह भी पता लगाया जाता है कि रक्तका प्रवाह किस वेगसे हो रहा है, कितना दवाव है। दवाव और वेग बढ़ जानेसे फड़कनेकी संख्या बढ़ जाती है। हृदयकी गति और नाड़ी एक ही बात है। हृदयकी गतिको या फुप्फुसकी आवाज स्टीथस्कोपसे डाकटर सुनता है। सुननेका अभ्यास डाकटरको वही ज्ञान देता है जो वैद्यको नाड़ी धरनेका अभ्यास देता है। डाक्टरी रीतिमें अंग अंगकी परीक्षाके लिये अलग अलग यंत्र हैं। कान देखनेका, स्वरयंत्र देखनेका, मुखके अवयव या अन्नमार्ग और श्वासमार्ग देखनेका, योनि देखनेका, शीशा होता है। आंख देखनेके लिये खास शीशे होते हैं और उसकी आधुनिक विधि बहुत विस्तृत पता देनेवाली है।

मूत्र, मल, रक्त, पसीना, राल, थूक, कफ, पित्तादि रसोंका रासायनिक गुणात्मक और मात्रात्मक दोनों प्रकारका विश्लेषण होता है। इनका रत्ती रत्ती हाल मालूम कर लेते हैं। अणुवीक्षकसे इन सबकी आणविक दशाके जीवों और पदार्थोंकी ठीक ठीक स्थिति देखनेमें आती है। निदानकी पच्छाहीं और पूरवी रीतियोंमें उपकरणों और करणोंका अन्तर है। हम करणोंसे अधिक काम लेते हैं, वह उपकरणोंसे। हम एक एकका अलग अलग वर्णन करेंगे।

---

(२) नाड़ी-विज्ञान

नाड़ी देखनेकी चाल भारतीय नहीं है। प्राचीन ग्रन्थोंमें इसका उल्लेख नहीं है। ज्ञान पड़ता है कि यूनानी भिषकोंने इस विज्ञानका प्रचार किया है। आज नाड़ी देखनेमें हकीम वैद्य जिस अनुभवसे काम लेते हैं वह अनुभव अवश्य ही हजारों बरसका है। उसके बलसे यद्यपि यह बताना संभव नहीं है कि रोगीने रातको क्या खाया था, परन्तु तीनों दोषोंका पता स्पष्ट रूपसे लगता है। बल और बलका ह्रास, ज्वरकी दशा, रोगका साध्य वा असाध्य होना, होनहार मृत्यु, इन बातोंका ठीक ठीक पता लग जाता है। नाड़ी केवल रक्तका प्रवाह और हृदयका धड़कन है। जिन बातोंका प्रत्यक्ष सम्बन्ध रक्तप्रवाहसे है उन्हीं बातोंका पता नाड़ी दे सकती है। शरीरके और सभी आमयोंका प्रत्यक्ष पता नाड़ीसे नहीं लगता।

नाड़ी धमनी है, अर्थात् वह रक्तवाहिनी नलिका है जो शुद्ध लाल रक्तको हृदयसे लेकर शरीरके सभी भागोंमें पहुँचाती है। केवल हृदयसे फुप्फुसतकवाली नलिका वह धमनी है जो अशुद्ध रक्त बहाती है। धमनी सारे शरीरमें फैली हुई है, परन्तु उसकी फड़कका पता सब जगह इसलिये नहीं लगता कि विशेष विशेष भागोंको छोड़ शेष शरीरमें मांसपेशियोंके नीचे है या बगलमें है, या ऊपरी भागोंसे दूर पड़ जाती है। हाथकी कलाइयोंमें, आंख कानके बीचवाले भागमें, हँसुलीके पास, पैरके टखनोंके पास नाड़ीकी फड़क पायी जाती है। देखने-

वालोंको नाड़ीका पता इन सभी स्थानोंमें लग सकता है। मरणासन्न दशामें प्रायः देखा गया है कि हृदयकी गति जारी है, पर कलाईपर टखनोंपर फड़कन नहीं है, केहुनीपर पता नहीं, हँसुली और कनपटीपर फड़कन जारी है। अर्थात् हाथोंमें रक्तका प्रवाह बन्द है। पैरोंमें भी बन्द है। परन्तु शेष शरीरमें प्रवाह चल रहा है।

यहां नाड़ी धमनीको नब्ज़के अर्थमें ही कहते हैं। अन्यथा श्री गणनाथ सेन और डाकटर त्रिलोकीनाथ वर्म्माने ज्ञान और चेष्टाकी शक्तिवाली नलिकाओंको ही नाड़ी लिखा है। इन दोनों प्रयोगोंका अन्तर पाठकवृन्द ध्यानमें रखें।

वैद्योंके मतसे पुरुषकी दहनी और स्त्रीकी बायीं कलाईकी नाड़ी देखनी चाहिये। हकीम प्रायः दोनों ही देखते हैं। रोगकी पूरी जांचके लिये दोनों तो क्या, कभी कभी सभी नाड़ियां देखनी पड़ती हैं।

रोगकी दशा समझनेके लिये नाड़ी तभी देखना चाहिये जब रोगी जागृत, शान्त और रोगकी प्रमित दशामें हो। शरीरमें एकाएकी परिवर्त्तनकी दशामें रक्तका प्रवाह विचलित रहता है। पता ठीक ठीक नहीं लग सकता। सोते हुए मनुष्यकी, कसरत करके या दौड़ करके या सीढ़ीपरसे उतरकर आये हुए हाँफते या जल्दी सांस लेते हुए रोगीकी नाड़ीमें वेग और गरमी अप्रमित दशामें होती है। धूपसे आये हुए, आगके सामनेसे उठे हुए, भोजन करनेको बैठे हुए, भोजन करके उठे

हुए, या परिश्रम करके आये हुए, या थके, भूखे, प्यासे, या तेलकी मालिश कराये हुए मनुष्यकी नाड़ी भी देखना व्यर्थ है।

नाड़ी दिखानेवाला और देखनेवाला दोनों स्थिरचित्त हों, किसी बातकी जल्दीमें न हों, सब वृत्तियोंसे अपने मनको एकाग्र करके नाड़ीपर ही ध्यान रखें, तब देखनेवाला नाड़ीका विचार करे।

रोगीकी समुचित दशामें, जब कि रक्तका प्रवाह किसी बाहरी कारणसे रोका न जा रहा हो, चिकित्सक अपने बायें हाथसे रोगीकी कलाई थामकर दाहिने हाथकी तीन अँगुलियों-से अंगूठेकी जड़में वायुकी नाड़ी देखे। कलाईपर अंगूठेकी ठीक जड़में जो फड़फड़ाती है, वातकी नाड़ी है। इसके ऊपर तर्जनी अंगुली पड़ती है। मध्यमाके नीचे पित्तकी और अनामिकाके नीचे कफकी नाड़ी चलती है। रोगीके वात अधिक हो तो देखनेवालेकी तर्जनीके नीचे फड़क मालूम होती है। पित्तका प्रकोप हो तो मध्यमाके नीचे फड़क प्रतीत होती है। कफ बढ़ा हो तो अनामिकाके नीचे फड़कती है।

वातपित्त दोनोंके आधिक्यमें तर्जनी और मध्यमाके बीचमें फड़कन होती है। पित्तकफका जोर हो तो मध्यमा और अनामिकाके बीच नाड़ी फड़कती है। सन्निपातमें तीनों अँगुलियोंके नीचे नाड़ी फड़कती है।

नाड़ीकी चालमें भी भेद होता है। वातकी नाड़ी सांप और जोंककी चाल चलती है, टेढ़ी मेढ़ी रेंगती हुई। पित्तकी नाड़ी

कौवा और मेंडककी तरह उछलती हुई, तेज या चंचल चलती है। कफकी नाड़ी हंस या कबूतरकी तरह मन्द मन्द, धीरे धीरे, स्थिर रीतिसे चला करती है। दो दोष मौजूद होनेपर चालमें दोनों गुण दीखते हैं। वातपित्तकी नाड़ी कभी रेंगती कभी उछलती चलती है। वातकफकी नाड़ी कभी रेंगती है कभी मंद मंद फुदकती रहती है। पित्तकफकी नाड़ी कभी तो फुद-कती है और कभी धीरे धीरे कदम उठाती चलती है। त्रिदोष अर्थात् तीनों विकार बराबर बढ़े हुए हों तो रेंगती, उछलती और मन्दगति तीनों एकके बाद दूसरी चाल मालूम होती है। वात-पित्त-कफ तीनोंकी गति क्रमसे हो तो रोग साध्य सम-झना चाहिये। यह क्रम उलटा हो तो असाध्य समझना चाहिये। सन्निपातकी नाड़ी ठहर ठहरकर ठोकर मारती हुई चलती है।

ज्वर आनेके पहले नाड़ी उछलती चलने लगती है। उछ-लना जारी रहे तो "दाह ज्वर" की सूचना होती है। ज्वर जब चढ़ता है नाड़ी गरम और तेज हो जाती है। खाने या मैथुन करनेपर भी नाड़ी गरम हो जाती है। तेज़ भी हो जाती है, पर न तो वैसी गरमी और तेजी होती है और न देरतक यह गरमी और तेजी कायम ही रहती है। छूनेमें शरीर ठंढा हो पर नाड़ी तेज और गरम हो तो भीतरी ज्वर या प्रदाह समझना चाहिये। किसी विशेष अंगमें विषके उभार या प्रदाहसे भी नाड़ीकी यही दशा हो जाती है।

देखती बेर पहले मंद फिर बढ़ते बढ़ते प्रचंड वेगसे चले तो समझो कि जाड़ा देकर ज्वर आनेवाला है।

नाड़ीका वेग भिन्न अवस्थाओंके प्राणियोंमें भिन्न होता है। बचपनमें नाड़ी सुखी शरीरमें भी बड़ी तेज होती है और बुढ़ापेमें बहुत धीमी। अवस्थाके अनुसार एक मिनिटमें कितनी फड़कन होती है इसकी सूची नीचे दी जाती है।

पेटके भीतरके बच्चेकी नाड़ी	१६०
अभीके जन्मे बच्चेकी	१४०—१३०
१ बरसकी उम्रतक	१३०—११५
२ ,, ,,	११५—१००
३ ,, ,,	१००—९९
७ ,, ,,	९०—८५
७ से १४ बरसकी उम्रतक	८५—८०
१४ से ३० बरसकी उम्रतक	८०
३० से ५० बरसकी उम्रतक	७५
५० से ८० बरसकी उम्रतक	६०

स्पर्श-प्रकरणमें हम थर्म्मामीटरका वर्णन करेंगे। यहां इतना कह देना पर्य्याप्त होगा कि प्रत्येक दर्जा हरारतके लिये १० फड़कन बढ़ जाता है। ३५ बरसकी उम्रका रोगी ज्वरमें पड़ा है। उसकी नाड़ीकी गति १ मिनिटमें १०५ है, अर्थात् प्रमित गति ७५ से ३० अधिक है। अतः उसे तीन दर्जा अधिक ज्वर है। यदि उसका शरीर साधारणतया ९७ पर रहता है तो घड़ी

देखकर गति गिननेसे पता लगा कि ज्वर ९७+३=१०० है। इस तरह घड़ी देखकर नाड़ीकी गतिसे डाक्टर ज्वरकी गरमीका दर्जा मालूम कर लेता है।

हमने त्रिदोष और ज्वरकी ही नाड़ीकी गति बतायी है। जितने उग्र रोग होते हैं सबमें विषोंका उद्गार होता है। विषोद्गारमें प्रायः ताप और गति बढ़ जाती है। रक्तमें तीनोंमेंसे कोई दोष अवश्य होगा जिसके निकालनेके लिये उग्रता है। नाड़ी-परीक्षाका सबसे बड़ा उपयोग उग्र दशामें है।

चतुर और विचारवान वैद्य ज्वरके सिवा और लक्षणोंमें भी नाड़ी-परीक्षासे काम लेता है। पहले यह समझ लेना चाहिये कि सुखी और स्वस्थ शरीरकी नाड़ी समान और स्थिर चालसे चलती है और बलवान होती है। सोते समय जोरसे फड़कती है। भूख लगनेपर प्रसन्न हलकी और तेज चलती है। अघाये मनुष्यकी स्थिर रूपसे चलती है। काम, क्रोध, लोभ, तृष्णा, भारी चिन्ता, भय इत्यादि मानसिक विकारोंकी उग्रतामें गर्म, तेज परन्तु क्षीण चलती है। परिश्रम और कसरतमें भी नाड़ी गर्म, तेज हो जाती है।

मंदाग्निकी और धातुक्षीणकी नाड़ी मन्द चलती है। अजीर्णकी कठिन और भारी। प्रमेह और बवासीरमें जल्दी चलती है। गर्भवतीकी नाड़ी भारी और वादीके लक्षणोंवाली चलती है। कफ, खांसीमें स्थिर मंद चलती है, सांसके रोगोंमें तेज। क्षयरोगकी नाड़ी गजगामिनी होती है। अतीसारमें बहुत मन्द हो

जाती है। नशेकी नाड़ी नशेके अनुसार भिन्न होती है। प्रायः कठिन, सूक्ष्म, भारी होती है। हम अन्यत्र दिखा आये हैं कि रक्तमें जब श्लैष्मिक पदार्थ अत्यधिक हो जाता है तब रक्तपर दबाव बढ़ता है, परन्तु शिराओंमें कफके भरे रहनेसे कफकी धमनीका मंद चालसे चलना स्वाभाविक ही है। अच्छे डाक्टरोंके पास इस वेगपर रक्तचाप जाननेके लिये यन्त्र होते हैं।

असाध्य रोगकी पहचान भी नाड़ीसे हो जाती है। असाध्य नाड़ी टूट टूटकर चलती है, ठीक सिलसिला नहीं मिलता। कभी तेज, कभी मन्द, कभी उछलती, कभी रेंगती, घड़ी घड़ी चाल बदलती रहती है। चमड़ेके ऊपरसे ही दीखने लगती है। हाथमें आती है और बिछल जाती है। अत्यन्त चंचल हो जाती है। ठहर ठहरकर चलती है। अत्यन्त क्षीण हो जाती है। कभी मालूम होती है कभी गायब हो जाती है। जिसकी नाड़ी अंगूठेकी जड़से या अपने स्थानसे आधे जवभर हट जाय, तो उसकी मृत्यु तीन दिनमें हो। सन्निपात ज्वर हो, शरीर गर्म हो पर नाड़ी अत्यन्त शीतल हो तो उसकी मृत्यु भी तीन दिन बाद होगी। हृदयमें जलन हो, नाड़ी अपनी जगहसे खसककर थोड़ी थोड़ी देरमें चलती हो तो रोगी तभीतक जियेगा जबतक जलन है।

नाड़ीकी चाल समझने और उसका अनुभव प्राप्त करनेके लिये किसी जानकारके साथ ही सैकड़ों रोगियोंकी नाड़ी देखनी चाहिये और पूछते जांचते अपनी तजवीजकी ठीक परख

करते करते मनुष्य अच्छी नाड़ी-परीक्षा करनेमें समर्थ हो जाता है। स्वाभाविक चिकित्सकको नाड़ी-परीक्षा जानना अत्यन्त आवश्यक है। तीनों दोषोंका पता लगाना उसके लिये नाड़ीसे सहज हो जाता है। इसमें किसी यन्त्रकी जरूरत नहीं है। अच्छे नाड़ी-विज्ञानीके शरीरकी दशा दर्पणकी तरह प्रत्यक्ष हो जाती है।

(३) मूत्र-परीक्षा

नाड़ी-परीक्षाके साथ साथ हकीम वैद्य कारूरा भी देखते हैं। कारूरा मूत्र या पेशाबको कहते हैं। मल, मूत्र, पसीना, कफ, थूक, वमन आदि शरीरसे विषों और मलोंके निकलनेके द्वार हैं। इस प्रकरणमें मूत्रकी जांचपर विचार किया जायगा।

शरीरसे परित्याज्य मलोंमेंसे विशेषतः वह मल जो लवणों-के रूपमें होता है और जलमें घुल सकता है, पेशाबके साथ निकल जाता है। साथ ही प्रतीद और शर्करा भी घुली हुई निकल जाती है। कभी कभी अणुवीक्षण यन्त्रसे ही दीखनेवाले शुक्राणु और अंगके अन्य सेल भी अधिक परिमाणमें निकलते हैं। मूत्रके साथ ही अनेक प्रकारके मलोंका नियमित रूपसे निकलते रहना स्वास्थ्य-रक्षाके लिये अनिवार्य्य है। जब मूत्रसे इन मलोंका निकलना अत्यन्त घट जाय, मूत्र प्रायः जलकी तरह साफ होने लगे तब समझना चाहिये कि शरीरमें प्राण-शक्ति पूरा काम नहीं कर पाती। मलोंका अत्यधिक परिमाणमें निकलना भी इस बातका साक्षी है कि मिथ्याहार-विहारसे हम

शरीरमें अत्यधिक मलोंका संचय कर रहे हैं। तब भी सावधान होनेकी आवश्यकता है।

एक साफ सफेद रंगकी शीशी या बोतलमें प्रातःकालका पेशाव एकत्र किया जाता है और स्थिर दशामें चिकित्सकको दिखाया जाता है। स्वस्थ शरीरका मूत्र सूखे पयालके रंगका पानीसे कुछ भारी होता है। शकर यूरिआ या पानी बहुत हो तो रंग हलका हो जाता है। हकीम वैद्य आदि अंतकी धार बाहर गिरवाकर मध्य धारा ही एकत्र करवाते हैं। रासायनिक परीक्षाके लिये २४ घण्टेका पेशाब एकत्र किया हुआ उत्तम होता है। ऐसा कठिन हो तो चार बजे प्रातःकाल सोकर उठे उसी घड़ीका पेशाब एकत्र करना चाहिये।

१—वातप्रकोपका पेशाब पानीकी तरह साफ रूखा और मिकदार ज्यादा होता है।

२—पित्तप्रकोपमें रंगमें लाल या पीला और मिकदारमें थोड़ा होता है। पेशावमें अधिक पित्त होनेसे तेज पीला रंग होता है।

३—कफप्रकोपमें पेशाव सफेद गाढ़ा और चिकना होता है। झाग बना रहे तो प्रोटीड या अलबुमेन मौजूद है। रंगहीन हो तो हिस्टीरिया है या फलाहार हुआ है। दोषोंके मेलसे प्रत्येकके अनुसार मिले जुले लक्षण दीखते हैं। ज्वरमें इन्हीं दोषोंके अनुसार रंग दीखते हैं। सन्निपातमें और क्षयमें पेशाबका रंग काला हो जाता है। पेशावमें रक्त होनेसे धुएंके रंगसे लेकर

गाढ़े कालेतक रंगका विकार होता है। सन्निपातमें घोर काला होना जहां असाध्यताका लक्षण है, वहां क्षयमें सफेद होना असाध्यताका लक्षण है। घोर काला होना बताता है कि रोग कठिन है, मांसतन्तु शीघ्र क्षय हो रहे हैं, और रुधिर फट रहा है।

जलोदरमें पेशाब घीके दानोंके समान होता है।

आमवातमें मट्ठेके समान होता है।

अजीर्णमें, सफेद वा लाल वा बकरीके मूत्रसा होता है।

प्रसूत दोषमें ऊपरसे पीला, नीचेसे काला, बुदबुदे निकलते रहते हैं।

पित्ताधिक्यमें पीला साफ और तज्जनित सन्निपातमें नीचे लाल होता है।

उदरवृद्धिमें तेलकी तरह चिकना होता है।

रुधिरकोपमें ऊपरसे नीला नीचे लाल होता है।

रक्तवातमें या अम्लत्वसे लाल, रक्तपित्तसे कुसुमका रंग होता है। और रसोंकी अधिकतामें ईख या गन्नेके रसकी तरह होता है।

जीर्णज्वरमें बकरीके पेशाबसा होता है।

मूत्रातिसारमें अधिक होता है। स्थिर होनेपर नीचे लाल होता है।

मलाधिक्यमें पीला और अधिक होता है।

सूजाकमें जल जलकर होता है, बूंद बूंद होता है, रोगी

रो देता है। प्रमेहके अनेक प्रकार हैं। इसमें प्रायः शरीरकी धातुएं जाती हैं। पेशावमें धातुएं अपने रंग रूपसे निकलती हैं। धातुओंसे पेशावका रंग इस प्रकार होता है—

शुक्रका रंग पेशावमें उसका अपना ही बना रहता है।

लालाप्रमेहमें लारके समान तारयुक्त चिकना पेशाव होता है।

रक्तप्रमेहमें बदबूदार गरम खारी खून सा लाल होता है।

वसाप्रमेहमें चरबी मिली होती है।

मज्जाप्रमेहमें मज्जा मिली होती है।

श्लेष्मा या पीवसे गदला रंग दीखता है।

वैद्य पेशावको धूपमें रखवा देते हैं। स्थिर हो जानेपर धीरे धीरे तेलकी बूंदें डालते हैं। बुद्बुदे बनें तो पित्तविकार, बूंदें रूखी काली दीखें तो वातविकार समझो। वातविकारमें बूंदें तुरन्त फैलती नहीं, पहले बूंदके रूपमें तैरती हैं। अगर बूंदें कीच या गदले जलकी तरह हो जायँ तो कफका विकार समझना चाहिये। वातपित्तमें तेलकी बूंदें डालनेसे कड़वे तेलका सा रूप हो जाता है। अगर तेलकी बूंदें फैल जायँ तो रोग साध्य है। बूंदें बनी रहें तो कष्टसाध्य। तेलकी बूंदें नीचे डूबकर बैठ जायँ तो असाध्य समझो।

भोजनका भी मूत्रपर प्रभाव पड़ता है। दूध, मठा, शरबत आदि जलमय या फलमय रसीला भोजन करनेसे पेशाव मिकदारमें ज्यादा हो जाता है। अधिक मिठाई खानेवालेके पेशावमें मिठास बढ़ जाता है। मधुप्रमेहमें चींटिया लगती हैं। मिठाईसे

मधुप्रमेह बढ़ जाता है। जिन भोजनोंमें वेर अधिक हों उनसे मूत्र लाल हो जाता है। मजीठसे गहरा नारंगी, नीलसे नीला, रेवद्चीनीसे पीला, लोहेसे काला, बबूल माजूफल त्रिफलादिके कषायसे वर्णहीन हो जाता है।

कई रोगोंमें पेशाबमें मवाद आता है। शीशेकी लम्बी नलिकामें थिरानेपर तलछटकी जांच करते हैं।

पीबसे अकसर पेंदेमें गाढ़ा तलछट बन जाता है,यह बहुत कम क्षार होता है। पेशाब करनेके बाद ही फटकर वियुक्त होने लगता है। आंच देनेपर भी इसका गदलापन स्थायी रहता है। यह पतित और भी गाढ़ा और लपसी सा हो जाता है यदि उसका आधा पोटाश उज्ज्वौषिद डाल दिया जाय। इसमें अगर श्लैष्मिक पदार्थ है तो इस क्रियासे अधिक तरलता आ जाती है और घोल कुछ कुछ साफ हो चलता है।

कफ, झिल्लीके कोष और शुक्राणुके होनेसे तलछट हलका बादल सा फैला हुआ दीखता है।

मूत्रेतों (युरेटों) के होनेसे रंग पीला, नारंगी या गुलाबी रहता है। परन्तु यह तलछट अम्ल करनेपर आंचसे घुल जाता है।

स्फुरेतोंके होनेसे तलछटका रंग गाढ़ा भारी सफेद होता है। मगर इस मूत्रकी प्रक्रिया और क्षारीय तलछटमें सिरकाम्ल छोड़नेसे तलछट घुल जाता है।

कभी कभी तलछटोंमें स्पष्ट केंचुएसे बारीक कीड़े भी

दीखते हैं। यह रक्तके जमकर मूत्र-नलिकाओंमें सांचेकी तरह ढल जानेसे बन गये हैं। केवल रक्तकी डोरी सी है।

मधुप्रमेहमें शर्करा अत्यधिक आती है। स्वस्थ मनुष्य साधारणतया एक माशेके लगभग शर्करा नित्य पेशावसे निकालता है। यह मात्रा मधुप्रमेहमें बहुत बढ़ जाती है और विशेषतः रातमें ज्यादा शर्करा पेशावसे आती है।

मूत्रमान यंत्र एक नलिका है जिसपर अंक और चिह्न बने होते हैं। इसके साथ शीशेकी लम्बी नपनी नली मिलती है जिसमें पेशाव बरतनके मुँहसे २-३ अंगुल नीचेतक भर दिया जाता है। उसीमें मूत्रमान डाल देते हैं। यह तैरने लगता है। इसकी डांडीपर १, २, ३, ४, ५...१०, ११, १२ इत्यादि अंक बने होते हैं। जलका मान १००० समझा जाता है। अगर मूत्रतल २ पर हुआ तो अंक १०००+२ अर्थात् १००२ हुआ। मूत्रतल १५ पर हो तो अंक १०१५ हुआ। मूत्रमानसे विशिष्ट घनत्वका पता लगता है। जलका विशिष्ट घनत्व १००० है तो पेशावका अभी कहे हुए उदाहरणमें १०१५ है। यदि जलका विशिष्ट घनत्व १ मानें तो यही पेशावके लिये १.०१५ हुआ। साधारण स्वस्थ मनुष्यके पेशावका विशिष्ट घनत्व लगभग १५°श या ६०° फपर १०१५ से १०२५ तक होता है। परीक्षा करते समय ६०° फके ऊपर जितने अंश गरमी हो, प्रत्येक अंशके लिये लब्ध विशिष्ट घनत्वमें .०००१ जोड़ दो। मान लो कि ७२° फपर देखा गया कि वि० घ० १०२१ है। इसमें .००१२ जोड़ा।

१.०३३ हुआ। अन्तिम दो अंकोंको २.३३ से गुणा करें तो गुणनफल बतलावेगा कि एक लीटर पेशावमें इतने ग्राम घन पदार्थ हैं। यथा, ३३×२.३३=७६.८९ ग्राम घन पदार्थ एक लीटरमें मौजूद हैं। २४ घंटेमें ≲१। से ≲१॥ (सवा सेरसे डेढ़ सेरतक) पेशाव आदमी करता है। यह ४०—५० औंस या य१२००—१५०० सीसी होता है।

ताजा पेशाब हल्का अम्ल होता है। देरतक रहनेसे अमोनियाकी गंध आने लगती है और क्षारमय क्रिया हो जाती है। थोड़ा सा पेशाव एक लम्बी नलिकामें रख देते हैं थिरानेपर जो कुछ पेंदेमें जमता है उसे अणुवीक्षकमें देखते हैं। इसके साथ जो चित्र दिये हुए हैं,इनसे अणुवीक्षकसे जांचनेमें सुभीता होता है।

अणुवीक्षकमें जांचनेपर विषको दूर करनेके लिये संयुक्त रूपमें लानेवाले लवण, तंतुकोष, मवाद और नलिकाएं देखनेमें आती हैं। चित्रमें प्रत्येकका परिचय नीचे दिया गया है।

अणुवीक्षकमें रक्त भी देखा जाता है। पेशावका रंग धुएं सा होता है। जरा गुआयकम टिंकचर डालकर फिर ईथरमें बनाया हुआ उज्जन परोषिद्का घोल छोड़नेसे हलका नीला रंग आ जाता है। इस रंगके होते भी अणुवीक्षकमें रक्ताणु और रक्तचक्र न दीखे तो रक्त न समझो। नलीके तलछटकी परीक्षा अणुवीक्षकमें करनेके अलावा प्लाटिनमके टुकड़ेपर लेकर आंच देते हैं। कुछ जल जाता है, कुछ रह जाता है। दोनों प्रकारके तलछटोंका विवरण नीचे दिया जाता है—

रहे। गरमाये हुए अंशमें बादल सा उठता है और गाढ़ा भी कभी कभी हो जाता है जो नीचेवाले पारदर्शी स्वच्छ द्रवसे नितान्त भिन्न है। इस जांचमें **म्युसिन** भी साथ ही पतित होता है। उससे धोखा हो सकता है कि अलबुमेन है या म्युसिन।

(ख) ५०० सीसी जलमें शुद्ध रवादार पिक्रिकाम्ल ७॥ ग्राम घुलाकर इतने दिनों रख छोड़ो कि घोल निर्मल हो जाय। निथारकर काममें लाओ। एक नलिकामें छना मूत्र थोड़ा लेकर उतना ही यह पिक्रिकाम्ल उसमें डालो। खूब हिला-कर ठहराओ और देखो कि कुछ बादल सा दीखता है या नहीं, या तलछट तो नहीं आया। अब इतना गरमाओ कि उबलने लग जाय। यदि बादल सा तलछट अलबुमेन है तो स्थायी रहेगा, पेप्टोन या क्षारकल्पोंका होगा तो घुल जायगा। इससे म्युसिन नहीं पतित होता।

(ग) अलबुमेनकी मात्रा मोटी रीतिसे यों जानी जा सकती है। १० ग्राम पिक्रिकाम्ल, २० ग्राम जम्बीराम्ल घोलकर जल मिलाकर १००० सीसी कर लो। इस घोलको खूब मिला-कर कई दिन रखे रहकर निथार लो और रख लो। अलबू-मिनोमीटर नलिकामें "मू" तक मूत्राम्ल लो और "ओ" तक ऊपरवाला घोल डालो। कई बार उलट पलटकर मिलाओ पर हिलाकर मत मिलाना। आठ पहर पड़ा रहने दो। तलछट जितना ऊंचा होगा (संख्या नलिकापर दी हुई है)

ओ— मू— ७— ६— ५— ४— ३— २— १—

उतने ही ग्रेन अलवुमेन १००० सोसी मूत्रमें मौजूद है। यह खयाल रहे कि अलवुमेनतलके बीचसे ऊंचाई देखना चाहिये। मूत्र यदि खारी हो तो सिरकाम्ल डालकर अम्ल कर लो। यदि अलवुमिनोमीटर न हो तो मूत्र तोलकर लो और सिरकाम्लसे खट्टे किये जलमें पतली धारमें छोड़ दो। तौले हुए छन्ने कागजपर तलछट छान लो,उवलते पानीसे कीपपर ही धोओ,१००° शपर ही उसे सुखाओ। सूख जाय तो तौलो। तोलमेंसे छन्ना कागजकी तोल निकाल लो। शेष तोल है अलवुमेनकी जो उक्त तोलके मूत्रमें पाया गया।

(३) शकरकी जांच यों करो—

फेलिंग घोल दो शीशियोंमें वनाकर रखो। तूतियावाले घोलकी शीशीपर फेलिंग घोल नं० १ और दूसरेपर फेलिंग घोल नं०२ लिखो। फेलिंग घोल नं० १ वनानेके लिये तूतिया ३४. ६४ ग्राम तोल लो। आधा सीसी उग्र गंधकाम्ल लेकर थोड़ेसे स्नुत जलमें मिलाकर उसीमें तोला हुआ तूतिया डालो और थोड़ा स्नुत जल और देकर सब घुला लो। इस घोलमें अब इतना स्नुत जल डालो कि घोल ५०० सीसी हो जाय। इसे खूब हिला-मिलाकर नं १ शीशीमें रखो। थोड़ेसे स्नुत जलमें शुद्ध शुष्क दाहक सोडा ७७ ग्राम और सोडा तिंतिड़ेत १७६ ग्राम घुलाओ और अधिक जल देकर ५०० सीसीतक वढ़ाकर हिला मिलाकर शीशी नं० २ में रख छोड़ो। काम पड़नेपर दोनों घोल वरावर वरावर मिलाकर काममें लाओ। दोनोंका मिश्रण परखनलीमें

इतना गरम करे कि उबलने लगे, तो भी घोल निर्मल बना रहे। घोलकी शुद्धताकी यही पहचान है। इस मिश्रणका १०० सीसी आयतन आधा ग्राम द्राक्षाशर्कराके बराबर है।

मूत्रमें थोड़ा पोटाशोज्जौषिद घोल मिलाकर खारी कर लो। स्फुरेत आदिके पतनपर इन्हें छानकर अलगा दो। छने द्रवमें फेलिंग घोल नं०१ डालकर उबलने दो। ईंट जैसे लाल पतितसे द्राक्षा शर्करा स्पष्ट है।

मात्रात्मिका परीक्षाके लिये १० ग्राम मूत्र लो, उसमें जल मिलाकर ठीक १०० सीसी कर लो। इस घोलको ब्युरेटमें ले लो और ठीक १० सीसी नापकर फेलिंग-उभय-घोल-मिश्रण एक कुप्पीमें लो और उसे दो छेदोंके कागके सहारे ब्युरेटमें लगा दो। इतना ऊंचा रहे कि कुप्पीके नीचे मद्यकी डिब्बीसे खौलानेवाली आंच देते जाओ। अब आयतन देखकर ब्युरेटसे धीरे धीरे मूत्र मिश्रण खौलते घोलमें पड़ने दो। तूतियाका हरा रंग ज्यों ही नष्ट हो जाय त्यों ही ब्युरेटका पेंच बन्द कर दो। ब्युरेटमें पढ़ लो और जान लो कि कितना मूत्रघोल काममें आया। जितना मूत्र काममें आया उतनेमें .०५ ग्राम द्राक्षा शर्करा थी।

मान लो कि ५० सीसी घोल काममें आया। यह ५ ग्राम मूत्रके बराबर है। अतः ५ ग्राम मूत्रमें .०५ ग्राम शर्करा है। मान लो कि २४ घंटेमें रोगी १५०० ग्राम मूत्र विसर्जन करता है, तो १५ ग्राम शर्करा उससे निकलती है। सवा सेर मूत्रमें एक रुपये भर शर्करा हुई। स्वस्थ मनुष्यके १५ सेर मूत्रमें एक रुपये भरसे

अधिक शर्करा नहीं निकलती, इससे अधिक मात्रामें शर्कराका निकलना मधुप्रमेहका पता देता है।

(४) पित्तकी जांच यों करो—

एक परखनलीमें एक ड्राम नत्रिकाम्ल लो और बड़ी सावधानीसे धीरे धीरे तिरछे थामे हुए नलिकामें मूत्र भी एक ड्राम नलीकी भीतके सहारे छोड़ो। यदि मूत्रमें पित्त है तो जिस जगह दोनों द्रवका सम्मिलन होता है उस जगह हरेसे बैंगनी, नीला और लाल रंगोंकी छटा देखनेमें आयेगी।

(५) यूरियाकी जांच यों करो—

सिरकाम्लसे मूत्रको खट्टा करके उबालो और छानकर अलबुमेन अलग कर लो। पानीकी कुंडीपर आधी छटाक मूत्र आंचसे उड़ाकर इतना गाढ़ा करो कि शीरा सा हो जाय। ठंढा करके बूंद बूंद नत्रिकाम्ल छोड़ो। यूरिया नत्रेतके रवे बनकर जमने लगेंगे। जब रवे बनना बन्द हो नत्रिकाम्ल छोड़ना बन्द कर दो।

(६) यूरिकाम्लकी जांच यों करो

आधी छटाक मूत्रमें एक ड्राम लवणाम्ल डालकर एक बीकरमें कई घंटे रहने दो। रक्ताभ भूरे रवे जम जायँ तो यूरिकाम्ल जानो। चाहो तो इसे तोलकर मात्रा निकाल लो। स्वस्थ दशामें मूत्रके एक सहस्र भागमें ३ से लेकर सात भागतक यूरिकाम्ल होता है।

(७) स्फुरेतकी जांच यों करो—

आधी छटाक मूत्रमें कुछ अधिक अमोनिया डालकर उबालो। परखनलीमें खटिक और मगनीसियमस्फुरेतका पतन होगा। यदि केवल बादलमात्र न हो, कुछ अधिक मात्रामें तलछट हो तो छानकर तलछटकी परीक्षा स्फुरेतके लिये बहुत आवश्यक समझो तो करो। हलके अम्लमें घुलाकर नत्रिकाम्ल और अमोनियम मलिब्देत छोड़ो। पीला तलछट आवे जो नत्रिकाम्लमें तो न घुले पर अमोनियामें घुल जाये, तो स्फुरेत जानो।

(८) गन्धेतकी जांच यों करो—

लवणाम्ल देकर कुछ मूत्रको खट्टा करके गरमाओ और उसमें भारियम हरिद घोल कुछ अधिक मात्रामें छोड़ो। सफेद तलछट गंधेतका पता देता है। यह तलछट घुलनशील नहीं होता।

(९) हरिदोंकी जांच यों करो—

नत्रिकाम्ल देकर कुछ मूत्रको खट्टा करके कुछ अधिक रजत नत्रेत घोल छोड़ो। श्वेत पतित प्रकाशमें बैंगनी हो जाता है। नत्रिकाम्लमें नहीं घुलता पर अमोनिया घोलमें घुल जाता है।

(१०) पीव भी कभी कभी पेशाबमें पायी जाती है। नीचे इसका गाढ़ा तलछट जमता है। अधिकांश अम्ल या तटस्थ होती है। शायद ही कभी खारी हो जाती हो। पेशाब करनेके बाद ही झट बिगड़ने लगती है। पीवसे जो गदलापन आता है उसपर आंचका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। लगभग आधे आयतनभर

पोटाशोज्ञौषिद् डालनेसे तलछट और भी गाढ़ा और लपसी सा हो जाता है। यदि श्लेष्मा हुई तो गाढ़ेके बदले अधिक पतला और साफ हो जाता है। *

(४) मल-परीक्षा

स्वस्थ मनुष्यका मल बँधा हुआ, नरम, कम दुर्गंधवाला, चिकना और शरीरसे न चिपकनेवाला, होता है। इसके विसर्जनसे गुदाद्वार गन्दा नहीं होता। परन्तु रोगाक्रान्त शरीरका मल भिन्न अवस्थाओंमें भिन्न लक्षण दिखाता है। मनुष्य जो कुछ भोजन करता है उससे पाचनके अनन्तर मलविसर्जन अनिवार्य्य है।

मुखमें चर्वण और लालामिश्रणके अनन्तर भोजन अन्न-प्रणालीसे आमाशयमें जाता है जहां प्रायः आधे घंटेतक लालाकी प्रक्रिया मंडपर होती रहती है। आमाशयिक रस बनता है। प्रोटीनोंका विश्लेपण होने लगता है। वसा पिघल जाती है। दूध जम जाता है। ऊखकी शर्करासे द्राक्षा वा फलोंकी शर्करा बन जाती है। भोजन मँथ उठता है और उसमें अम्लत्व आ जाता है। यही आहार रस है। इसी बीच आहार रस थोड़ा

* हमने मुख्य मुख्य जांच दी है। अधिक विस्तारसे जाननेके लिये मूत्र-परीक्षापर ग्रंथ देखने चाहियें। अनेक रासायनिक परीक्षाओंके लिये बहुत उपयुक्त ग्रंथ Muter's Short Manual of Analytical Chemistry है जिसका प्रकाशक है Bailliere, Tindall and Cox, 8 Henrietta Street, Covent Garden, London.

थोड़ा पक्वाशयमें पहुँचता रहता है। साधारणतः चार पांच घंटेतकमें क्षुद्रान्त्रमें आहार रस पहुँच जाता है। पक्वाशयमें पित्त, क्षुद्रांत्रीय रस, और क्लोम रस आहार रसके साथ मिलते हैं। आहार रस अब क्षारीय हो जाता है। प्रोटीन फट जाते हैं। मंडोंसे और शर्कराओंसे द्राक्षा शर्करा बन जाती है। वसासे ग्लिसरीन और साबुन बन जाते हैं। सभी मूल अवयव अन्न-मार्गकी श्लैष्मिक कलामें प्रवेश करनेयोग्य हो जाते हैं। इसीका नाम **पाचन** है। कलामें होकर रक्त और लसीकामें पहुँचकर आहार रसके आवश्यक अंगोंका आत्मीकरण हो जाता है, अंगीकरण भी इसे कह सकते हैं। वसाको लसीका-केशिकाएं खींच लेती हैं। शेष रक्तमें खिच जाते हैं। आहार रसका जल बड़ी आंतोंमें खिच जाता है। लगभग पांच घंटेमें भोजनका पाचन होकर शेषांश बड़ी आंतोंमें पहुँचने लगता है और पांच घंटेके लगभग यह क्रिया जारी रहती है। अर्थात् दस घंटेमें बड़ी आंतमें मल इकट्ठा होता है। इसमें भी दो घंटेमें चक्कर लगाकर वस्तिगह्वरके भीतरी आंतसे मलाशयमें धीरे धीरे उतरनेमें लग-भग छः घंटे और लगते हैं। इस प्रकार मलाशयमें विसर्जनके लिये मल लगभग भोजन करनेके प्रायः अठारह घंटे बाद आता है। साधारणतया स्वाभाविक जीवन बितानेवाले और युक्ता-हार-विहारवाले आत्मसंयमीकी दशा यहां वर्णन की गयी है।

अस्वस्थ दशामें अन्नमार्गमें प्रायः अप्रमित दशा विद्यमान होती है। इससे इन क्रियाओंमें अबेर-सबेर हो जाती है। कहीं

उपयुक्त रस नहीं बनते, कहीं शोषण नहीं होता, कहीं अत्यधिक शोषण होता है, अत्यधिक रस बनते हैं। कभी बद्धकोष्ठकी शिकायत होती है, कभी दस्त आने लगते हैं।

प्रमित और स्वाभाविक दशामें मलका रंग हलका पीला होना चाहिये। मांसाहारीके मलका रंग भूरापन लिये होता है और शाकाहारियोंकी अपेक्षा परिमाणमें कम होता है। साधारणतया जल, भोजनका वेपचा भाग, भोजनका न पचने-योग्य भाग (जैसे रेशे, छिलके, बीज, मांस, कच्चामंड, लवण आदि, सड़ावसे उपजे विकृत पदार्थ (जैसे इंडोल, स्कटोल आदि), जीवाणु और कीड़े, अन्नमार्गसे छूटी हुई श्लैष्मिक कलाकी सेलें, कुछ पाचक रस, इन्हीं छः प्रकारकी वस्तुओंका समाहार विष्ठा कहलाता है। स्वाभाविक और प्रमित दशाके मलमें दुर्गंध न होना चाहिये अथवा अत्यन्त कम होना चाहिये। दुर्गंधका कारण सड़ाव है। इंडोल, स्कटोल आदि दुर्गंधमय पदार्थ हैं। इन्हींके कारण वायु भी दुर्गंधयुक्त निकलती है। जब आंतोंमें सड़ाव अधिक होता है, तब इसी तरहके विषैले पदार्थ रक्तमें भी पहुँच जाते हैं और तरह तरहके उग्र और जीर्ण रोगोंके कारण बन जाते हैं। कब्ज और अजीर्ण अनेक रोगोंके पिता हैं। इसीलिये मलसे आंतोंके विकारोंका पता लगता है और होनहार रोगोंकी अटकल की जा सकती है।

मलकी परीक्षा भी रासायनिक हो सकती है, परन्तु बहुत कम की जाती है। अणुवीक्षण यंत्रसे अंतड़ियोंके सेलोंका पता

लगता है। लवणके रवे दीखते हैं और पहचाने जाते हैं, कीड़ों और जीवाणुओं एवं रोगाणुओंको देखकर रोगकी दशा जानी जाती है। इस प्रकारकी परीक्षाकी भी अभी भारतमें थोड़ी थोड़ी चाल चल पड़ी है, परन्तु इतना अधिक प्रचार नहीं है कि यहां उसका विस्तार किया जाय।

साधारणतया मलकी दशा देखकर और सुनकर रोगीकी दशाका अनुमान किया जाता है। हमारे पाठकोंके लिये इतना ही पर्य्याप्त होगा।

बदबूदार, ढीला, फटा, झाग मिला, कुछ बँधा, कुछ बिखरा, हवासे मिला मल अपच या अजीर्णमें होता है। वातके कोपसे टूटा हुआ, फेनदार, रूखा, धुएंके रंगका मल होता है। कफके प्रकोपसे आवँके साथ ढीला, गाढ़ा और सफेद प्रायः अधिक दस्त होता है। वातकफमें इन्हीं लक्षणोंके साथ मरोड़ और वायुयुक्त कुछ बँधा कुछ ढीला मल होता है। पित्तके प्रकोपमें पतला पानीसा दस्त पीला पीलासा होता है। वात-पित्तके कोपसे कभी बँधा कभी ढीला, पीला और काला होता है। पित्तकफके कोपसे पीला काला चीकटसा गीला गीला होता है। त्रिदोषमें रंगबिरंगा टूटा सा, बँधा और गीला मिला-जुला होता है।

सफेद और बहुत सड़ा मल जलोदरमें, काला क्षयरोगमें, कमरमें पीड़ा होकर पीला परन्तु कम आमवातमें, पतले दस्त अतीसारमें, पतले दस्त मतलीके साथ कृमिरोगमें, चावलके

धोवनके समान हैजेमें, विना पचा कच्चा अन्न दस्तके वदले संग्रहणीमें, कब्जके साथ सूखा और थोड़ा वातज्वरमें, पतला और पीला पित्तज्वरमें और सफेद दस्त कफज्वरमें होता है।

पतले दस्तके देरतक मलाशयमें रुके रहनेसे पानी शरीरमें खिंच जाता है और मल सूख जाता है। इसीलिये मलके रोकनेसे पतला दस्त गाढ़ा या सूखा हो जाता है। साथ ही गाढ़े दस्तको या सूखे मलको वस्तिकर्मसे ढीला और गीला या पतला कर देते हैं। चिकित्सक इन बातोंपर भी विचार करे।

प्रकृत दशामें नवजात और गोदीके बच्चोंको फदफदा पतला दस्त साधारणतया ३ से ६ बारतक होता है। ज्यों ज्यों अवस्था बढ़ती है मल गाढ़ा और बँधा होता जाता है। प्रौढ़ावस्थामें सामान्यतः दिन रातमें एक बार या दो बार मनुष्य मलत्याग करता है। गोदके बच्चोंका मल हलके पीले रंगका होता है। दांत निकलते समय कटे पालकके सागके छीछड़ेसे गिरते हैं। यदि मलमें ललाई हो तो रक्त समझना चाहिये जो ववासीर, आमातिसार, यकृतमें रक्तका जमाव, या टैफस ज्वर आदि कारणोंसे संभव है।

(५) जिह्वाकी परीक्षा

जिह्वासे मनुष्यको स्वादका ज्ञान होता है। नरम कड़ेका भी पता लगता है। ठंढा गरम भी मालूम होता है। उच्चारण भी होता है। निदान, सुस्थ शरीरमें स्वाद ठीक ठीक जाना जाता है, कोमल-कठोरकी, गरम-ठंढेकी ठीक ठीक पहचान होती है

और उच्चारणमें भी कोई विशेष विकार नहीं दीखता। जिह्वाकी बनावट स्वाभाविक दशामें जैसी होती है, रोगकी अवस्थामें कुछ भेद आ जाता है। उसका अगला सिरा साधारणतया पतला और नोकीला होता है और जड़ मोटी और चौड़ी होती है। जिह्वाका साधारण रंग गुलाबी होता है। उसमें मांसपेशियोंकी सी शक्ति होती है जिससे वह मुँहके भीतर चारों ओर घूम सकती है, गस्सेको लालासे मिलानेमें पूरी सहायता करती है, दांतोंमें कोई चीज अटकनेपर उसे निकाल बाहर करती है, बाहर निकल सकती है मोटी, पतली, लम्बी, चौड़ी हो सकती है। उसमें संकोच और प्रसारकी पूरी शक्ति होती है। स्वादके पहचाननेमें साधारणतया खट्टे, मीठे, नमकीन, कड़वे, कसैले, चरपरे या तीतेका ठीक पता देती है। यह अधिकतर मांससे बनी हुई होती है। ऊपरी आवरण मोटी श्लैष्मिक कलाका होता है। जब शरीर अप्रमित अवस्थामें रहता है, विशेषतः जब अन्नमार्गमें अप्रमित अवस्था होती है तब जिह्वाकी दशामें भी परिवर्त्तन हो जाता है।

नीरोग अवस्थामें जीभ सदा आर्द्र रहती है और उसका ऊपरी तल भी साफ गुलाबी रंगका होता है। न कोई खुरदरापन होता है और न कहींसे फटी होती है, न फुंसी आदि कोई विकार उसपर होता है।

वातविकारमें जड़की नाईं, सुन्न, फटी सी, परन्तु मीठी मीठी सा हरे रंगकी होती है और अधिक लाला गिरती रहती

है। देखनेमें भी रूखी और गायकी जीभकी तरह खुरदरी होती है। मुँह बिरस हो जाता है।

पित्तके विकारमें स्वाद चरपरा या कड़वा हो जाता है, जलती सी लगती है, चारों ओर कांटेसे लगते हैं। देखनेमें रंग लाल और कभी कभी स्याही मायल होता है।

कफके प्रकोपमें जीभ भारी लगती है, स्वादमें खारी होती है, या मीठा-खट्टा स्वाद होता है। कफ अधिक गिरता है, मोटे मोटे कांटेसे दीखते हैं।

रक्ताधिक्यवाले प्रदाहमें उष्ण और लाल रङ्गकी हो जाती है परन्तु हैजेमें, मूर्च्छा रोगमें, और सांस रुक जानेपर जीभ ठंढी हो जाती है, उसमें नीलिमा भी दौड़ जाती है। वातपित्त, वात-कफ, पित्तकफ, अथवा त्रिदोषमें लक्षणोंको मिलाकर समझना चाहिये।

यकृत, प्लीहा, क्षय आदि रोगोंकी अन्तिम अवस्थामें जीभ-पर घाव हो जाता है। गरमीमें छाले पड़ जाते हैं। पेटके भीतर-के विषोंके और मलोंके आधिक्यसे जीभपर निनावां हो जाता है, दाने निकल आते हैं। यकृतके बिगड़नेपर, मल और पित्तके रुकनेपर, जीभ हरिताभ पीली होती है और मैलकी मोटी तह जमी हुई होती है।

ज्वर और दाह रोगमें जीभका स्वाद फीका हो जाता है। नवीन या उग्र ज्वरमें वा उग्र दाहमें जीभ सफेद और स्वादमें तिक्त होती है। आमवात और आमाजीर्णके आरंभमें भी जीभ

सफेद होती है। सन्निपात ज्वरमें मोटी, सूखी, रूखी और स्याही मायल होती है। कंठ दाहमें तो जीभ काली हो जाती है। जलन या कमजोरी बहुत बढ़ जानेपर जीभ बढ़ जाती है।

होमियोपैथी चिकित्सा करनेवाले इससे अधिक और विस्तृत लक्षणोंपर विचार करते हैं। किनारोंपरकी लाली, नोकपर त्रिभुजाकार लाली, दाने, रोएंदार तल, मैलकी तह और रंग, स्वाद, स्पर्श, गति, शक्ति, स्वर उच्चारण आदि सबका पूरे विस्तारसे विचार करते हैं।

पक्षाघातमें जीभ टेढ़ी हो जाती है, एक ही ओरको घुसती जाती है। मांसपेशियां काम नहीं कर सकतीं, नाड़ियां स्तब्ध हो जाती हैं, उच्चारण नहीं हो सकता। शराबके नशेमें भी जीभकी नाड़ियां स्तब्ध हो जाती हैं। शब्दका ठीक उच्चारण नहीं हो सकता।

जीभका स्वाद अजीर्णमें चिकना, मन्दाग्निमें कसैला, वातकोपमें कभी कभी नमकीन भी होता है।

जीभका नवीन या उग्र रोगोंमें निकालनेपर कांपती रहना बुरे लक्षण हैं। जीर्ण रोगोंमें कोई भय नहीं। परन्तु खुली और बढ़ी हो रह जाय तो समझो कि मस्तिष्कका नाड़ीचक्र बिगड़ा हुआ है। पेटके बिगड़ने या वातप्रकोपमें जीभ मोटी हो जाती है और उसपर दांतके चिह्न भी पड़ जाते हैं। साफ लाल जीभपर दाने रक्तज्वर बताते हैं।

(६) स्पर्श-परीक्षा

त्वचामात्रका विषय स्पर्श है। रोगीके स्वयं स्पर्श करनेसे उसे कैसा अनुभव होता है, और दूसरा जब रोगीको स्पर्श करता है तो उसे क्या अनुभव होता है, यह दोनों बातें स्पर्श-परीक्षाके अन्तर्गत हैं। नरम, कड़ा, ठंढा, गरमका ही परिज्ञान स्पर्शसे होता है। नाड़ीकी समस्त परीक्षा इसी स्पर्शके अन्तर्गत हो सकती है, परन्तु रक्तके वेगमात्रका प्रधान विचार होनेसे उसकी गणना अलग ही की गयी है।

आयुर्वेदके अनुसार पित्तके कोपसे ही शरीर गरम रहता है। वात और कफके विकारमें शीतल रहता है। कफमें शरीर चिपचिपा चिकना और आर्द्र भी होता है। ज्वरमें शरीर गरम रहता ही है। शीतांग सन्निपातमें शरीर एकदम ठंढा हो जाता है और मृत्यु सन्निपातमें असह्य ताप जान पड़ता है। शरीरमें रोगकी उग्र दशामें ताप अवश्य ही बढ़ जाता है। मानव-शरीरका साधारण ताप फारन हैट अंशोंमें शाकाहारियोंका लगभग ९७॥ और मांसाहारियों और शीत देशवासियोंका लगभग ९८॥ बगलमें थरमामीटर वा रोगियोंका तापमापक यंत्र लगानेसे मिलता है। जीभके नीचे मुँहमें लगानेसे क्रमशः ९८॥ और ९९॥ तापक्रम मिलता है। थरमामीटरकी घुंडीको ही परीक्ष्य स्थानमें चारों ओरसे ढका रहना चाहिये। लगानेसे पहले दर्जा देख ले और हलकी थपकी या झटकेसे पारेको नीचे उतार ले। बगलका पसीना पोछकर लगावे। एक मिनिटके

वदले पांच मिनिटतक लगा रखना बेहतर है। देख लेनेके पीछे घुंडीको भलीभांति शुद्ध जलसे धोकर साफ करले तब केसमें रखे। भारतवर्षनिवासियोंका साधारण तापक्रम ९७॥° फा होता है। परन्तु बुढ़ापेमें या ढलती उमरमें यही घटकर ९६॥तक उतर जाता है। बचपनमें बहुधा ९८॥ पाया जाता है। तापमापक यंत्रोंमें प्राय: पंचमांशके चिह्न बने रहते हैं। यदि १०१ के ऊपर २ चिह्नपर पारा हो तो १०१.४ समझना चाहिये। अर्थात् प्रत्येक चिह्नको दोके बराबर माने। रोगीवाले तापमापक यंत्रमें प्राय: ९५ से लेकर ११० अंशतकके चिह्न बने होते हैं। प्रत्येक थर्मामीटरका प्रयोगकाल उसके ऊपर प्राय: लिखा रहता है। परन्तु उस कालसे अधिक लगानेमें कोई धोखा नहीं है। कम लगानेमें ठीक तापक्रम नहीं आता। सभी तापमापक यंत्र विदेशोंके बने आते हैं। मैंने अच्छेसे अच्छे तापमापकमें अशुद्धि पायी है। इसीलिये दस पांच नीरोग शरीरोंपर पहले नये ताप-मापककी जांच कर लेनी चाहिये। जिन लोगोंको लगाया जाय वह सोकर उठे और शौचसे निवृत्त होकर आरामसे प्रमित अवस्थामें बैठे हों।

लड़कपन और उठती जवानीका तापक्रम भारतवर्षमें साधारणतया बगलमें ९८॥ पाया जाता है। पचीस बरसके बाद यह तापक्रम तन्दुरुस्तीकी हालतमें भी घटने लगता है। चालीस बरसकी अवस्थातक धीरे धीरे घटते घटते ९७ तक हो जाता है। यह दशा साधारणत: शाकाहारियोंकी है। मांस

मद्य सेवन करनेवालोंका तापक्रम कुछ अधिक रहता है। बुढ़ापेमें ९६॥ तक तापक्रम घट जाता है। दौड़ धूपके बाद, आग तापने या धूपमें रहनेपर, व्यायाम करने या ऊपर चढ़नेके बाद, अगर तुरन्त तापक्रम देखा जाय तो एक दो दर्जा बढ़ा हुआ पाया जाता है। भोजन करनेपर भी तापक्रम बढ़ जाता है। सोकर उठनेपर, आरामसे लेटे रहनेपर, या बैठे रहनेपर तापक्रम कम दिखाई पड़ता है। अच्छे शरीरमें भी गरमीके मौसिममें त्वचाकी हरारत ऊंची देखनेमें आती है। अच्छे आदमीकी हरारत भी प्रातःकाल जितनी रहती है सूरजके ऊंचे चढ़ते रहते बढ़ती रहती है और दिन ढलते ढलती रहती है। साधारणतया बगलमें ही लगाना प्रामाणिक है।

९८॥ से अधिक ९९॥ तकका तापक्रम मामूली हरारत समझी जाती है। जुकाम सर्दीमें इतनी ही हरारत या ज्वर होता है। साधारण ज्वर १०१ से १०२ तक समझना चाहिये। १०३—१०४ तक तेज बुखार समझना चाहिये। १०५ तक प्रायः रोगी प्रलाप करने लगता है। १०६ तक मृत्युभय हो जाता है। १०८ तक पहुँचनेमें रोगीकी मृत्यु हो जाती है। मरनेके बाद कभी कभी शरीरका ताप ११०° फा० तक बढ़ जाता है।

साप्ताहिक घटने बढ़नेवाले ज्वरमें, आंत्रज्वरमें अथवा ऐसे ही उन ज्वरोंमें जो अंगविशेषके विकारसे होते हैं, ज्वर अकसर बना रहता है। यदि १०१—१०४ रहा करे तो रोग सुसाध्य समझो। यदि १००—१०५ रहा करे तो कष्टसाध्य जानो। राज-

यक्ष्मा रोगमें या जिगरमें घाव होनेपर ताप १०२—१०३ तक रहता है। रोगकी बढ़ती घटतीके साथ ही साथ तापक्रम भी बढ़ता घटता रहता है।

जहां ९८ के ऊपर सात दरजेतक गरमी बढ़ सकती है और मृत्यु नहीं होती, वहां ९८ से नीचे तीन ही दरजे हरारतके उतरनेसे मनुष्य नहीं बचता। हैजेमें शरीरका तापक्रम ९५ से नीचे उतर जाता है। गरमीसे उतना मृत्युभय नहीं है जितना सरदीसे है।

जहां थर्म्मामीटर नहीं होता वहां डाकटर उस घड़ीसे भी तापक्रम मालूम करनेका काम ले सकता है जिसमें सेकंड बतानेवाली छोटी सुई भी चल रही हो। नाड़ी-परीक्षा-प्रकरणमें हम दिखा चुके हैं कि कितनी उमरके प्राणीकी नाड़ी एक मिनिटमें कितने बार थपकनी चाहिये। उसीके अनुसार चिकित्सकको देखना चाहिये कि एक मिनिटमें नाड़ी कितने बार थपकती है। रोगीकी आयुके अनुसार जितने थपकन होने चाहियें उससे प्रत्येक अधिक दस थपकनके लिये एक दर्जा ज्वर अधिक समझना चाहिये। मान लो कि रोगी ४० बरसका है। साधारणतः १ मिनिटमें ७५ थपकन चाहिये। घड़ी बताती है १ मिनिटमें १०८ थपकन। अर्थात् ७५+३३। अर्थात् प्रमित संख्यासे ३३ थपकन अधिक है। १० थपकन प्रति फारनहैट तापांशके हिसाबसे रोगीको प्रमित तापक्रमसे ३.३ अंश ताप अधिक है। मान लो कि रोगीका प्रमित तापक्रम ९७.४ है, तो

इस समय रोगीको यदि तापमापक लगाया जाता तो ९७.४ +३.३ = १००.७° फा या लगभग १०० के ऊपर पाया जाता।

जहां कहीं चोट या घाव या फोड़े या सूजनके कारण रक्त-का अधिक एकत्रीकरण होता है, उस अंगका तापक्रम और अंगोंकी अपेक्षा बढ़ जाता है। यह बात उस स्थानको ही छूने-से मालूम हो सकती है। इसीके विपरीत जिस अंगमें किसी कारणसे रक्तका संचार घट जाता है वह अंग औरोंकी अपेक्षा अधिक ठंढा हो जाता है।

शरीरमें ताप रक्तसंचारके ही कारण होता है। जहांसे रक्त-संचार घटता है वहां गरमी घटती है। जहां बढ़ता है गरमी भी बढ़ती है। रोगीके हाथ पैर ठंढे हो गये और चांद गरम है तो समझो कि रक्तकी धारा दिमागकी ओर तेजीसे चल रही है। इसकी उलटी क्रिया होनेपर तलवे और हथेली जलने लगते हैं। भोजनके समय रक्तका सबसे अधिक संचार अन्नमार्गमें और विशेषतः आमाशयकी ओर होता है। दिमागी काम करते समय रक्त दिमागकी ओर दौड़ता है। इसीलिये हाथपैर धोकर या नहाकर शान्तचित्त ठंढे दिमागसे मन एकाग्र करके भोजन करना चाहिये और दिमागी काम भोजनके पहले या पीछे भी देरतक न करना चाहिये। कभी कभी इस नियमके व्यतिक्रमसे भी अप्रमित अवस्था उपस्थित होती है।

स्पर्शद्वारा, हाथसे दबाकर, स्थानान्तरित हड्डी, बढ़ी हुई तिल्ली, या सूजा हुआ जिगर, पका या बेपका हुआ फोड़ा,

जलसे भरे छाले, या केवल बादीसे सूजन, इत्यादि अनेक बातोंका अनुभवसे पता लग जाता है। सूजन या पीड़ाके स्थानको स्पर्श करने या दबानेसे कभी व्यथा बढ़ती है, कभी घटती है, इसका पता रोगीसे पूछनेसे ही लगता है। पेटमें पीड़ा हो तो दबानेसे आराम तभी होगा जब बाईके कारण हो, अथवा शुद्ध वातप्रकोपसे हो। दबानेसे पीड़ा बढ़ेगी यदि भीतर सूजन है, रक्तकी बाढ़ है या कोई विजातीय द्रव्य उस स्थानपर कष्ट दे रहा हो।

स्पर्श-परीक्षामें अनुभवी वैद्य अनेक और भी बातें जान-समझ सकता है। इस पुस्तकके लिये इतना ही पर्य्याप्त होगा।

(७) आंखकी परीक्षा

इन्द्रियोंमें आंखका दरजा सबसे ऊंचा है। सब इन्द्रियोंकी सामूहिक शक्ति यदि दस मानी जाय तो उसमें नव हिस्से आंखके होते हैं। मनुष्यकी वास्तविक अवस्थाका पूरा चित्र आंखोंमें खिंचता रहता है। आंखोंसे चतुर चिकित्सक शरीरके भूत, वर्त्तमान और भविष्य तीनों दशाओंका अनुमान कर सकता है।

साधारणतया रोगीकी आंख अच्छी तरह पलकें उभारकर देखनेसे ही अनेक बातोंका परिज्ञान हो जाता है। उसका कुछ थोड़ासा विस्तार हम यहां देंगे। परन्तु आजकल पाश्चात्य विद्वानोंने कांचके एक यंत्रसे आंख देखनेकी विधि निकाली है। इस यंत्रद्वारा यह साफ दीखता है कि बीचकी पुतलीके चारों

और विशेष प्रकारकी रेखाएं और आकार हैं जो प्रत्येक मनुष्यकी आंखोंमें उसकी प्रकृति और शरीरकी भूत और वर्त्तमान दशाके अनुकूल बनते बिगड़ते घटते बढ़ते रहते हैं। आकारोंका पूरा अनुशीलन करके उनका स्थान निर्देश किया गया है और यह पता लगाया गया है कि किस आकार और रेखासे क्या सूचना मिलती है। लिंडलारने अपने ग्रन्थमें जो चित्र दिया है वह हम यहां उद्धृत करते हैं। देखनेसे पता लगेगा कि आंखकी परीक्षाका कितना महत्व है। यह कांचका यंत्र थोड़े ही दामोंमें मिलता है। इसका अभ्यास करना चिकित्सकके लिये अत्यंत उपयोगी है।*

वातप्रकोपमें आंखें भयानक लगती हैं। रूखी, धुएं सी, टेढ़ी, भीतरसे काली, और या तो चंचल या जड़वत् दीखती हैं।

पित्तके प्रकोपमें पीली, या नीली, या लाल, या गरम, या चमकीली या रौशन चीजें आंखें नहीं सहतीं। रौशनीकी ओर देखनेमें कष्ट होता है। स्वयं लाल पीली या हरी हो जाती हैं।

कफके प्रकोपमें आंखोंकी ज्योति मन्द हो जाती है, सफेद दीखती हैं। पानीसे भरी रहती हैं और भारी लगती हैं।

त्रिदोष सन्निपातमें आंखे श्यामवर्ण, व्याकुल, अलसाई,

---

* देखो Lindlahr's Iridiagnosis एवं पृ० 236-243, Lindlahr's Philosophy of Natural Therapeutics, (Publisher: The Lindlahr Publishing Company, 515-529 South Ashland Boulevard, Chicago, 1922).

टेढ़ी, रूखी, भयानक और कभी कभी सुर्ख दीखती हैं। खुलती मुँदती रहती हैं। रोगीका आंखपर वश नहीं चलता। कभी मुँदी ही रहती हैं, कभी खुली ही रहती हैं। काली पुतलियां गायब हो जाती हैं। उपतारानुमण्डल काला होकर कभी घूमता है कभी स्थिर हो जाता है। आंखोंके रंग बदलते रहते हैं। यह सब मृत्युके लक्षण हैं। आंखोंका पथरा जाना, कोयोंमें गड़ जाना, भयानक हो जाना, और निश्चल हो रहना मृत्युका ही लक्षण है।

वातपित्त, वातकफ, पित्तकफ, अथवा साधारण त्रिदोषमें उपर्युक्त लक्षणोंका समुचित मेल समझना चाहिये।

खूनके जमावसे आंखें लाल हो जाती हैं। पीलियेमें, कामला रोगमें, पित्तके विकारमें आंखें पीली हो जाती हैं। कामलामें सभी चीजें पीली दीखती हैं। हलीमकमें आंखें हरी हो जाती हैं। यदि कहींसे रक्त अधिक निकल जाय तो भी आंखें सुर्ख या धुएं सी हो जाती हैं, पर भीतर घुस जाती हैं।

मिरगीमें आंखें चढ़ जाती हैं और पलकें कांपती हैं। संन्यास रोगमें वा पक्षाघातमें तारे सुकड़ जाते हैं। योषापस्मार (हिस्टीरिया) रोगमें आंखें नशीली और थोड़ी या बिलकुल मुँदी रहती हैं, या एकदम खुली रहती हैं और आंसू जारी हो जाते हैं। असाध्य क्षयरोगमें आंखें एकदम सफेद हो जाती हैं, हैजेमें आंखें कोयोंमें धँस जाती हैं और रक्ताभ हो जाती हैं।

अफीमसे पुतलियां सुकड़कर छोटी हो जाती हैं, और

अट्रोपीन या हिमाट्रोपीनसे पुतलियां फैलकर बड़ी हो जाती हैं। फैली हुई पुतलियां रोशनी नहीं सह सकतीं।

(८) शब्द-परीक्षा

रोगीके अंगोंसे शब्द सुनकर यह अटकल की जाती है कि रोगकी दशा क्या है। स्वयं रोगी जो शब्द अपने कंठसे निकालता है उससे यदि आवाज भारी हो, गलेमें घरघराहट हो तो कफका, साफ हो तो और लक्षणोंपर विचार करके पित्तका निश्चय हो सकता है। वादीसे भी आवाजमें घरघराहट होती है। पेटमें वायुके घूमनेसे भी शब्द निकलते हैं। इन भीतरी शब्दोंपर विचार करनेके अतिरिक्त हृदयमें रक्तके उछलते रहने और फुफ्फुसमें सांसके चलते रहनेसे और रक्तके संचारसे जो शब्द होता रहता है उसे भी वैद्य सुनकर रोगका अनुमान करता है। हृदय और फुफ्फुसके शब्दोंको कान लगाकर भी सुन सकते हैं, परन्तु न तो सब दशाओंमें स्थान स्थानपर कान लगानेमें सुभीता है और न उस सफाईके साथ सुन पड़ता है जिस सफाईके साथ (stethoscope) श्रवण-यंत्रसे सुन पड़ता है। यह एक बिलस्त लम्बी लकड़ीकी नलिका होती है जिसके एक ओर चौड़ा चोंगा और दूसरी ओर नलिकाका जरा फैला सा मुँह कानमें लगाने लायक बना रहता है। इसे सुभीतेसे जेबमें रख लेते हैं। धातुकी बनी त्रिशाख नलिका भी इसी ढंगकी बनती है जिसकी दो शाखाओंमें रबरकी नलिका लगाते हैं। रबरकी नलिकाके सिरोंपर कानमें लगानेकी छुच्छी लगी रहती है।

रोगीके वक्षस्थलपर इस यंत्रका चोंगा लगाकर दोनों कानोंमें नली-के दो सिरे लगाकर शब्द सुनते हैं। यदि रबर कहींसे मुड़ गया होगा अथवा त्रिशाखसे सीधा स्वर-सम्बन्ध न होगा तो शब्द यथार्थ न सुन पड़ेगा। इस यंत्रसे शब्द सुननेवालेको यह जानना चाहिये कि हृदय बायें स्तनके लगभग नीचे स्थित है। हृदयके चारों कोठों और फुप्फुसके लिये आरंभमें दिये हुए चित्र देखो। नाड़ीमें जिस प्रकार रक्तकी गति अंगुलियोंसे परखी जाती है उसी तरह उससे निकले हुए शब्द श्रवण-यंत्रसे सुने जाते हैं। शब्द "लुब डब, लुब-डब" की तरह निकलता है। यह रक्तके फेंके जानेसे निकलता है। रक्तके संचारमें व्यतिरेक पड़नेपर, वेगमें कमी बेशीहोने पर, या किसी प्रकारकी रुकावट पड़नेपर शब्दमें क्रम-भंग हो जाता है, वेगमें कमी बेशी भी स्पष्ट हो जाती है। शब्दकी ऊंचाई नीचाई गहराईमें भी तारतम्य पड़ता है, शब्दमें अन्तर पड़ जाता है। नाड़ीकी चालके जैसे अगणित विभेद हैं ठीक उसी तरह हृदयकी आवाजमें भी भेद दीखते हैं। यह विभेद और उससे रोगकी दशाका अनुमान अनुभवसे ही होता है, इसी लिये यहां हम शब्दभेदका विस्तार नहीं करते।

फुप्फुसमेंसे भी इस यंत्रद्वारा शब्द सुने जाते हैं। स्वर-यंत्रसे लेकर फुप्फुसकी भीत, नलिकाएं, सूक्ष्मरंध्र सबके शब्दोंकी अटकल श्रवण-यंत्रद्वारा की जाती है। कफके कारण, सूजन आ जानेके कारण, श्लैष्मिककलाके सूखनेके कारण वायुकी गति और वेगमें अन्तर पड़ जाता है और सरसराहट घरघराहट आदि भिन्न भिन्न शब्द सुन पड़ते हैं।

इस यंत्रसे प्रायः उन सभी जगहोंके शब्द सुने जा सकते हैं जहां संचारका थपकन होता है परन्तु डाकटर प्रायः हृदय और फुप्फुसकी परीक्षामें ही इसे काममें लाते हैं। हृदयके थपकन और नाड़ियोंके थपकनमें पूरी समानता होती है, परन्तु कभी कभी जब नाड़ी डूब जाती है, हाथसे पता नहीं लगता तब भी हृदयका पंप चलता रहता है और अन्तिम शब्द सुन पड़ते हैं। हृदयकी इस गतिका बन्द हो जाना ही मृत्युका प्रधान लक्षण है।

डाकटर कहते हैं कि अनाहत शब्द मस्तिष्कमें रक्तके संचारके कारण होता है। उसीकी आवाज है। जिस रोगीको अनाहत शब्द न सुन पड़े वह शीघ्र ही मर जाता है।

श्रवण-यंत्रसे फुप्फुसकी दशाका जानना श्वास-रोगोंमें अत्यन्त आवश्यक है। फेफड़ोंके प्रदाहमें श्लैष्मिक कलाके सूख जानेपर या श्वासकी नलिकाओंके कफसे भर जानेपर सांस लेनेमें कठिनाई होती है। एक मिनिटमें स्वास्थ्यकी दशामें साधारणतया—

लगभग एक वर्षका बच्चा	३५ बार
,, दो वर्षका बच्चा	२५ बार
,, १५ सालका लड़का	२० बार
,, २५ साल और ऊपरका मनुष्य	१८ बार

सांस लेता है। घड़ी लेकर यह भी देखा जा सकता है कि सांसकी गति प्रतिमिनिट कितने बार है। व्यायाम या परिश्रमके

बाद या बहुत ऊंचाईपर सांस तेज हो जाती है। कामक्रोधादि विकारोंसे और भोजनके पाचनके समय भी वेग बढ़ जाता है। रोगमें ६० से ८० तक हो जाती है। ज्वरमें तेज चलती है। हिस्टीरिया अर्थात् योषापस्मारमें ६०-७० बार सांस आती है। सांसका धीमें चलना फेफड़ेके रोगमें प्रायः नहीं देखा जाता। मूर्च्छा, तन्द्रा, आदिमें अथवा संज्ञाहीनतामें कभी कभी मिनिटमें ८-१० तक संख्या पहुँच जाती है। सांस लेनेमें प्रायः पेटसे सीनेतक फैलता सुकड़ता है। सांस जब सीनेसे आती है पेट नहीं हिलता केवल छाती फैलती और सुकड़ती है। वह बतलाती है कि पेटकी झिल्ली या फेफड़ेकी आवरक झिल्लीमें सूजन है। जहां छातीका संकोच-प्रसार नहीं होता और केवल पेट हिलता है, वहां या तो पसली चलनेकी उग्र दशा होती है, या छातीमें बाई घुस जानेसे, या हृदयके पटलके सूजनसे या पसलियोंके टूट जानेसे कष्ट भी होता रहता है।

(६) आकृति-परीक्षा

शरीर देखनेमें या तो बहुत दुबला, या बहुत मोटा या औसत दरजेका मालूम होता है। सच्चा तन्दुरुस्त आदमी सुन्दर सुडौल अंगोंवाला होता है, न दुबला न मोटा। उसकी मांस-पेशियां यथास्थान होती हैं। अनावश्यक लोथड़े जगह जगह बढ़े नहीं दीखते। पेट निकला नहीं होता। साधारण स्वस्थ मनुष्य प्रायः दिये हुए चित्रके अनुसार दीखता है। जो बात यहां प्रौढ़ मनुष्यके लिये कही गयी, वही स्त्रियों और बालकोंके

सम्बन्धमें भी सच है। अटकलसे प्रतिइंच लम्बाईके लिये सेरभर वजन चाहिये। अधिक हो तो मोटा है। कम हो तो दुबला है। सेर दो सेर कमी बेशी तो भोजन करने या मलविसर्जनसे भी हो जाती है। साधारणतः इस हिसाबसे चार सेरतककी कमी बेशी प्रमित ही मानी जानी चाहिये।

कफकारक, क्षारहीन भोजनसे, पूर्वभोजनके पचनेके पहले खा लेनेसे, अधिकांश लेटे बैठे रहनेसे, शारीरिक परिश्रम न करनेसे, मानसिक परिश्रमके आधिक्यसे, दिनमें सोनेसे, बहुत पानी या अधिक पय पदार्थोंके पीते रहनेसे, मीठे चिकने भोजन करनेसे, स्त्रीप्रसंग न करनेसे, मनुष्य मोटा हो जाता है। मेद बढ़ जाता है। विजातीय द्रव्य जगह जगह शरीरमें इकट्ठे हो जाते हैं। शरीरके छोटे छोटे रंध्र रुक जाते हैं। शरीरसे दुर्गंध आती है। पसीना बदबूदार होता है। भूखप्यासमें अस्वाभाविक वृद्धि हो जाती है अथवा इनमें कमी आ जाती है। चरबीसे रंध्रोंके रुक जानेके कारण शरीरमें बाई घूमती रहती है और उचित मल-विसर्जन नहीं होता। रक्तमें श्लैष्मिक विकारके अधिक इकट्ठे होनेसे शिराओंमें बड़ा दबाव पैदा होता है। संचार सुभीतेसे नहीं होता। जब कष्ट होने लगता है, मोटा आदमी तुरन्त भोजन करता है। भोजन करनेसे श्लैष्मिक विकार और पिक्किकाम्ल जो पतित हुए रहते हैं फिर घुल जाते हैं। थोड़ी देरके लिये आराम हो जाता है। इसी प्रकार शरीरमें विजातीय विषैले मलोंके इकट्ठे होनेका सिलसिला जारी रहता है। मोटे

आदमीको भोजन पचाने, विजातीय द्रव्यको बराबर ढोते रहने एवं विषों और मलोंको शरीरके भीतर धारण किये रहनेसे, निरन्तर प्राणशक्ति लगाते रहना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि जीवनी शक्तिका बराबर ह्रास होता रहता है और मोटे आदमीकी आयु घटती जाती है। जल्दी मर जाता है।

दिये हुए तीन चार चित्रोंसे पता लगेगा कि मल और विष शरीरमें कहाँ कहाँ किस किस रूपसे इकट्ठे होते हैं और किस प्रकार एक रोगसे दूसरा रोग सहज ही उत्पन्न हो जाता है। एक रोगीने खूनी बवासीरका डाकटरी इलाज किया। बवासीर काटकर निकाल दी गयी। देखनेमें अच्छा हो गया। पर उसे थोड़े ही दिनोंमें कंठमाला हो गयी। जो विष बवासीरके मार्गसे बाहर जा रहा था, अब ऊर्ध्वगामी हो गया। आकृति देखकर यह सहज ही पता लग जाता है कि किस किस अंगमें मल एकत्र है और यह भी अटकल हो जाता है कि यह मल किस प्रकार शरीरसे दूर हो सकेगा।

लूईकूनेने रोग-परीक्षाकी एकमात्र विधि आकृतिसे ही पहचाननेकी रखी है। **आकृतिनिदान**में इस विषयपर पूरा विस्तार है। पाठकोंको यह ग्रंथ अवश्य पढ़ना चाहिये।

दुबले आदमीके शरीरमें विजातीय द्रव्य, मल और विष किस अंगमें एकत्र हुआ है, यह बात सहज ही मालूम हो जाती है। दुबलापन शरीरकी धातुओंके क्षयसे होता है। जब शरीरके भीतर पहुँचे या बने हुए उग्र विष निकलनेको जगह नहीं पाते,

तब जीर्णरूप धारण करते हैं, शरीरकी धातुओंको गलाकर सोख लेते हैं, प्राणी पनपने नहीं पाता। रूखे अन्नपानसे, बहुत कम भोजनसे, बहुत लंघनसे, बहुत परिश्रमसे, बहुत संशोधनसे (जैसे वमन, विरेचन, स्वेदन, प्रस्रवणादि), बहुत शोकसे मलों और विषोंको रोकनेसे, जागनेसे, स्नान न करनेसे, बहुत लंघनसे, बुढ़ापेसे, क्रोधादि आवेशोंसे, और रोगी बने रहनेसे, मनुष्य दुबला रहा करता है। दुबला आदमी बहुत श्रम, बहुत भोजन, बहुत सर्दी, बहुत गर्मी, बहुत भूखप्यास, आदि किसी बातको भी आत्यन्तिक रूपमें सह नहीं सकता। दुबलेको तिल्ली, श्वास, खांसी, क्षय, गुल्म, बवासीर और पेटके रोग जल्दी हो जाते हैं।

स्त्री, चिन्ता, मानसिक परिश्रम इनसे बचना और भोजन, वस्त्रकी सफाई और प्रचुरता, साथ ही स्वाभाविक रीतिसे जीवन-निर्वाह दुबलेको उचित दशामें लानेके साधन हैं।

माल खाकर कसरतके द्वारा पचानेवाले व्यर्थ परिश्रमसे अपनी प्राणशक्तिको नष्ट करते हैं। पहलवान दीर्घायु इसीसे कम देखे जाते हैं। पहलवानोंका शरीर मिथ्याहारके कारण अक्सर मलसे लदा रहता है।

(१०) अवस्था और कालकी परीक्षा

आठों परीक्षाओंके साथ ही साथ रोगीकी अवस्थाकी परीक्षा आवश्यक है। बाल्यावस्था शरीरकी अधिक स्वाभाविक अवस्था है। अभी अस्वाभाविक उपचारोंके कारण, मिथ्याहार-विहारके दोषसे, शरीरमें मलों और विषोंकी अधिकता नहीं

है। जो कुछ विकार उत्पन्न भी होता है उसे स्वभाव शीघ्र ही दूर कर देता है। वाल्यावस्थामें कफका विकार ज्योंही अधिक हुआ त्योंही प्रकृति उसे निकाल बाहर करनेका उपाय करती है। वढ़ते हुए शरीरमें वल और मांस दोनों चाहिये। इसलिये साथ ही यह अवस्था कफके अधिक विसर्जनकी होती है। अधिक श्लेष्मा शरीरमें इकट्ठी भी होती है। वाल्यावस्था वृद्धिकी अवस्था है। जब शरीरका वढ़ना समाप्त होता है तब रसोंके आधिक्यकी वारी आती है। पित्त वढ़ता है। मध्यावस्था पित्तके विकारकी अवस्था है। रसोंकी वृद्धि इसलिये होती है कि वृद्धि-क्षयकी क्रिया अब कुछ कालतक साम्यभावसे रहती है। जब अवस्था ढलती है, तव वातकी वृद्धि होती है। क्षयकी अधिकता, वृद्धिकी कमी बुढ़ापेमें प्रधान है। कफ और पित्त प्रायः घटते हैं, वात वढ़ती है। इस प्रकार मानव-जीवनमें तीनों अवस्थाएं तीनों दोषोंसे विशेष सम्बन्ध रखती हैं।

कालका प्रभाव भी मानव-जीवनपर थोड़ा नहीं पड़ता। भगवान् भास्कर और पृथ्वीकी दूरी या सामीप्य, चन्द्रमाकी दूरी या सामीप्य, और ग्रहोंकी भी दूरी और सामीप्य मानव-जीवनपर महत्वका प्रभाव डालते हैं। संभवतः ज्यौतिषी अपनी गणना और अटकलमें वहुत अत्युक्ति कर जाते हैं, परन्तु निःसन्देह ग्रहोंसे मनुष्यके जीवनसे महत्वका सम्बन्ध है। विशेषतः शरीरपर दिन रात, मास, ऋतु आदिका वहुत वड़ा प्रभाव पड़ता है।

आयुर्वेदके अनुसार उदयकाल कफके कोपका समय है। धीरे धीरे ज्यों ज्यों दिन चढ़ता है, कफकी कमी और पित्तका आधिक्य होता जाता है। दोपहर होते होते कफ दब जाता है और पित्त प्रचंड रूप धारण करता है। शाम होते होते पित्तका ह्रास हो जाता है और सूर्य्यास्तकालमें वायु कुपित होती है। रातका आरंभ वायुके प्रकोपसे होता है। अर्धरात्रि फिर पित्तका समय होता है। पिछली रात कफका काल है।

वसन्त ऋतु हम चैत्र और वैशाखको मानते हैं। इन महीनोंमें कफका प्रकोप होता है। कफको दूर करनेमें प्रकृतिके लिये इसी ऋतुमें सुभीता होता है। ज्येष्ठ और आषाढ़ गरमीके महीने माने जाते हैं। गरमियोंमें पित्तका प्रकोप होता है। रसोंमें वृद्धि होती है और इनके सहारे मल और विष बाहर निकालनेका यत्न प्रकृति करती है। बहुत सा मल पसीनेसे निकल जाता है। सावन भादों वर्षाके मास हैं। इनमें वायुका प्रकोप होता है। वातविकार बढ़ते हैं और प्रकृति उन्हें उग्र रूप देकर निकाल बाहर करनेका प्रयत्न करती है। आश्विन कार्त्तिक शरद्के मास हैं और पित्तप्रकोपकी ऋतु है। अगहन पूस हेमन्तके और माघ फागुन शिशिरके महीने हैं, इनमें वायुका प्रकोप होता है।

चिकित्सक जहां रोगकी परीक्षामें और सब बातोंपर विचार करता है वहां उसे रोगीकी अवस्था और कालका भी पूर्ण रूपसे विचार कर लेना अधिक उचित है।

प्रकृति और देशकी परीक्षा

स्वाभाविक चिकित्सा-प्रणालीमें रोगकी परीक्षा नहीं की जाती। वस्तुतः परीक्षा रोगीकी होती है। रोगीकी दशा एड़ीसे चोटीतक समझकर रोगीका इलाज किया जाता है, रोगका नहीं। और पद्धतियोंके चिकित्सक देखते हैं कि ज्वर है, तो ज्वरका इलाज करते हैं, परन्तु स्वाभाविक चिकित्सक रोगीका इलाज करता है। ज्वर तो विष निकलनेका उग्ररूप है, लक्षण है, रोग नहीं है। रोग तो वस्तुतः उभारकर बाहर किया जा रहा है। इसीलिये रोगीकी प्रकृति और उसकी परिस्थिति अच्छी तरह समझ लेना प्राकृत-वैद्यका परम कर्त्तव्य है।

हमने रोगमीमांसावाले अध्यायमें दिखाया है कि एक ही रोग,—मलों और विषोंका संचय,—तीन दोषोंका रूप धारण करता है, वात, पित्त और कफ। पूर्व संस्कारके कारण, माता पिता वा कुलके दोषसे प्रत्येक बालकमें इन दोषोंमेंसे एक, वा दो दोषोंकी प्रधानता रहती है। ऐसा मनुष्य शायद ही कोई मिलता है जिसमें तीनों दोष समानरूपसे हों। इस प्रकार सात तरहकी प्रकृति हुई। वात, पित्त, कफ, वातकफ, पित्तकफ, वातपित्त और सातवीं समदोषी। दोषोंको दूर करनेमें प्रकृति जाननेसे बड़ी मदद मिलती है इसलिये चिकित्सकको रोगीका पूर्व इतिहास जानना जरूरी है। पूर्व इतिहाससे हम निश्चय कर सकते हैं कि रोगी पित्त प्रकृतिवाला है या वातकफकी प्रकृतिका। प्रकृतिका निश्चय कर लेनेपर हमें उसकी परिस्थितिपर भी विचार करना चाहिये।

देश देशमें ऋतुका भेद होता है। ऋतुओंका मासोंके अनुसार हम जैसा निर्देश कर आये हैं, पंजावसे ठीक ठीक मिलता है। संयुक्त प्रान्तमें तो जेठके अन्तसे ही वर्षा होने लगती है। ठेठ दक्षिण देशमें जाड़ेकी ऋतु होती ही नहीं। शिशिर किसे कहते हैं वहाँ कोई नहीं जानता। समुद्रके तटपर कड़ा जाड़ा नहीं पड़ता। वंवई, कलकत्ता, पुरी आदिमें शिशिरका कष्ट कोई नहीं जानता। राजपूतानेमें वर्षा ऋतुका पता नहीं। गरमी कड़ी पड़ती है। मध्यप्रान्तके दक्षिणी भागमें, वरार और हैदराबादतक ऋतुएं नरम हैं। छहों ऋतुएं होती हैं परन्तु उग्रतासे एक भी नहीं होती। पंजाबसे लेकर पश्चिमी संयुक्त प्रान्त, बुंदेलखंड, मध्यभारत, मध्यप्रदेश और कुछ दक्षिणके प्रदेश छहों ऋतुओंके अच्छे उदाहरण देते हैं।

वंगाल अत्यन्त आर्द्र है। राजपूताना और सिंध सूखे देश हैं। उत्तर भारत अत्यन्त गरम और अत्यन्त ठंढा भी है। दक्षिण भारत सब बातोंमें समान है। प्रत्येक देशमें मनुष्यकी प्रकृति तत्तद्देशके अनुसार ढलती है। आहार-विहार देशविशेषके अनुसार होता है। दक्षिणमें खट्टा और चरपरा अत्यन्त अधिक खाते हैं। दक्षिण और उत्तरके शाकाहारियोंमें भी इतना अन्तर है कि चिकित्सकको आहार-विहारपर विचार करके प्रकृति और परिस्थितिकी अनुकूलताका निश्चय करना चाहिये।

वंगालके सिवा सारे उत्तर भारतमें प्रायः सभी नागरिक अत्यधिक कपड़े पहनते हैं। देहातोंमें दीन किसानोंको छोड़

शेष सभी कपड़े अधिक पहनते हैं। बंगाल उड़ीसासे लेकर कच्छतक मध्य भारतमें कपड़ेकी मात्रा कुछ घटती है। मद्रास हातेमें कपड़े अत्यन्त कम पहने जाते हैं। लोग प्रायः नंगे पैर रहते हैं। प्रकृतिसे रहन-सहनमें अनुकूलता अधिक है। भोजनमें बड़ी अस्वाभाविकता है। भिषक्को इन बातोंपर भी विचार करना चाहिये।

---

(१२) रोगीकी पोथी

प्रत्येक चिकित्सकको उचित है कि उन रोगियोंके कामके लिये जो अपनी चिकित्सा ठीक पद्धतिके अनुकूल पूर्णरूपसे कराना चाहते हैं एक पोथी रखे जिसमें रोगीका पहलेका इतिहास हो, उसकी प्रकृति और परिस्थितिका निर्देश हो, उसके सारे शरीरकी पूरी परीक्षाका विवरण लिखा हो, पूर्व चिकित्साका भी विवरण हो और अन्तमें जो जो स्वाभाविक उपचार बर्त्तनेकी जब जब जैसी सलाह दी जाय उसका और उसकी उन्नतिका पूरा वर्णन हो। इस तरहकी पोथी प्रत्येक रोगीके लिये अलग अलग होनी चाहिये। ऐसी पोथी नीचे लिखी रीतिके अनुसार छपी हुई मौजूद हो तो उसमें यथास्थान सब बातोंका विवरण लिखा जाया करे।

यह पोथी १६ से २० पृष्ठोंतककी हो। पहले पृष्ठका रूप यह हो—

आरोग्य-सदन

काशी

चिकित्सा-विवरण

रोगीका नाम ___

पूरा पता ___

प्रवेश तिथि ___

—विशेष—

यह पुस्तक सुरक्षित रखिये । फिर कभी काम आयेगी ।

दूसरे पृष्ठका रूप—

रोगीका नाम ____________________

पूरा पता ____________________

उम्र ____________________

अविवाहित वा विवाहित ____________________

पूर्वेतिहास तिथि सहित—इस इतिहासमें जन्मके पूर्व माता पिताका साधारण स्वास्थ्य, विशेष रोगकी दशा, दीर्घायु वा अपाल्यु, रोगीके जन्म और बाल्यकालका साधारण स्वास्थ्येतिहास, क्या क्या रोग हुए, कहां कहां चोट लगी, किस किस तरहका इलाज हुआ, शिक्षा जीविका आदिकी परिस्थिति, आहार-विहार रहन-सहनकी साधारण दशा, प्रियों अप्रियोंका विवरण, नैतिक विचार और धारणाएं। वर्त्तमान रोग और दृश्यपर्य्यन्त संक्षिप्त विवरण।

तीसरे पृष्ठका रूप—

तिथि ——————

१-ऊंचाई —————— ३-साधारण तापक्रम ——————

२-वज़न —————— ४-साधारण नाड़ीका थपकन प्रतिमिनिट ——————

५-सांस प्रति मिनिट ——————

दशाएं ——————

मानसिक ——————

मस्तिष्क ——————

आंखें ——————

कान ——————

नाक ——————

मुंह ——————

जीभ ——————

कंठ ——————

वक्षस्थल ——————

पेट ——————

हाथपांव ——————

त्वचा ——————

जननेन्द्रिय ——————

मल ——————

मूत्र ——————

विशेष पीड़ा ——————

किन बातोंसे बढ़ती है ——————

किन बातोंसे घटती है ——————

भोजनकी रुचि विशेष ——————

चौथे पृष्ठका रूप यह हो—

नाड़ी-परीक्षा		शब्द-परीक्षा	
तिथि, घड़ी	विवरण	तिथि, घड़ी	विवरण

पांचवां ऐसा हो—

मूत्र-परीक्षा					
परीक्षाकी तिथि—					
विशिष्ट गुरुत्व					
रंग					
प्रतिक्रिया					
तलछट					
अलमेवुन					
शकर					
यूरिया					
यूरेट					
गन्धेत					
हरिद्र					
पीव					
रक्त					
विशेष					
मात्रा·········की					
मात्रा·········की					

छठा पृष्ठ ऐसा हो:—

तिथि घड़ी	मलकी दशा	जिह्वा	आंखें	स्पर्श	आकृति

नवेंसे चौदहवें पृष्ठतक ऐसा हो—

उपचार	तिथि	तिथि	तिथि
१—मृत्तिका-चिकित्सा.........			
२—जल-चिकित्सा			
३—वायु-चिकित्सा............			
४—ताप-चिकित्सा			
५—प्रकाश-चिकित्सा			
६—विद्युत्-चिकित्सा			
७—मालिश			
८—उपवास-चिकित्सा			
९—आहार-चिकित्सा			
१०—होमियोपथिक चिकित्सा			
११—वनौषधि-चिकित्सा			
१२—व्यायाम-चिकित्सा			
१३—मानसिक चिकित्सा......			
१४—विशेष			

पंद्रहवें पृष्ठपर चिकित्सा समाप्त करनेके समय रोगीके आरोग्य वा रोगकी विशेष दशा आदि इस प्रकार रहे—

	विशेष
समाप्तिकी तिथि—	
१—तोल—	
२—तापक्रम—	
३—नाड़ी—	
४—सांस—	
५—शब्द—	
६—स्पर्श—	
७—आंखें—	
८—आकृति—	
९—मूत्र—	
१०—मल—	
११—जिह्वा—	
१२—आहार—	स्थान— } (स०)—
१३—निद्रा—	तिथि— } चिकित्सक
१४—व्यायाम—	
१५—चिकित्सा काल—	

सोलहवें पृष्ठपर आश्रम वा भवनके नियम, सूचनाएं, विशेष कामोंके पारिश्रमिककी दर इत्यादि हो सकते हैं।

प्रत्येक रोगीके सम्बन्धमें ऐसी एक एक पुस्तक आश्रममें या वैद्यके पास रहनी चाहिये। इसकी एक प्रति समाप्तिके समय रोगी लेकर अपने पास अवश्य रखे। रोगी-परीक्षामें अधिक सुभीता इसीमें है कि भिन्न भिन्न परीक्षक विशेष विशेष प्रकार-

की परीक्षा करके उसका फल लिखकर दें। स्वाभाविक चिकित्सावाला वैद्य सबका संकलन करके उपचारसम्बन्धी निश्चय करे। वस्तुतः प्राकृतिक चिकित्सामें इतनी विशद् रोगी-परीक्षाकी कम आवश्यकता पड़ती है। तो भी इतने विस्तारसे परीक्षाका नियम रखनेसे रोगीका पूरा परिशीलन हो जाता है, चिकित्सकका अनुभव बढ़ता है और संसारका लाभ होता है। रोगीको भी बहुत सन्तोष होता है।

१३—और परीक्षाएं

जिन परीक्षाओंका उल्लेख हमने पिछले प्रकरणोंमें किया है, शरीरकी दशा जाननेके लिये और भी कुछ रीतियां कभी कभी बरती जाती हैं पर इनका प्रयोग बहुत असाधारण है। पाश्चात्य विज्ञानोंके प्रचारसे नित्य नये यन्त्र निकलते जारहे हैं और उनमेंसे अनेक भारतवर्षके डाकटरी बाजारोंमें चलनसार हो रहे हैं। स्वाभाविक चिकित्सामें उनकी जरूरत तो नहीं पड़ती पर पाठकोंकी जानकारीके लिये यहां उनकी चर्चा कर देना आवश्यक है।

शरीरके पास पासके भीतरी स्थानोंको देखनेके लिये छोटे मोटे उन्नतोदर और नतोदर कांचके और धातुके दर्पणोंके मेलसे भीतरी भाग देखनेको जो यन्त्र बनते हैं उनको स्थान विशेषका सम्बन्धी विशेषण लगाकर स्पेक्युलम कहते हैं, जैसे कानका स्पेक्युलम। इस यन्त्रसे कानका वह बाहरी भाग जो घूम

फिरकर पर्दे तक पहुँचता है, देखा जा सकता है। आंख और कानका सम्बंध नाकतक चला आया है। आंख नाकके भीतरसे देखकर भी कानतक जानेवाली नलीके कुछ दोष जाने जा सकते हैं। कानके रोगोंका नाकसे इतना सम्बन्ध है कि प्रत्यक्ष जुकामसे बढ़ते बढ़ते बहरे होनेतककी नौबत आ जाती है। नाककी श्लैष्मिक झिल्लीके वरमके बढ़ते बढ़ते कानके मध्यभागमें श्लैष्मिक झिल्लीका वरम हो आता है। कफ जमा हो जाता है। कानका मध्यभाग स्पेक्युलम और औषधोपचारके बाहर है। परन्तु इसकेलिये भी तेरह वर्ष हुए अमेरिकाके यन्त्र-विशारदोंने एक यन्त्र बना ही डाला। स्वर-यन्त्र और अन्न-प्रणालीके दोष देखनेके लिये दर्पण बने हुए हैं। गुह्यस्थानोंको भी इन्हीं दर्पणोंसे देखा जाता है। योनि-रोगमें शल्यक्रियाके पहले देख लेनेकी बड़ी आवश्यकता है।

डंक मारनेवाले जन्तुओंके डसनेपर आतशी शीशा बहुत काम आता है। यह उन्नतोदर दर्पण है इससे बारीक चीजें बड़ी दिखाई देती हैं। डंक दिखाई देनेपर बारीक चिमटीसे निकाल लिया जाता है। बारीक कांटे भी इसी तरह निकाले जाते हैं। यद्यपि यह सब परीक्षा किसी न किसी प्रकारके दर्पणसे होती है तथापि इन्हें हम अणुवीक्षणद्वारा परीक्षासे नितान्त भिन्न रखनेको बाध्य हैं।

अनुवीक्षण-यन्त्रद्वारा सातों धातुओं, समस्त मलों और विषोंकी परीक्षाकी चर्चा हम स्थान स्थानपर कर चुके हैं।

इनके सिवा सब धातुओं और मलों और विषोंकी रासायनिक परीक्षा होती है। विस्तार-भयसे हमने केवल मूत्र-परीक्षाका कुछ विवरण दिया है और वह भी इसलिये कि अभीतक चिकित्साका पेशा करनेवालोंमें मूत्र-परीक्षाका ही अधिक प्रचार है। हम यह भी अन्यत्र कह आये हैं कि रक्तका वेग नापने और नाड़ीकी गति रेखाङ्कित करनेके भी यन्त्र हैं। आज-कल तो विमानों और हवाई जहाजोंपर सवारी करनेकी योग्यताकी जांच करनेके लिये भी ऐसे यन्त्र बन चुके हैं जिनसे क्रोध, शोक, साहस, भय, लज्जा आदि मानसिक उद्वेगोंकी जांच अच्छी तरह हो जाती है।

आजकल विद्युत्की अज्ञात किरणोंद्वारा बीसों बरससे शरीरके भीतरकी जांच बड़ी स्पष्टतासे होती है। इन्हें एक्स-किरण कहते हैं। अन्धेरेमें जहां आँखको कुछ नहीं दीखता वहां यह किरणें, जो स्वयं अदृश्य हैं, हाथके पंजेपर पड़ें तो हड्डियोंकी ठटरी साफ दिखायी पड़ती है। लकड़ीके सन्दूकमें या मोटी किताबके बीचमें रुपया रखा हो तो रुपया दीखता है पर लकड़ी कागज या मांस नहीं दीखता। बात यह है कि यह किरणें मांस और काठके तो आरपार चली जाती हैं पर लकड़ी और धातुके आरपार नहीं जातीं। किरणें जिस वस्तुके आर-पार चली जाती हैं, वह पारदर्शी कहलाती है और दिखाई नहीं देती। जिन वस्तुओंके आरपार नहीं जातीं, उनसे पलट आती हैं। वह वस्तुएं दिखाई पड़ने लगती हैं। शरीरके भीतर घुसी

हुई सीसेकी गोली साफ दिखाई देती है। हड्डियां टूट गयी हों या जगहसे हट गयी हों, तो स्पष्ट मालूम होती हैं। इस तरह शरीरके भीतरी विकारकी पहचान इन किरणोंके द्वारा ली हुई फोटोसे की जाती है। फोटो लेनेवाला न तो साधारण फोटो-ग्राफर होता है, न साधारण डाकटर। जहां कहीं इन किरणोंके निकालनेका पूरा सामान होता है वहां फोटो ले ली जाती है। इसी फोटोपर पूरा विचार करके डाकटर जांचका फल देता है। हड्डी खसकी हुई होती है तो बैठानेवाला बैठा देता है और यदि टूटी ठहरी तो ठीक बैठाकर उसके जोड़नेके इलाज किये जाते हैं।

स्पर्श-परीक्षाके सम्बन्धमें इतना और इस स्थलपर कह देना उचित होगा कि शरीरका जो अङ्ग मर जाता है या संज्ञा-शून्य हो जाता है, उस अङ्गमें बिजलीके धक्के नहीं मालूम होते। अङ्गके शून्य हो जानेकी एक नयी पहचान बिजली भी है। चुटकी काटकर या सुई चुभोकर ऊपरी तहकी या खालकी पहचान होती है। बिजलीसे पूरे शरीरकी परीक्षा हो सकती है, क्योंकि इसका प्रभाव बहुत दूरगामी होता है।

विज्ञानने परीक्षाओंके विषयको अत्यन्त गहन और सूक्ष्म बना दिया है, और नित्य नित्य नयी नयी परीक्षाएं निकलती ही आती हैं। स्वाभाविक चिकित्सामें इतने गहरे जानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। साधारण ऊपरी परीक्षासे ही पता लग जाता है कि मलों और विषोंका कहाँ कहाँ कैसा संचय हुआ

है, और कौन कौनसे दोष कुपित हुए हैं। इतनेहीपर उचित स्वाभाविक उपचार सोचे जा सकते हैं, और रोगीको लाभ पहुँचानेके लिये यही पर्य्याप्त भी है। अत्यन्त सूक्ष्म परीक्षाएं आज कलके पैसा कमानेवाले डाकटरोंका ढकोसला है। हमने फिर भी इतना विस्तार इसलिये कर दिया है कि चिकित्साके ज्ञानका विकास हो, और स्वाभाविक चिकित्सामें, जहां उसका संघर्ष स्वाभाविक चिकित्सासे होता है, उसे अपने प्रतियोगियों-के सामने अनभिज्ञतासे नीचा न देखना पड़े।

१४—अरिष्ट लक्षण

स्वाभाविक चिकित्साका प्रचार देशमें बहुत कम हो गया है, क्योंकि अस्वाभाविक चिकित्सक गांव गांव फैल गये हैं। अमृतसागर और इलाजुलगुर्बा देख देखकर दवा करनेवालोंसे लेकर विदेशी विलायतोंके डिग्री पाये हुए नामी डाकटरोंतकसे भारत भर रहा है, और अपने रोजगारको बढ़ानेके लिये उचित और अनुचित सब रीतियोंको चिकित्सक वर्त्ता करते हैं। जिनके पास खानेको है वह इन्हीं चिकित्सकोंके भरोसे संयमको ताकपर रखकर अपने शरीरपर मनमाना अत्याचार करते हैं, और भांति भांतिके रोगोंका शिकार होते हैं। यही बात है कि डाकटरोंके साथ ही साथ रोगी भी बढ़ते ही जाते हैं,घटते नहीं। जब कोई उग्र रोग धर दबाता है, रोगी तुरन्त डाकटरके पास जाता है। डाकटर भी अपने ऊपर विश्वास पैदा करनेके लिये ऐसी ओषधि देता है कि उसे तात्कालिक लाभ हो, चाहे उस

उपचारसे रोग दबकर जीर्ण ही क्यों न हो जाय । धीरे धीरे रोगीकी दशा ज्यों ज्यों निराशाजनक होती जाती है, त्यों त्यों चिकित्सकमें और चिकित्सा-पद्धतिमें उसकी श्रद्धा घटती जाती है। अन्तमें जीनेसे हाथ धोकर या तो इलाज बन्द कर देता है, या किसी स्वाभाविक चिकित्सकके पास आता है। प्राणशक्ति अगर नष्ट नहीं हो गयी है तो बिना किसी तरहकी चिकित्साके वह धीरे धीरे अच्छा होने लगता है, और अगर उस समय उचित स्वाभाविक चिकित्सा भी हो जाय तो उसके अच्छे होनेमें उतनी देर भी नहीं लगती। परन्तु दुर्भाग्य-वश न तो प्राणशक्तिके रहते रोगी स्वाभाविक चिकित्साकी ओर प्रायः आता ही है, और न प्रायः डाक्टर ही उसका पिंड छोड़ते हैं। फलतः अधिकांश असाध्य रोगी ही स्वभावकी शरण जाते हैं। इसलिये जो स्वाभाविक चिकित्सा करे उसे रोगकी असाध्यता और दुःसाध्यतापर पूरा विचार करना पड़ता है। प्रसङ्गके अनुकूल नाड़ी मूत्र आदि परीक्षाओंमें असा-ध्यता और दुःसाध्यताके लक्षण दे दिये गये हैं। यहां हम उन लक्षणोंका और वर्णन कर देना चाहते हैं जिनसे केवल रोगका असाध्य ही होना नहीं सिद्ध होता, प्रत्युत रोगीका मरण अवश्यम्भावी समझा जाता है। इसको अरिष्ट लक्षण कहते हैं।

> रोगिणो मरणं यस्मादवश्यंभावि लक्ष्यते।
> तल्लक्षणमरिष्टं स्याद्रिष्टमप्यभिधीयते॥

रोगीकी असाध्य दशा छः महीने और कभी कभी साल भरतक रह सकती है। असाध्य दशामें अरिष्ट लक्षणोंका अर्थात् मरणके लक्षणोंका उदय इस बातका साक्षी है कि प्राणशक्ति क्षीण या नष्टप्राय हो गयी है और रोगीका बचना असम्भव है।

हम अन्यत्र कह आये हैं कि वृद्धि और क्षयका होते रहना जीवनका लक्षण है। वृद्धि और क्षयके जारी रहनेमें तारतम्य हो सकता है, परन्तु जीवन रहते दोनोंका होना अवश्यम्भावी है। केवल वृद्धि असम्भव है और केवल क्षय जीवनको नष्ट कर देता है, इसीलिये मरनेवालेको अन्न पच नहीं सकता। प्यास अन्ततक लग सकती है। भूखकी उग्रता भी अन्तकालमें बढ़ सकती है क्योंकि इनका सम्बन्ध नाड़ी जालसे है। भोजनके पेटमें पहुँचनेपर जबतक आत्मीकरणका आरम्भ नहीं होता तबतक भूखकी नाड़ियोंका परितोष नहीं होता। नाड़ियां भूख भूख चिल्लाती रहती हैं। जलोदर आदि रोगोंमें प्यासकी भी ऐसी दशा होती है। इसलिये भूख, प्यास, निद्रा आदि चेष्टाओंका रहना जीवनशक्तिका आवश्यक लक्षण नहीं है, बल्कि अन्न और जलसे तृप्ति और उनके पाचन और निद्रासे शक्तिका बढ़ना जीवनके लिये आवश्यक है। मरणासन्न प्राणी अत्यधिक मलत्याग भी कर सकता है और उसका मल मूत्र एकदम बन्द भी हो जाता है। प्राणशक्तिके रहते इन दोषोंका जल्दी निराकरण हो जाता है परन्तु न मिटनेवाली भूख, न बुझनेवाली

प्यास, न रुकनेवाले दस्त या पेशाब या एकदम दोनोंका बंद ही रह जाना दुर्दैवके लक्षण हैं। न बुझनेवाली भूख प्यासका यही अर्थ है कि यात्रीकी भोजनशाला बंद हो गयी और डेरा डंडा उठा। मल मूत्रके अत्यधिक हो जानेका यही अर्थ है कि घर रहने लायक नहीं है, उसका ढहाना शुरू हो गया है या इतनी ज्यादा सफाई हो रही है कि जीवको देरतक टिकनेकी जगह नहीं रह जाती। हवासे रक्तकी सफाई होती रहती है, पर जब उल्टी सांस चलती है तो बाहरकी साफ हवा भीतर नहीं पहुँचने पाती और भीतरकी गन्दी हवा बहुत थोड़े परिमाणमें बाहर निकलती है, इसीसे लोहूका सुन्दर लालरङ्ग बदलकर नीला हो जाता है। धमनियोंमें भी नीला ही खून चक्कर लगाने लगता है। यह बात उल्टी सांसके चलनेके पहले भी कभी कभी हो जाती है, इसीसे नाखून नीले पड़ जाते हैं और जहां जहां रगें ऊपरी तलसे लगी हुई हैं वहां साफ नीली दीखने लगती हैं। आरम्भमें ही हम हृदयरूपी पम्पका वर्णन कर आये हैं। जब फुप्फुसका काम बन्द हो जाता है, हृदयको भी पम्पका काम करनेकी जरूरत नहीं रह जाती, क्योंकि उसका काम साफ खूनको शरीरमें फैलाना और गन्दे खूनको कारखानेमें भेजकर साफ कराना है। कारखाना बंद होनेपर उसका काम जारी नहीं रह सकता। वह अपने कामको कभी धीरे धीरे कभी तुरंत ही बंद कर देता है। क्षय और वृद्धि रक्तके संचारपर निर्भर है। खूनका दौड़ना

रुका और क्षयवृद्धिका सिलसिला भी बंद हुआ। कभी कभी मर्म्मस्थानोंपर चोटसे, चर्बीके हृदयदेशमें बढ़ जानेसे, या हृदयके अत्यन्त थक जानेसे या उसकी चालमें रुकावट पड़ जानेसे धुकधुकी एकाएकी बन्द हो जाती है। ऐसी दशामें फुप्फुसका काम भी रुकता है। रक्तका संचार बंद हो जाता है।

शक्तिवाहिनी नाड़ियां शरीरमें सर्वत्र फैली हुई हैं। इन्हींके बलसे सारा काम होता है। नाड़ियोंपर धक्का पहुँचनेसे, मस्तिष्क वा सुषुम्ना नाड़ी-जालकी क्रियाओंमें व्यतिरेक पड़नेसे भी शरीरकी सारी क्रियाएं बन्द हो जाती हैं। शक्तिवाहिनी नाड़ियों-के जवाब देनेसे धुकधुकी और फुप्फुसका काम तुरन्त बन्द हो जाता है। रक्तके संचारमें रुकावट पड़नेपर नाड़ी डूबने लगती है। शरीरकी सुर्खी खूनसे है। इसलिये उसके रुकनेसे या संचार बन्द हो जानेसे या जम जानेसे शरीर पीला या सफेद हो जाता है, खूनकी गंदगीसे जब कि उसे ओषजन नहीं मिलता, नीलापन आ जाता है। नाखून, ओंठ, गाल आदि लाल रहनेवाले अंग नीले हो जाते हैं। यह सभी मृत्युके लक्षण हैं। परन्तु देखनेमें जो दशा इतनी असाध्य है, वस्तुतः प्राणशक्तिकी प्रबलतामें साध्य हो सकती है। १९७७के आश्विनमें मेरी तीन बर-सकी लड़कीकी दशा बिगड़ गयी। हैजेके रुक जानेसे पेटमें विषोंका संचय हो गया। उसका प्रभाव फुप्फुसपर पड़नेसे दोनोंमें प्रदाह उत्पन्न हो गया। डाक्टर हकीम वैद्य इलाज कर-के हार गये और जवाब दे गये। नाड़ी न थी। सारा शरीर

ठंढा था। लाल रंग नीलेपनसे बदल गया था। धुकधुकी थी, वक्षस्थल और सिर केवल गरम था। सांस चल रही थी। आंखें पथरायी थीं। अचेत दशा थी। चिकित्सकोंके उपाय जब व्यर्थ हुए तो लाचार हो ३६ घंटेतक भिन्न भिन्न मात्रा-ओंमें वायुमिश्रित ओपजन सुंघाया गया। ओपजनसे यह चमत्कार देखा जाता था कि दस दस पांच पांच मिनिटमें अस्थायी जीवितावस्था लौट आती थी। ३६ घंटेके परिश्रममें जीवितावस्था स्थायी देख पड़ी। जब ६६° से बढ़कर ६६°का तापक्रम हो गया तब ओपजन बन्द कर दिया गया। ओपजनने क्या किया? फुप्फुसमें संचित विषको जला डाला और रक्तको शुद्ध किया। परन्तु आंतोंमें संचित विष अभी ज्योंका त्यों था। लड़की जीती थी पर अचेत थी। अबतक आंखें पथरायी थीं। नाड़ी-मण्डलपर विषका उग्र प्रभाव पड़ रहा था। ओपजनने रक्त और फुप्फुसको साफ करके प्राणशक्तिको सहायता पहुंचायी। १२ घंटे फिर प्राणशक्ति और विषका तुमुल युद्ध भीतर भीतर होता रहा। पेटका विष निकालनेमें सहायताके लिये बाहरसे लेप किया गया। यह पहले भी विफल हुआ था। इस बार भी आशा न थी। परन्तु सोचा कि शायद प्राणशक्तिको सहारा मिले। अन्तमें ठीक आधीरातको एकाएकी धुकधुकी रुक गयी। शरीर सफेद और नीला हो गया। आंखें फड़ककर चढ़ गयीं। सांस बन्द हो गयी। शरीर अकड़ गया। हृदय और सिर भी ठंढा हो गया

सबने मृत्यु समझकर रोना पीटना आरम्भ किया। उस समय धैर्य्यपूर्वक परमात्माका स्मरण करके फिर भी उपाय किये और सफलता हुई। डूबे प्राणीको हाथ पैर एक विशेष विधिसे, जिसका वर्णन अन्यत्र होगा, हिलाकर जिस तरह सांस लिवाया जाता है, उसी तरह जबरदस्ती सांस लिवाना मैंने आरम्भ किया और रोगीके नाकके पास ओषजन देनेवाली कांचकी कीप लगा दी। दस मिनिटके परिश्रममें बुझा हुआ दीपक बल उठा। धुकधुकी चलने लगी, रक्तके संचारसे सफेदी और नीलापन फिर बदलकर सुर्खी आ गयी, सांस चलने लगी। नाड़ी ठीक हो गयी। शरीरमें गरमी आ गयी। आंखें यद्यपि पथरायी थीं, तथापि सीधी हो गयीं। सारे लक्षण जीवनके दीखने लगे। पेटके विषका प्रभाव नाड़ी-मण्डलपर इतना उग्र देखकर मैंने उग्र उपाय सोचा। यह निश्चय था कि फिर यही दशा आवेगी। उसके लिये झटपट तय्यारी की। पानी खौलानेको चढ़ा दिया कि वह दशा आते ही पांवोंको घसीटकर तुरन्त जलते पानीमें डाल दूं जिससे कि अधोगामी नाड़ी-जालपर धक्का पहुंचे और मस्तिष्ककी ओरसे कर्म्मनाड़ियां नीचेकी ओर झुकें और अपना सारा बल भेजें। इस बातकी बड़ी जरूरत थी कि स्वभाव अपने बलसे विषको निकाल फके। दो घंटेमें फिर वही मृत्युकी दशा आयी। ओषजन तय्यार था। वस्तिके लिये ग्लिसरीनकी पिचकारी देनेवाला

हीं था कि आंखें फड़ककर उलट गयीं और शरीर ऐंठ गया। पिचकारी हाथसे रख तुरन्त टांगोंको जलते जलमें डाल दिया। तुरन्त ही फौवारेकी तरह अत्यन्त दुर्गंधमय और बहुतसी मात्रामें मल-त्याग हुआ। मलके दूर होते ही मरणके लक्षण मिट गये। ओपजन आदिकी आवश्यकता न पड़ी। इस प्रकार तीन बार और यही घटना हुई। पेट साफ हो गया। संकटावस्था बीत गयी। जीवन लौट आया। इसके बाद बिना ओषधिके धैर्य्यसे बराबर स्वभावकी क्रिया देखते रहना पड़ा। भोजनकी जगह शहदका पतला रस कभी कभी थोड़ा थोड़ा दिया जाता था। सात दिनमें पथरायी आंखोंमें धीरे धीरे रोशनी आयी। बच्चेने दिन भरके प्रयत्नमें माता पिताको पहचाना। उसी दिन कुछ जरा होश भी हुआ।

इस अनुभवने सिद्ध किया कि प्राणशक्तिके रहते यदि स्वभावको थोड़ीसी बाहरी सहायता मिल जाय तो अरिष्ट लक्षणोंके होते भी रोगी बच सकता है। अरिष्ट लक्षण मृत्युके अवश्यम्भावी होनेके लक्षण हैं सही, परन्तु भीतर प्राणशक्ति कितनी बलवती है इसका पता बाहरी लक्षणोंसे बहुत कम लगता है। ऐसी दशामें स्वभाव-चिकित्सावालेको निराश तो कभी होना ही न चाहिये। सावधानी और धैर्य्यसे स्वभावके अनुकूल उचित उपचार अन्ततक करते रहना चाहिये।

ऊपर जो लक्षण हमने दिये हैं वह तो स्थूल रूपसे मरणासन्नके लक्षण हैं ही, परन्तु पाठकोंकी कुछ अधिक अभिज्ञताके

लिये कुछ मानसिक और कुछ शारीरिक लक्षण वैद्यकके अनुसार यहां दिये जाते हैं।

मानसिक लक्षण—सदा नाराज रहना, चेहरेपर क्रोधका बना रहना, डरसे काँपते रहना, हँसते रहना, बार बार बेहोश होना, देरतक एकटक ध्यान लगाये रहना, बिना परिश्रमके अत्यन्त थकानका होना, एकाएकी घबराने लगना, भ्रमित और बेचैन होना, ज्ञानशून्य हो जाना, यह सब लक्षण पागल होकर मरनेके हैं।

भाँति भाँतिके सपने देखना, या प्रत्यक्षमें अनोखे और सर्व-साधारणके लिये अदृश्य दृश्य देखना भी मानसिक विकार हैं। उन्मादसे मरनेवाला सपनेमें राक्षसोंके साथ नाच नाचकर पानीमें डूबता है। अपस्मारसे मरनेवाला सपनेमें देखता है कि मैं मतवाला नाच रहा हूँ या भूत मुझे पकड़े ले जा रहे हैं। मानसिक रोगोंसे मरनेवाला जागृतिमें ऐसे ऐसे पदार्थ और रूप देखता है जो औरोंको नहीं दीखते। मरे हुए या अनुपस्थित प्राणियोंको देखता या बात करता है। विचित्र नाद गीत सुनता है जो और किसीको नहीं सुनाई देते। उसे ऐसी उग्र दुर्गन्ध या सुगन्ध मालूम होने लगती है जिसका उसके आसपास अभाव होता है। कड़ी चीज नरम, नरम चीज कड़ी, गर्मको शीत और शीतको गर्म प्रतीत करने लगता है। उसका स्वाद अत्यन्त बिगड़ जाता है। तीते, कड़वे, कसैले आदिका अन्तर नहीं मालूम होता। मीठा उसके लिये फीका हो जाता है।

उसका मन या तो एकदम शिथिल हो जाता है या अत्यन्त उग्र हो जाता है। मरणासन्न मानसिक रोगीमें आवश्यक नहीं कि यह सारे लक्षण मौजूद हों, इन लक्षणोंमेंसे एक या अनेकका उग्र रूपमें उपस्थित रहना काफी है।

शारीरिक लक्षण—वृद्धिका घट जाना मौतके आनेकी सूचना है, यह घटना चाहे देरमें हो चाहे जल्दी। वृद्धिका बंद होना शीघ्र ही मृत्युका कारण होता है। इस सिद्धान्तपर सभी लक्षण समझने चाहियें, साथ ही शरीरमें ऐसे लक्षणोंका उत्पन्न हो जाना जो साधारण रोगियों या जीवित प्राणीमें नहीं होते, आनेवाली मौतकी सूचना देता है। पैरोंका और टांगोंका एकाएकी सूज आना, नाकके बांसेका मोटा हो जाना, बिना सूजनके नाक सूजीसी दीखे या एकदम सूख जाय; जीभ एकदमसे बाहर निकल आवे या भीतर चली जाय, ऐंठ जाय, भारी हो जाय, कांटे पड़जायँ, सूख जाय या सूज जाय, या आंखें बैठ जायँ, या पथरा जायँ, पलक हिलें नहीं, नज़र कम हो जाय, बाल चिकने और रोगनी हो जायँ, रोगी सिर इधर उधर हिलावे, मुँह फेरे, बार बार हँसे, चीख़ मारे, पैरोंसे पलंगके बिस्तरे बिगाड़े, बार बार कान नाकके छेद छुए, अपनी प्रिय चीजोंसे घृणा करे, अपने प्यारोंको न पहचाने बल्कि दुश्मन समझे, आंखें, ठोड़ी, गरदन टेढ़ी हो जाय, ठीक शब्द-उच्चारण न कर सके, निरर्थक शब्द बोले, या बोली बंद हो जाय, उलटी सांस चले। गलेसे कौर न उतरे। पेटपर रंगबिरंगी नसें दीखने लगें,

पेट फूल आवे। शरीरसे उत्कट गंध निकले जिससे मक्खियां आदि घेर लें या रोगीसे दूर भागें। पेट छूट जाय या अत्यन्त सूखा हुआ मल कष्टसे बाहर हो, इत्यादि इत्यादि अनेक अप्रमित लक्षण मरणासन्न प्राणीके शरीरमें उपस्थित हो सकते हैं।

इन सभी लक्षणोंको मरण-संकटके अन्तर्गत समझना चाहिये। मरण-संकटकी अवस्थामें भी यह कहना सम्भव नहीं है कि निश्चय प्राणशक्ति नष्ट हो गयी है। बाहरी उपचारोंसे रोगसे लड़ती हुई प्राणशक्ति सहायता पाकर मरण-संकटसे भी प्राणीको जीवितावस्थामें ला सकती है। इसीलिये स्वाभाविक चिकित्सकको हताश नहीं होना चाहिये।

१५-उपचार-निदान

जिस तरह एक रोग होते भी त्रिदोषसे उसके तीन वा अनेक रूप देखे जाते हैं, मल और विषके विविध अंगोंमें इकट्ठे होनेसे और विविध अवस्थाओंमें स्थित होनेसे उनको दूर करनेके लिये विविध उपचारोंकी भी आवश्यकता पड़ती है। इसीलिये यद्यपि स्वभावको या प्राणशक्तिको सहायता देना ही उपचार या इलाज है, परन्तु सहायता किन किन रीतियोंसे कैसी कैसी अवस्थाओंमें देना उचित है इसपर विचार करना भी स्वाभाविक चिकित्सामें अनिवार्य्य है। पाश्चात्य विद्वानोंने अपनी अपनी रीतियोंको ही सराहा है। हरएक कहता है कि हमारी ही रीति बर्त्तनेसे लाभ है, और रीतियोंके पास न जाइयं। वर्त्तमान लेखककी न केवल राय है, बल्कि यह

अनुभव है कि यथा अवसर और यथा आवश्यकता सभी तरहके स्वाभाविक उपचारोंसे काम लेनेमें ही बुद्धिमानी है।

यहां हम स्थूल रीतिसे यह चर्चा कर देना चाहते हैं कि स्वाभाविक चिकित्सामें उपचारोंका प्रयोग किस प्रकार करना चाहिये।

हम अन्यत्र समझ आये हैं कि रोगकी उग्र दशा वस्तुतः विषों और मलोंका उभार है अथवा प्राणशक्तिका उद्योग है कि विष दूर हो जायँ। इसलिये रोगकी उग्र दशा जिसे कहते हैं वह तो वस्तुतः निसर्गकी ओरसे चिकित्सा होनेकी दशा है। ज्वरसे या हैजेसे घबराना न चाहिये क्योंकि यह तो वस्तुतः शरीरके भीतरसे प्रेरित इलाजका उग्र रूप है। इस इलाजमें मदद करनी पड़ेगी। दस्तोंका आना, जुकाम, ज्वर आदि विषोद्गार हैं। इनका बन्द करना इन्हें दवाना महामूर्खता है। इनके लिये उपचार यही है कि बाहरी उपाय इस तरहके किये जायँ कि इनके निकलनेका मार्ग सुगम हो जाय, रोगी जल्दीसे जल्दी उद्गारसे छुट्टी पा जाय। रोग तो वस्तुतः जीर्ण रोग हैं जिनको दूर करनेके लिये उग्रता उत्पन्न करनी पड़ती है। इसीलिये ठीक उपचार है——

(१) उग्र या नवीन रोगोंमें उद्गार या उभारको सहायता।

(२) जीर्ण रोगोंको उभारकर उग्र या नवीन रूप देनेका प्रयत्न।

(३) यदि (२) अकरणीय हो तो विना उग्रता लाये धीरे धीरे ही विषको दूर करनेका प्रयत्न।

इस सिद्धान्तको समझकर स्वभावकी सहायतामें जिस दोषका अत्याधिक्य हो उसे निकाल बाहर करनेका उद्योग ही वैद्यका कर्त्तव्य है।

स्वाभाविक रीतिसे इस प्रकारकी सहायता रोगीके रहन-सहनमें पूरे सुधारसे ही सम्भव है। वायु, जल, प्रकाश, ताप सभी उसे अनुकूल परिमाणमें मिलना चाहिये। पथ्यपर पूरा विचार करके सिद्धान्तके अनुकूल बनाये रहना चाहिये। यदि औषधि देनी आवश्यक हो तो भी उसका उद्देश्य यही होना चाहिये कि विषोद्गारमें स्वभावको सहायता मिले। कांटेसे कांटा निकालनेवाली रीति यहां समीचीन नहीं है। विष देकर विषको दूर करना, केलोमेल या जमालगोटा खिलाकर दस्त लाना आदि क्रियाएं स्वभावके लिये सहायक नहीं हैं। इस विषयपर प्रसंगानुसार रोगमीमांसावाले अध्यायमें विस्तार-पूर्वक विवेचन हो चुका है अतः उपचार-निदानपर इतना ही पर्य्याप्त होगा।

दोहा

ग्रह-गृहीत पुनि बातबस
तेहि पुनि बीछी मार
ताहि पिआइय बारुनी
कहहु कवन उपचार

—तुलसीदास ।

पाँचवाँ अध्याय

सत्योपचार

(१) प्राकृतोपचार—परम्परा

कहते हैं कि जब क्षीरसागर मथा गया तब पहले हला-हल निकला और पीछे धन्वन्तरि भगवान् अमृतका कलश और हरीतकी और जोंक लिये प्रकट हुए। भगवान् धन्वन्तरि आयुर्वेदके पहले आचार्य्य हैं। हमारे धार्म्मिक साहित्यमें चिकित्सा-शास्त्र अत्यन्त प्राचीन है। एक उपवेद है। आयुर्वेदमें त्रिदोषका सिद्धान्त भी प्राचीन है। (वात पित्त कफ) शरीरमें आवश्यक हैं। इनका सामंजस्य स्वास्थ्य है। किसी एक या दोका बढ़ जाना अथवा अपना स्थान या मार्ग छोड़कर दूसरेका स्थान या मार्ग ग्रहण करना ही क्रमशः दोष और कोप हैं। इनके शमनका उपाय करना और सामंजस्य स्थापित करना ही सच्चा इलाज है। चरक और सुश्रुतके प्राचीन सिद्धान्त समीचीन हैं और उप-चार अत्यन्त स्वाभाविक हैं। लोग आयुर्वेदकी ठीक व्याख्या भूल गये हैं। यथार्थ बात समझनेके साधन हमारे यहां अब उपलब्ध नहीं हैं। जिन ओषधियोंकी चर्चा प्राचीन ग्रंथोंमें है वह सब इसी संसारमें हैं पर उन्हें पहचाननेवाले नहीं हैं। रगों मांसपेशियों हड्डियोंकी वह मालिश करनेवाले नहीं रहे जो दमके

दममें पीड़ाको उड़ा देते थे। कहीं कहीं अब भी देहातोंमें हैं, जो गँवार हैं और समझे भी जाते हैं। पुरानी परम्परा टूट गयी। शल्य और शालाक्य तंत्रके यंत्र अब उस समयके नहीं हैं। आजकलके पुस्तकज्ञानवाले ठीक न समझकर बेढव यंत्र बनाते और काममें लाकर अपनेको पाश्चात्य देशीयोंके सामने हास्यास्पद और पवित्र आयुर्वेदको व्यर्थ बदनाम भले ही कर सकते हैं। पाश्चात्य देशोंके खोजी परीक्षाके अँधेरेमें टटोल टटोलकर भली बुरी सभी तरहकी वस्तुएं निकाल रहे हैं। हमारे देशके आतुर नक्काल और लेभग्गू उन्हींके भरोसे विद्वान् बन रहे हैं, उनका दुरुपयोग कर रहे हैं। इधर सब लोगोंका रहन-सहन भी बदल गया है। हित, मित, समुचित और विहित नहीं रहा है। घनी बस्तियों और नये ढंगके कारखानोंके धुओंसे घिरे शहरोंमें लोग बसने लगे। नये फैशनके भक्त होकर, देश काल निमित्तके अनुसार अपना भोजनाच्छादन करनेके बदले, कुछ और ढंग बरतने लगे। जीवन नितान्त अस्वाभाविक हो गया। आजकलके अनेक आयुर्वेदशास्त्री रसोंके ऐसे भक्त हो गये कि काष्ठौषधियोंका नाम लेना पाप जानते हैं। अस्वाभाविक उपचारसे व्यर्थ ही प्राचीन निर्दोष शास्त्रको बदनाम करते हैं।

बहुतोंका कहना है कि यूनानी विद्वच्छिरोमणि फीसागोरस और बुकरातने भारतवर्षमें ही शिक्षा पायी। यूनानी चिकित्सा-पद्धतिके प्रवर्त्तक बुकरात और जालीनूस समझे जाते हैं। हम अन्यत्र दिखा आये हैं कि बुकरात कैसा स्वाभा-

विक चिकित्सक था। इन यवन विद्वानोंके मतके अनुकूल आज भी यवनानी हकीम चिकित्सा करते ही जाते हैं। इनके यहां आज भी काष्ठौषधियोंका ही प्रचार है। अबतक इनके सिद्धान्त यही हैं कि स्वभावकी सहायता करनी चाहिये। इसमें सन्देह नहीं कि अनेक हकीम आज युरोपीय आधुनिक विधिपर मोहित हो कुछ उस ओर भी झुके हैं। पर फिर भी वैद्यककी अपेक्षा अभी हकीमीकी ओर बहुत कुछ कुशल है। नागार्जुनके समयसे आजतक रसोंमें अधिक लिपटकर हमारे वैद्योंने जितना खोया, उतना ही उनके यूनानी पद्धतिके शिष्योंने हमारी प्राचीन स्वाभाविक औषध्योपचारकी समुचित रक्षा की और उस हमारी पद्धतिको अपनाकर अक्षुण्ण बना रखा।

यवनानी हकीमोंसे विक्रमकी पन्द्रहवीं शताब्दीमें युरोपके विद्वानोंने शिक्षा पायी और भरसक अपनी जानकारी बढ़ायी। पारासेल्सस तो स्वाभाविक चिकित्सक ही समझा जाता था। परन्तु उसीके समयसे अमृत, रसायन और पारसके खोजियोंने प्राकृतोपचारमें भी हाथ डाला और रसोंका दूसरा रूप वहां उठ खड़ा हुआ। धातुज और अन्य खनिज ओषधियोंकी संख्या दिनपर दिन बढ़ने लगी। यहांतक कि अब उनकी संख्या अपार है। धातुज लवण और स्वयं धातुएं उग्र विष हैं। विषोंका चिकित्सामें धड़ल्लेसे प्रयोग होने लगा। विषोंने धीरे धीरे अमृतोंको मार भगाया। नयी सभ्यताने नगरोंकी वृद्धि की और स्वभावके खुले प्रांगणमें रहनेका रवाज उठ गया। धीरे

धीरे यवनानी गुरुवरोंका प्रभाव मिट गया। डाक्टरीका वर्त्तमान रूप देखकर यह कहनेका साहस कोई नहीं कर सकता कि आज भी अलोपथी यूनानी हिकमतकी सगी बेटी है।

पारासेल्ससके समयसे युरोपने कितना खोया और क्या क्या पाया इसपर विस्तार करना अथवा अटकल ही लगाना हमारा यहां उद्देश्य नहीं है। परन्तु हम यह कह सकते हैं कि भारतमें हकीमोंने आयुर्वेदीय स्वाभाविक चिकित्साको जैसे डूबनेसे बचाया वैसे ही युरोपमें विक्रमकी उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तमें महात्मा प्रीसनिट्सने डूबते हुए प्राकृतोपचारकी रक्षा की।

जर्म्मन देशमें शैलेशियाके पहाड़ोंमें एक गाँव ग्राफ़नवर्ग है। प्रीसनिट्स इसी गाँवका एक सीधासादा किसान था। खूब व्यायाम करना, पहाड़ोंकी ताजी हवा खाना, शीतल चान्दीकी तरह चमकते सुन्दर झरनोंमें जल-चिकित्सा, स्नान, देहातका सादा पौष्टिक हितकर भोजन, मोटी झोटी रोटियां, तरकारियां और ओषधियां खाकर स्वस्थ रहनेवाली गायोंका ताजा उत्तम पवित्र दूध, यही उसकी चिकित्सा-विधि थी। रीति अत्यन्त सीधीसादी थी। पर उसकी चिकित्सामें चमत्कार देख युरोपने उसका सिक्का माना। अलोपथीके सैकड़ों सताये उसकी शरण आये। उसके स्वास्थ्यालयमें संसारके सैकड़ों रोगियोंने रहकर स्वास्थ्य और जीवनका दान पाया। उसके अनेक शिष्य हुए जिन्होंने अलग अलग अपने अपने अनुभवके अनुकूल बड़े ही पुष्ट मत प्रतिपादन किये। उसका प्रधान शिष्य

हान हुआ जो पहले अत्तार था, दूसरा लूईकूने हुआ जो कोरी (जुलाहा) था, तीसरा रिकली हुआ जो पहले कारीगर था, चौथा पादरी क्नैप्प हुआ, पांचवां लामान नामका हुआ जो पहले डाकटर था, छठा अडाल्फ युष्ट हुआ जो पहले शिक्षक था, सातवां टर्नफाटर थान हुआ जिसने व्यायाम और शरीर-शोधन चिकित्साकी नींव रखी। सबोंमें यही सात प्रधान थे। इनमेंसे किसीने स्वाभाविक भोजन, किसीने जलचिकित्सा, किसीने मालिशद्वारा भांति भांतिकी चिकित्सा, किसीने जल वायु मिट्टी प्रकाश आदिसे उपचार, किसीने मानसिक चिकित्सा, किसीने व्यायाम-चिकित्सा अपना विशेष विषय बनाया। फ़न्-पेक्स लैने आंखसे निदानका बहुत ही सुन्दर विधान निकाला। अमेरिकासे ट्राल, जैक्सन और केलाग गये और प्रीसनिट्सको अपना गुरु बनाया। यह नाम प्रसिद्ध अलोपथीके डाक्टरोंके हैं।

यह उन महापुरुषोंके नाम हैं जो शास्त्रके अक्षरोंपर नहीं जाते थे, विरोधी सिद्धान्तोंसे नहीं घबराते थे और एक हजार भिन्न भिन्न लक्षणोंपर उतनी ही भिन्न ओषधियोंकी क्रियाके चक्करमें हैरान नहीं होते थे, बल्कि स्वास्थ्य, रोग, निदान और उपचारके प्रश्नोंको साधारण मनुष्योंकी बुद्धि और दृष्टिसे सुलझाते थे। वह अपनी उलझनोंका उत्तर लेनेको पोथियोंके पन्ने नहीं उलटते थे, शहरकी गंदी गलियोंकी खाक नहीं छानते थे। उन्होंने इसके लिये उन्हीं तपोवनोंका आश्रय लिया

जिनसे भारतीय ऋषियोंकी तर्क-शक्तिको उत्तेजना मिलती जहां प्रकृतिकी शालामें मनुष्य नित्य सत्यका परिशीलन करके आत्माका अनुभव करने लगता था। उन्होंने पाश्चात्य देशोंको संदेशा दिया कि यदि सभ्यताके नवीन और महान रोगोंसे रक्षा चाहो तो प्रकृति माताकी गोदमें जाओ और वहीं स्वच्छन्द क्रीड़ा करो। इन महापुरुषोंने भारतके संस्कारोंकी सुन्दर प्रथाको सुप्रजन शास्त्रके रूपमें फैलाया और यद्यपि आजकलकी उद्धत और अभिमानी सभ्यताने इनकी अवहेलना की तथापि प्राकृत-चिकित्साने धीरे धीरे अपना सिक्का बिठा ही लिया और आज युरोप महाद्वीपमें उसका समुचित आदर हो रहा है।

हानिमानका समय प्रीसनिट्ससे पहले था। हानिमानका जन्म संवत् १८११ में हुआ और वह संवत् १८९९ में ८८ बरसका होके मरा। उसने पहले डाकटरी शिक्षा पायी और उसी विधिसे इलाज करता था, परन्तु उसे ओषधिकी मात्रा, विशेषतः कुनैनकी मात्रासे, अनुभव हुआ कि ओषधियोंके प्रयोगमें डाकटर मात्राका विचार नहीं करते जिससे शरीर-शोधन और स्वास्थ्य-साधनके बदले निकलते हुए विष और मल शरीरके भीतर दब जाते हैं। उसने यह भी अनुभवसे देखा कि ओषधिकी क्रिया और प्रतिक्रिया दोनों होती है, और प्रतिक्रियासे ही वास्तविक रोग-निवारण संभव है। उसकी यह धारणा हो गयी कि ओषधि जितनी ही स्वतंत्र और आणविक अवस्थामें दी जायगी उतनी ही उसकी प्रतिक्रिया गुणकारी

और स्थायी होगी। उसने हजारों रोगियोंपर प्रयोग कर करके अपने सिद्धान्त लिखे, जो आज सौ बरस आगेकी वैज्ञानिक उन्नति और वृद्धिसे बराबर अधिकाधिक प्रामाणिक ठहरते जाते हैं। हानिमानने सारे मनुष्य-शरीरकी चिकित्सा चिकित्सकका कर्त्तव्य ठहराया। उसके निकट रोगकी चिकित्सा अवैज्ञानिक है। होमियोपथीके प्रकरणमें हम उसकी विधियों और सिद्धान्तोंपर विस्तृत विवेचन करेंगे।

स्वाभाविक चिकित्साको परम्परा इस प्रकार संसारमें अक्षुण्ण चली आयी है। जिन डाक्टरों और वैद्योंकी पद्धति राजमान्य वा लोकमान्य हो गयी उन्होंने अपनी विधि तो शास्त्रीय और विहित ठहरायी और दूसरोंकी अवहेला की उन्हें अताई आदिका पद दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि चिकित्साकी कोई योग्यता न रखनेवाले भी चिकित्सक बन बैठते हैं और धूर्त्ततासे धन कमाते हैं। उन्हें अताई और धूर्त्त कहना अनुचित नहीं है। परन्तु अधिकारमदसे मत्त हो वास्तविक जाननेवाले स्वाभाविक चिकित्सकोंको न केवल आज भी यह पद दिया जा रहा है, उनकी अवहेला हो रही है, बल्कि उनके विरुद्ध सभ्य संसारमें प्रायः सभी देशोंमें ऐसे ऐसे कानून बने हुए हैं कि उनके अभ्यासमें बाधा पड़ती है। अबतक इस प्रकारकी संस्थाओंका सर्वथा अभाव है कि जिसमें जाति-विवेकके बिना ही सभी पद्धतिके चिकित्सक मिलें, अपनी अपनी विधियों और सिद्धान्तोंपर ठंढे दिलसे विचार करें और

वास्तविक सत्यकी, जो किसी विशेष विधि या शास्त्रमें बन्द नहीं है, खोज करके उसका अनुसरण करें। ऐसी संस्थाके अभावमें इस ग्रंथमें ही हम इस बातके लिये भरसक प्रयत्न कर रहे हैं।

(२) ओषधिका उचित प्रयोग

एक व्यापक भ्रम सर्वसाधारणमें यह फैला हुआ है कि रोग ओषधिसे ही जाता है। इस भ्रमका परिणाम यह होता है कि जरा सी शिकायत हुई नहीं कि ओषधिकी तलाश हुई। यदि कोई बिना ओषधिकी चिकित्सा करे तो उसका विश्वास रोगीको नहीं होता। आप झूठमूठ कोई भस्म ही दे दीजिये, परन्तु दीजिये अवश्य। मनकी यह वह प्रवृत्ति है, वह श्रद्धा, वह विश्वास है जिसके बलसे फकीरी खाकमें भी ओषधिसे अधिक गुण आ जाते हैं और जिसका लाभ उठानेके लिये होमियोपथी करनेवाला अकसर सादी गोलियां दे देता है, जिनमें ओषधीपन केवल रोगीका विश्वास है। मनकी प्रवृत्ति और श्रद्धा अवश्य ही शरीर-शोधनमें सहायक होती है, परन्तु आहार विहारसे उपजे दोष जैसे शरीरमें विष इकट्ठा करते हैं उसी तरह विषोंको तोड़कर अ-विष कर देनेमें अथवा विषोंको पचा देनेमें वा किसी रूपमें निकाल बाहर कर देनेमें कोई बाहरी पदार्थ उचित मात्रामें सेवन करनेसे अवश्य ही सहायक होता है। यह जानना कि कैसी अवस्थामें कौनसी ओषधि देनेसे लाभ होगा, और किस अवस्थामें किसी ओषधिका न देना, एवं बाह्योपचार करना ही गुणकारी है, स्वाभाविक चिकित्सकका

परम कर्त्तव्य है। तोभी वर्त्तमान कालमें संसार भरमें प्रायः यही दशा है कि कोई चिकित्सक केवल सलाह देकर और ओषधिका प्रयोग बन्द करके अपना रोजगार नहीं चला सकता, बल्कि ऐसे चिकित्सक बहुत कम हैं जो ऐसा विश्वास करते हों कि बिना ओषधिकी चिकित्सा भी कोई वैज्ञानिक चिकित्सा है।

स्वाभाविक चिकित्सक ओषधिमात्रका विरोधी है, यह भ्रम भी कहीं कहीं फैला हुआ है। सच्ची स्थिति यह है कि प्राकृतोपचार ओषधिके अनुचित प्रयोगका विरोधी है, उचित प्रयोगका नहीं। जहांतक ओषधि रोगको दबा देती है, उभारका विरोध करती है, स्वास्थ्य-निर्णयावसरमें बाधक होती है, शरीरको नष्ट करती है और विषका काम करती है, वहांतक ओषधिका प्रयोग दूषित और वर्ज्य है, क्योंकि ऐसी ओषधिसे स्वभावकी सहायता नहीं होती।

शरीरमें विजातीय द्रव्य विष और मलके रूपमें होते हैं। स्वभाव निरन्तर इनको निकाल बाहर करनेके यत्नमें लगा रहता है। साथ ही विषों और मलोंके साथ कभी कभी उनके घनिष्ठ सम्पर्कमें आनेके कारण शरीरके आवश्यक लवण एवं और अनेक पोषक मौलिक पदार्थ भी शरीरसे अलग हो जाते हैं। इनकी क्षतिपूर्त्ति भी आवश्यक है और यदि साधारण भोजनसे नहीं हो सकती तो उसके लिये असाधारण भोजन वा ओषधि आवश्यक है। प्रायः सभी उद्भिज्ज पदार्थोंमें जो मनुष्यके भोजनका अंश हो सकते हैं, प्राणकणोंके लिये अच्छीसे

अच्छी ओषधियां मौजूद हैं, प्रश्न केवल मात्राका है। इसीलिये, यह स्पष्ट है कि ऐसी काष्ठौषधियां जो उग्र विष नहीं हैं बहुत थोड़ी मात्रामें सेवन करनेसे स्वभावको सहायता पहुंचा सकती हैं।

ओषधियोंका मिश्रण उनके गुणोंको नष्ट करना है। कभी कभी एक दोका मिश्रण अवश्य गुणोंमें वृद्धि कर देता है। परन्तु जब मिश्रण करनेपर उतारू हुए तो फिर विवेचनाका अन्त नहीं होता। प्रत्येक ओषधिमें गुण दोष दोनों ही होते हैं। आपने एक ओषधि ली। उसके दोषोंके निराकरणके लिये दूसरी ली। दूसरीके दोषोंको दूर करनेको तीसरी मिलायी। इसी प्रकार ऐसा सिलसिला कभी कभी सैकड़ोंकी खबर लेता है और ऐसी औषध-खिचड़ी तय्यार करता है जिसके संयुक्त गुणोंका निश्चय कठिन होता है और जो प्रायः लाभके बदले हानि पहुंचाती है। मिश्रणके अटूट सिलसिलेसे बचनेके लिये सबसे अच्छा यही है कि अनिवार्य्य आवश्यकताके अनुसार दोषकी परवा न करते हुए गुणके विचारसे ही एक ही ओषधिको थोड़ी मात्रामें सेवन करावे। इससे जितना अधिक और शीघ्र लाभ संभव है उतना और किसी उपचारसे संभव नहीं है।

प्रत्येक ओषधिमें दो प्रकारके गुण देखे जाते हैं। क्रियात्मक वा आरंभिक और प्रतिक्रियात्मक वा स्थायी। अमिलतासले साधारणतया जो रेचन होता है, दस्त आते हैं, वह क्रियात्मक या आरंभिक गुण है, परन्तु पीछेसे जो बद्धकोष्ठ या कब्ज हो जाता

है वह प्रतिक्रियात्मक एवं स्थायी गुण है। आरंभिक या क्रियात्मक गुण ओषधिकी मात्रापर बहुत कुछ निर्भर है। प्रत्येक ओषधिकी एक मात्रा इतनी अधिक हो सकती है कि शरीरकी भीतरी शक्तियोंको एकदम दबा दे एवं क्षीण कर दे कि प्रतिक्रियाका प्रदर्शन हो न हो सके, अथवा उसकी नौबत ही न आये और जीवनका पटक्षेप हो जाय। जयपाल या जमाल गोटेके प्रयोगसे प्राणान्तक रेचन हो सकता है, कि कब्जकी नौबत ही न आये। अत्यल्प होमियोपथी मात्रामें वही दस्तोंके रोकनेके काममें आ सकता है और रेचनकी क्रिया इतनी मंद हो जाती है कि पता ही नहीं लगता। साथ ही एक मात्रा उसकी ऐसी भी हो सकती है कि क्रियाका भी प्रदर्शन हो और प्रतिक्रियाका भी। दस्त भी आ जायँ और पीछे कब्ज भी हो जायं। साधारण स्वस्थ शरीरपर इस तरहकी मात्राएं सहज ही अपना प्रमाण देती हैं परन्तु जिन परीक्षाओंसे हमें अपना अनुभव बढ़ाना है, वह रोगियोंपर ही हो सकती हैं। मात्राओंके निर्णयका प्रश्न भी इसीलिये सहज नहीं है। रोगकी दशा और रोगीके स्वभावकी विशेषता दोनोंकी प्रतिक्रिया ओषधिपर होती है। वैद्यकके निघंटु ग्रन्थ हजारों बरसके अनुभवके फल हैं, परन्तु उनमें भी अनेक स्थानोंमें अनुभव-भेदसे मतभेद पाया जाता है। कोई ब्राह्मीको हिमा कहता है कोई उष्णा। परन्तु उसकी स्थायी प्रतिक्रिया क्या है, मेधापर, नाड़ी-मंडलपर उसका क्या प्रभाव है इसमें मतैक्य है। हमारे वैद्य यदि काष्ठौ-

षधियोंके अकेले ही देनेका अभ्यास करें, यदि धैर्यसे टटके उद्भिज्जोंके एक एक अंगपर अपने अनुभवका प्रकाश करें, शास्त्रोंमें एक एक ओषधिके जो गुण बखाने हैं उनका परिशीलन करके एक एक रोगीको एक ही एक ओषधि दें जिसकी प्रतिक्रिया उसके स्वास्थ्यके अनुकूल पड़े, अथवा जिसकी क्रिया या आरंभिक प्रभाव प्रतिकूल पड़े, तो न केवल राष्ट्रका अप्रतिम लाभ हो, वरन् चिकित्सा-शास्त्रका और भी अधिक विकास हो।

चिकित्साशास्त्र सतत-वर्धमान विज्ञान है। प्राचीन अनुभवी ग्रन्थकारोंके हम अवश्य ऋणी हैं, उनसे हमने सीखा है, परन्तु उनके ऋणका प्रतिशोध हमसे तभी बन पड़ेगा जब हम उनके अनुभवके भण्डारकी अपनी अर्जित सम्पत्तिसे वृद्धि करेंगे। सभी भाषाओंमें बराबर अनुभव-जनित चिकित्साएं प्रकाशित होती रहती हैं, जिसका फल यह हुआ है कि पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्रका रूप आशिखान्त बदल गया है, परन्तु हमारे देशके चिकित्सकोंका ध्यान भी इस ओर यथेष्ट नहीं है और पराराज्यकी परिस्थितिने उस प्रोत्साहनका भी अभाव कर रखा है जो और देशोंमें जनतासे सहज ही मिल जाता है।

हम अन्यत्र भी कह आये हैं कि व्यवहारकी सरलताके लिये मात्राकी अल्पताके लिये और फलकी शीघ्रताके विचारसे वैद्य आजकल रसोंका ही प्रयोग किया करते हैं। रोगी भी जल्दी लाभ देखता है, कड़वी तीखी ओषधियोंसे प्रायः बचता है, कूटने पीसने, छानने, पकानेके झंझटसे बचता है। इन्हीं सुभीतोंसे

रसोंकी चाल जोरोंसे चल पड़ी। जैसे होमियोपैथ अपना दवा-खाना सहजमें साथ लिये फिरता है, वैद्यकी थैली भी ऐसी ही सुभीतेकी चीज है। परन्तु जहां होमियोपैथ ओषधियां लिये चलता है, वैद्य विषकी पुड़िया रखता है। अनुचित प्रयोग यद्यपि दोनोंकी दशामें विष ही है, तथापि वैद्यके प्रयोग निःसन्देह अधिक अनुचित होते हैं। उसके रस वस्तुतः उग्र विष हैं जो स्वाभाविक उद्गारको दबाते हैं और शरीरमें विषकी मात्रामें वृद्धि करते हैं। उसके विषोंकी मात्रा यदि होमियोपथिक रीतिसे घटाकर अत्यन्त न्यून कर दी जाय तो अवश्य ही ओष-धिका काम दे। परन्तु इसकी नौबत नहीं आ सकती। वैद्य तो समझता है कि मैं केवल आधा चावल दे रहा हूं। परन्तु उस ओषधिकी स्थायी क्रियाके लिये आधे चावलका शंखांश भी पर्य्याप्त था। अर्थात् उस आधे चावलमें जहां वह एक शंख रोगियोंको लाभ पहुँचा सकता है, वहां वह एक ही रोगीको एक शंख गुणा अधिक मात्रा देकर केवल आरम्भिक क्रिया, जो टिकाऊ नहीं होती, पैदा करता है। जिससे उसके वर्त्तमान रोगीकी उग्रता दब जाती है, विष शरीरके निर्बल स्थानोंमें बैठ जाता है और जीर्ण रोगके किसी न किसी रूपका उदय हो जाता है।

साथ ही यदि कोई कहे कि जिन लवणोंकी क्षति शरीरमें हो जाती है उनकी पूर्त्ति रस या धातव लवणोंके प्रयोगसे सहज ही हो जायगी तो यह भी हम माननेको तैयार नहीं हैं।

वैद्यकके रस "मारे हुए" और "कुश्ता" कहलाते हैं। कच्ची धातुएं तो मानी हुई विष हैं। जितने लवण काममें आते हैं, यद्यपि उद्भिज्जोंसे ही निकाले जाते हैं तथापि उनमें प्राणशक्तिका नितान्त अभाव होता है। जिन वस्तुओंमें प्राणशक्ति नहीं है उनसे यह आशा करना कि रोगीके शरीरमें वह सर्वथा "अंगीकृत" हो जायँगे, व्यर्थ है। अंगीकरणके लिये यह आवश्यक है कि ओषधि वा भोजनमें भी प्राणशक्ति मौजूद हो। प्राणकण प्राणी-मात्रमें हैं और इन्हींकी क्रियाका जारी रहना जीवन है। इनकी सहज पहचान यह है कि जो पदार्थ वायुसे और जलसे अलग रहनेपर भी सड़ें अथवा उनमें रासायनिक विकार अपने आप प्राणशक्तिके द्वारा हों, वही जीवित वा सप्राण वा सजीव पदार्थ हैं। रासायनिक रीतिसे बनाए पदार्थ निष्प्राण होते हैं। उनसे किसीका पोषण नहीं हो सकता। मनुष्य रासायनिक रीतिसे कर्बोज्जोषिद, प्रोटीड, जल, लवण आदि बनाकर इनका मिश्रण ठीक अन्नकी मात्रामें भोजन करे, तो इस प्रकारके रासायनिक भोजनसे वह जी नहीं सकता। उसे तो सप्राण भोजन चाहिये। "जीवो जीवस्य जीवनम्" यह उक्ति थोथी नहीं है। हमने जो अन्यत्र प्रोफेसर वीशम्पके सिद्धान्त दिये हैं, वह इस प्रकरणमें भी पूर्णतया लगते हैं। भोजन हो या ओषधि हो, शरीरमें अंगीकरणके लिये सप्राण ही चाहिये। निष्प्राण रूपमें वह शरीरके मलों और विषोंमें सम्मिलित हो जायगा। शाइस्लरके सिद्धान्तोंके अनुसार शरीरके तंतुओंमें जो लवण पाये जाते हैं,

उनमें जब कमी आजाय तब उन्हें सूक्ष्म मात्राओंमें शरीरमें पहुंचाना चाहिये। इसी दृष्टिसे इस विद्वानने बारह ऐसे लवण निश्चय किये जिनके देनेसे वह क्षतिपूर्त्ति हो जानी चाहिये। हानिमानकी तरह उसने इनकी मात्राएं अत्यन्त सूक्ष्म रखीं और इनकी प्रतिक्रियाओंपर विचार करके इनके प्रयोगके लक्षण निश्चित किये। इनसे ओषधिका लाभ तो अवश्य होना ही चाहिये क्योंकि मात्राएं प्राणकणोंके अनुकूल सूक्ष्म हैं, जैसा कि हम होमियोपथीके प्रकरणमें देखेंगे। परन्तु इनसे वास्तविक क्षतिपूर्त्ति हो जाती है, इसका निश्चय होना कठिन है। लवणोंकी क्षतिपूर्त्तिके सर्वसम्मत और निश्चय साधन भोजनके उद्भिज्ज पदार्थ हैं, फल, मूल, पत्तियां, डंठल, फूल, तरकारियां आदि जिनमें सब तरहके लवणोंकी पर्य्याप्त मात्रा मौजूद है। यह मात्रा उतनी ही है, प्रायः जितनी हमारे शरीरके लिये आवश्यक है और हम भोजनके रूपमें जिसे शरीरके भीतर ले जाते हैं। यह सहज ही "अंगीकृत" हो जाती है। इनके प्राणकण हमारे शरीरके भीतर जाकर हमारे प्राणकणोंसे मिलते हैं और क्षतिपूर्त्तिमें वास्तविक आवश्यक सहायता पहुँचाते हैं। शरीरके कणोंकी पूरी मरम्मत करते हैं। निष्प्राण अथवा प्राणनाशक वस्तुएं, जिन्हें हम भूलसे ओषधि कहते हैं, भीतर जाकर, अधिक मात्रामें हुईं तो प्राणशक्तिके सिरपर व्यर्थ बोझ और उनकी क्रियामें बाधा डालनेवाली होती हैं और अत्यन्त कम मात्रामें हुईं तो रोगी प्राणकणोंपर इष्ट या अनिष्ट प्रभाव

डालती हैं और होमियोपथिक ओषधियों और विषोंका रूप धारण करती हैं।

काष्ठ-ओषधियां इसीलिये स्वाभाविक चिकित्साके अन्तर्गत हैं, परन्तु शर्त्त यह है कि अकेली दी जायँ वा सजातीय दो तीनसे अधिक न मिलायी जायँ, उनकी मात्रा अत्यन्त कम हो, अथवा यदि खाने पीनेकी चीजें हों तो रोगीके स्वभावके अनुकूल मात्रा हो, और भरसक टटकी हों और उनकी स्वाभाविक दशामें ही रोगी उनका सेवन करे। यह सब हमारे प्राचीन शास्त्रोंके ही मत हैं जिन्हें हम लोग जिह्वासे तो कहते और मानते हैं पर व्यवहारमें भूल गये हैं। रोगकी या उभारकी उग्रतासे घबराकर इन सिद्धान्तोंको श्लोकोंमें रटे हुए होनेपर भी व्यवहारमें लानेका धैर्य्य और साहस नहीं होता और स्वभावपर पूरा भरोसा भी नहीं कर सकते।

काष्ठ-ओषधियोंके द्वारा चिकित्सा और भोजनके द्वारा चिकित्सामें बहुत कम अन्तर है। पथ्य-चिकित्सापर तो हम अन्यत्र विस्तार करेंगे ही। इस स्थलपर इतना कह देना पर्य्याप्त होगा कि नित्यके भोजनके पदार्थोंमें उन वस्तुओंकी उचित मात्रा रहा करती है, शरीरके नित्यके वृद्धिक्षयमें जिनका काम लगता है। परन्तु मलोंकी वृद्धि और शरीरांशके क्षयके बढ़नेमें असाधारण उद्भिज्जोंके सेवनसे मनुष्य लाभ उठा सकता है। यदि भोजनमें बराबर अम्लोत्पादक पदार्थोंका सेवन होता रहा है और रक्तमें अम्लता अत्यधिक आ गयी है,

तो क्षारोत्पादक उद्भिज्जोंसे इस दोषका निराकरण हो सकता है। साधारण बोल-चालमें जिन्हें हम खट्टा और बादी कहते हैं ऐसे पदार्थोंके छोड़ देनेसे अम्ल न बनेगा, परन्तु जितना अम्ल एकत्र हो चुका है उसे दूर करनेके लिये हम क्षारजनक पदार्थों-का सेवन करें तो अम्लत्व और क्षारत्व मिलकर लवण बन जायँगे। यह लवण शरीरकी आवश्यकतासे अधिक होनेके कारण, कुछ तो मलमें मिलकर परन्तु अधिकांश वृक्कोंके मार्गसे मूत्रमें और रोमकूपोंके मार्गसे प्रस्वेदमें होकर शरीरके बाहर निकल जाते हैं।

पालक, बथुआ, चौलाई, गाजर, शलजम, गांठगोभी आदि शाकोंमें क्षारजनक लवण होते हैं। इनके सेवनसे साधारण-तया परन्तु इनके स्वरससे विशेषतः अम्लत्वका निराकरण हो जाता है।

जिन रोगोंमें मनुष्य दुबला और विवर्ण हो जाता है और शरीरमें रक्तकी कमी जान पड़ती है, प्रायः रक्तमें लोहेकी कमी होती है, क्योंकि लोहा ही ओषजनको खींचता है, और ओष-जनके ही शोषणसे रक्त लाल लाल दीखता है। यह लोहेकी कारगुजारी है कि फेफड़ेकी वायव्यसेलोंसे ओषजनसे मिलता है और धमनियोंके द्वारा शरीरमें शुद्ध रक्त फैलाता है। शरीरसे कर्बनद्वयोषिद भी बराबर निकलता रहता है उसे सोखकर सोडियम रक्तको भी लाभ करके शिराओंके मार्गसे फेफड़ोंमें आता है और रोमकूपोंकी ओर भी जाता है। सच्ची बात यह

है कि सोडियमकी कमीसे ओषजन कम अंगीकृत होता है, क्योंकि कर्बनद्वयोषिद् बहुत जमा हो जाता है। इसलिये कि अधिक ओषजन सोखा या हजम किया जा सके सोडियमकी कमी पूरी करना अनिवार्य्य है। उलटे डाक्टर यह समझता है कि मरीज पीला पड़ गया है तो उसे लोहा ही देना चाहिये। जिन भोजनों या ओषधियोंसे लोहा और सोडियम दोनों अंगीकृत हों, ऐसी दशामें उसी तरहके भोजन होने चाहियें। परन्तु भोजन तो सदैव सजीव पदार्थोंका होना चाहिये।* निर्जीव रासायनिक अनांगारिक लवण वा आंगारिक यौगिक प्राणकणोंके अभावमें अंगीकृत नहीं होते। काष्ठौषधि ही इस कामकी ओषधियां हैं। पेट भरनेवाली मात्रामें हकीम लोग बहुधा ओषधि देते हैं और यह विधि समीचीन भी है। जब भोजनके अतिरिक्त काष्ठौषधि दी जाती है तो उसकी मात्रा अनिवार्य्य रीतिसे थोड़ी ही होनी भी चाहिये। साधारणतया इस प्रकारकी ओषधि और भोजनमें मात्राका उसी तरह अन्तर है जिस तरह विष और मलको परिभाषामें हमने अन्यत्र दिखाया है।

हमने रसोंकी और डाकटरी विषमय दवाओंकी जगह जगह निन्दा की है। पारा, गन्धक, संखिया, कुनैन, कुचिला, सिंधिया नैल (अयोडीन) और इनके यौगिक चाहे भारतीय विधिसे बने

---

* सजीव पदार्थोंसे हमारा तात्पर्य्य आमिषाहार नहीं है। आमिषाहारके दोष हम पथ्यापथ्य-विवेचनमें विस्तारपूर्वक दिखायेंगे। यहां सजीव पदार्थोंसे उद्भिज्ज और दूध दही आदि अभिप्रेत है।

हों और चाहे युरोपीय आधुनिक विधिसे, सभी उग्र विष हैं, जिनका सेवन करनेसे दिमाग, सुषुम्ना नाड़ी और उत्तम अंगों और इन्द्रियोंमें विषोंका संचय हो जाना है जिससे शरीरके कणों का सदाके लिये क्षय और नाश हो जाता है। काष्ठौषधियोंके कुसेवनसे, मिथ्याहार-विहारके दोषसे शरीरके भीतर संचित विष और मल स्वाभाविक नियमोंसे सहज ही दूर हो जाते हैं और स्वाभाविक उपचारोंसे इस प्रकारके शरीर-शोधनमें कोई कठिनाई नहीं पड़ती। परन्तु ऊपर कहे अस्वाभाविक रस और विष पहले तो शरीरके भीतर कोई स्थान नहीं रखते और यदि किसी कृत्रिम रीतिसे निर्म्माण-विधिसे या अनुपानकी रीतिसे इन विषोंने अपना स्थान किसी अंगमें बना लिया तो स्वाभाविक उपचारोंके कठिनसे कठिन रूपके अवलम्बनपर भी उन विषोंका दूर करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। और कोई विधि इन्हें दूर करनेकी तो है ही नहीं। यह एक बार शरीरमें घर कर लेते हैं तो शरीरके साथ ही विदा होते हैं।

एक रोगीको जहरबादका उभार हुआ, परन्तु दबाया गया। गांठोंमें पीड़ा हुई। डाकटरी इलाजसे फिर यह रोग दबाया गया। फिर रूप बदला। राजयक्ष्मा हो गया। डाक्-टरोंने जवाब दे दिया। लाचार हो जल-चिकित्साका आश्रय लिया गया और होमियोपथी इलाज हुआ। जितनी तकलीफें पहले हुई थीं सब लौटीं। राजयक्ष्मा अच्छा हुआ। गांठोंकी पीड़ा और जकड़नका कष्ट हुआ। फिर जहरबाद हुआ। उससे

शान्ति अवश्य हुई। रोगीके प्राण बचे। परन्तु लौटता हुआ उभार गठिया और जहरबाद दोनों ही बड़े उग्र और भयंकर रूपमें हुए। इसका कारण यही था कि दबानेवाले विषोंको भी इन्हीं मार्गोंसे निकालनेके लिये स्वभावको भगीरथ प्रयत्न करना पड़ा। यदि शरीरके उद्गार-प्रयत्नका रूप स्वयं राजयक्ष्मा न हो जाती और स्वाभाविक शोधनके उपाय न होते तो शरीरके साथ ही इन विषोंका अन्त होता।

---

(३) होमियोपथी-चिकित्सा

"समः समं शामयाति विषस्य विषमौषधम्।"

अल्प मात्रा

अपने बहुत कालके अनुभवसे हानिमानने यह सिद्धान्त ठहराये कि प्राणीके चारों ओर व्योममण्डलमें इष्ट और अनिष्ट शक्तियोंकी धारा बहती रहती है और सभी प्राणियोंपर उसका प्रभाव पड़ता रहता है। शरीर इष्ट और अनिष्ट दोनों प्रभावोंको ग्रहण करता रहता है। अनिष्ट प्रभावोंके विरुद्ध अपनी भीतरी शक्तियोंका संचालन करता रहता है और स्वास्थ्यकी रक्षा करता रहता है। परन्तु साथ ही शरीरके भीतर कुछ ऐसी अवस्था भी बहुधा रहा करती है जो बाहरसे आनेवाले अनिष्ट प्रभावोंको ग्रहण करती और देहको रोगी बना देती है। यह अवस्था रोग उपजाने और बढ़ानेवाले विकारोंके लिये अनुकूल

क्षेत्र होती है। इसे रोग-प्रवण अवस्था कहते हैं। देश काल निमित्त आहार विहारके भेदसे यह भीतरी रोगप्रवण अवस्था उत्पन्न होती है। इसी अवस्थामें अनिष्ट बाहरी प्रभावोंसे मनुष्य रोगी हो जाता है। रोग उपजानेवाली इन सूक्ष्म और अदृष्ट शक्तियोंके प्रभावका मुकावला उन्हीं ओषधियोंसे संभव है जो स्वयं सूक्ष्म आणविक अवस्थामें हों। यह बात आधुनिक रसायनसे भी सिद्ध है कि पारमाणविक अवस्थामें यौगिक प्रवृत्ति या योग-शक्ति मुक्त और अत्यन्त प्रवल होती है। पदार्थ जितना ही कम घनत्वकी अवस्थामें होता है, अणु और परमाणुओंमें परस्पर, उनके वास्तविक आयतनकी अपेक्षा, जितना ही अधिक देशका अन्तर रहता है, उतना ही अधिक उनको गतिका अवकाश मिलता है। उतनी ही अधिक वेगवती उनकी गति होती है, सूक्ष्म-संसारपर उतना ही अधिक प्रभाव और चाप पड़ सकता है। स्थूल-संसार सूक्ष्म कणोंकी "सं-गति" है, सूक्ष्म अवयवोंमें जो अन्तर पड़ता है, स्थूल रूपमें उसका प्रभाव प्रगट होता है। इसीलिये हानिमानकी यह धारणा हुई कि ओषधियोंकी मात्रा यदि अत्यन्त सूक्ष्म कर दी जाय तो उसका प्रभाव शरीरके सूक्ष्म अणुओं और परमाणुओंपर अवश्य पड़ेगा। प्रोफेसर वीशम्पके सिद्धान्तोंकी चर्चा हम अन्यत्र कर आये हैं। जैसे रसायन-संसारमें परमाणुओंके भी खण्ड खण्ड हो गये और उनसे हजार हजार गुना छोटे विद्युत्कण आजकल सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणोंका स्थान लिये हुए हैं, उसी तरह प्रोफेसर वीशम्पके

प्राणकण भी शरीरके सेलोंसे हजार हजार गुना छोटे जीवित कण हैं जिनसे सभी प्राणी बने हुए हैं। बीशम्पके सिद्धान्तोंका मुकाबला करके हम यह स्पष्ट कह सकते हैं कि जैसे प्राणकणों-की अस्वस्थतासे सारा शरीर रोगी हो जाता है वैसे ही प्राण-कणोंकी चिकित्सासे सारे शरीरकी चिकित्सा हो जाती है और उनके नीरोग होनेसे सारा शरीर नीरोग हो जाता है। यह प्राण-कण जितने सूक्ष्म हैं उतनी ही सूक्ष्म उनके लिये ओषधि भी चाहिये। अलोपथीवाले जो मात्रा प्रौढ़ रोगियोंको देते हैं, बच्चोंके लिये वही मात्रा दें तो घातक हो जाय। इसीलिये बच्चों-की मात्रा उनकी अवस्थाके अनुसार घटायी जाती है। परन्तु यदि रोगी प्राणकण जैसे अत्यन्त सूक्ष्म प्राणी हों तो बच्चोंवाली मात्रा तो उनके लिये विषके समुद्रका काम करेगी। वह तो विषमें डूबकर बेहोश, निष्क्रिय अथवा मृतप्राय हो जायँगे। यही बात है कि बड़ी मात्राओंमें जो ओषधि दी जाती है उससे शरीरमें स्वाभाविक प्राणकणोंके पराक्रमोंसे जो क्रिया होनी चाहिये, वह नहीं हो सकती। प्राणकणोंकी चिकित्सामें ओषधिकी वह मात्रा प्रयुक्त होनी चाहिये जो संख, अरब या लाख लाख गुना साधारण मात्रासे छोटी हो। यह बात हानि-मानके सिद्धान्तसे खूब मेल खाती है। हानिमानने परीक्षा कर देखा कि अत्यन्त सूक्ष्म मात्रासे ओषधिका प्रभाव स्वभावके लिये सहायक और स्वास्थ्यको टिकाऊ करनेवाला होता है।

हानिमानने यह भी परीक्षा करके देख लिया कि प्रत्येक

ओषधिकी प्रतिक्रिया उसकी क्रियाके ठीक विपरीत होती है। अधिक मात्रामें एक ओषधि, जैसे संखिया, पेटमें मरोड़ पैदा करती है और दस्त लाती है, तो थोड़ी मात्रामें देनेसे वही मरोड़को अच्छा करती और दस्त बन्द करती है। ओषधियोंकी क्रिया और प्रतिक्रियाकी चर्चा हम पिछले प्रकरणमें कर आये हैं। वस्तुतः प्रतिक्रिया ही वह प्रभाव है जो ओषधिके सम्पर्कसे शरीरमें उत्पन्न करनेमें स्वभाव समर्थ होता है। यह प्रभाव टिकाऊ होता है और सूक्ष्म मात्रासे ही यह प्रतिक्रिया हो सकती है। प्राणकणोंको विषके समुद्रमें डुबोनेसे इस प्रतिक्रियाका आविर्भाव नहीं होता। इन कारणोंसे भी अत्यन्त सूक्ष्म मात्राओंमें ओषधियोंका दिया जाना आवश्यक है।

जैसा हम पिछले प्रकरणमें कह आये हैं हानिमानका भी यही सिद्धान्त है कि ओषधियां अकेली दी जायँ। मिश्रण न दिया जाय। मिश्रणके देनेमें जो बुराइयां हैं उनकी चर्चा हो चुकी है। होमियोपथीमें मिश्रण देनेकी विधि नयी है।

ओषधिके निश्चय करनेमें हानिमानने सच्ची वैज्ञानिक विधियां निकालीं जिनका महत्व तबसे आजतक बढ़ता ही जा रहा है। आयुर्वेदके आरम्भ करनेवालोंके समयसे आजतक रोगियोंपर परीक्षा करके ओषधियोंके गुण निश्चय किये जाते रहे हैं, परन्तु हानिमानकी निश्चय की हुई विधियां और उनका क्रमविकास व्यवहारमें अधिक सरल पर साथ ही लक्ष्यपर तुरन्त ही पहुँचानेवाला सिद्ध हुआ है।

उसने स्वस्थ दशामें एक एक ओषधिकी सूक्ष्म और स्थूल मात्राओंका व्यवहार अपने ऊपर और अपने शिष्योंपर किया। जो लक्षण स्वस्थ दशामें सबके ऊपर समान हुए उन्हें लिख लिया। अब जिस रोगीमें वही सब या मुख्य मुख्य वही लक्षण पाये गये उसे वही ओषधि दी गयी। उससे रोगके समस्त उपद्रवोंका शमन हो गया। इस तरहकी एक दो नहीं, सैकड़ों परीक्षाएं कीं और अब तो यह निश्चय हो गया है कि ओषधियां जो अत्यल्प मात्राओंमें दी जाती हैं, समान लक्षणोंका शमन करती हैं। दूसरे शब्दोंमें, उनकी प्रतिक्रिया उनकी आरम्भिक क्रियाके विपरीत हुआ करती है। इस प्रकार चिकित्सा-प्रणाली बड़ी सरल हो गयी। सारे अंगपर, सम्पूर्ण मनुष्यपर, किस ओषधिका क्या प्रभाव आरंभिक क्रियामें पड़ता है, इनका पूर्ण वृत्तान्त होमियोपथिक "मटीरिया मेडिकामें" दिया रहता है। रोगीके लक्षण आप अच्छी तरह देखिये। उसके अंग अंगकी, उसकी मानसिक अवस्थाकी, उसके स्वभावकी, उसके दुःख सुखके बढ़ने घटनेकी, निदान उसके स्वास्थ्य और रोगके सम्बन्धकी सारी दशाएं मालूम कर लीजिये। जो ओषधि ठीक उस रोगकी दशाका प्रतिबिम्ब हो वही ओषधि उसे लाभ करेगी इसका निश्चय रखिये। होमियोपथिक चिकित्सकको दो तीन घंटेके परिश्रममें प्रायः ओषधिकी पूरी शृंखला मिल जाती है और रोगीके लाभमें रत्तीभर सन्देह नहीं रह जाता।

रोगके और ओषधिके लक्षण

चिकित्सक पहले तो रोगीके बाह्य लक्षण देखता है जिनकी जांच वह स्वयं अपने करणों और उपकरणोंसे कर लेता है। साथ ही वह आन्तरिक लक्षणों पर रोगीसे वा उसकी शुश्रूषा करनेवालेसे पूछताछ करके बाह्य लक्षणोंके पूर्णरूप, पूर्वरूप और भावी रूपको मिलाता और शरीरकी वास्तविक अवस्थाका ज्ञान करता जाता है। इन दोनों बातोंके सिवाय अत्यन्त महत्वकी बात है रोगीकी मानसिक अवस्था। वह मानसिक लक्षणों पर पूरा ध्यान देता है। इनसे नाड़ी-मंडलपर रोगका किस प्रकारका प्रभाव पड़ा है इसका निश्चय हो जाता है। मानसिक अवस्था ओषधिके चुनावकी एक महत्वकी कुंजी है। इन सब बातोंके साथ ही साथ वह रोगके विशेष लक्षणोंकी ओर अपना पूरा ध्यान रखता है जिससे वह ओषधिके निर्णयमें विवेक कर सके कि समान गुणवाली दवाओंमें भी कौन सी ऐसी है कि उस रोगीके विशेष लक्षणोंसे सुसंगत होगी। उपर्य्युक्त चार लक्षण तो रोग और रोगीके सम्बन्धके हुए।

जिस तरह वह रोग और रोगीके लक्षणोंकी परीक्षा करता है उसी तरह उसे ओषधिके लक्षणोंकी भी परीक्षा करनी पड़ती है। पहले तो नीरोगपर ओषधिके क्या प्रभाव पड़ते हैं, और रोगी शरीरपर उसी ओषधिके

क्या प्रभाव पड़ते हैं, इन दोनों लक्षणोंका उसे परिशीलन करना पड़ता है। उसके पहलेके चिकित्सकोंने ओषधिके यह दोनों प्रकारके लक्षण लिख रखे हैं, उनसे वह अवश्य लाभ उठाता है। परन्तु चिकित्सक भी स्वयं रोगियोंपर बराबर ओषधियोंका प्रयोग करता और अपना अनुभव बढ़ाता जाता है। अतः दूसरे प्रकारके लक्षणोंमें उसे अपने अनुभवसे भी सहायता मिलती है। ओषधियोंके चुननेमें रोगीकी अवस्था देखकर पहले उसकी निगाह **समान लक्षणोंवाली** ओष-धियोंपर पड़ती है। परन्तु उन सब **समान ओषधियोंमें** उसे **विशेष लक्षणोंवाली** ओषधियां चुन लेनी पड़ती हैं। इनमें भी जो रोगीके वर्त्तमान मुख्य लक्षणोंसे पूर्णरूपसे मिलती है, उसी ओषधिकी उचित अल्पमात्रा वह देता है। ओषधिके विशेष लक्षणोंका मिल जाना ही होमियोपथिक चिकित्साकी कुंजी है। जिस तरह हमने रोगीकी परीक्षामें चार प्रकारके लक्षणोंकी विवेचना और उनका उपयोग दिखाया उसी तरह ओषधि-परीक्षामें भी चार प्रकारके लक्षण देखे जाते हैं जिनका संक्षिप्त विवरण ऊपर कर दिया गया है।

होमियोपथीमें भी यह विशेषता है कि चिकित्सा रोगकी नहीं की जाती। चिकित्सा रोगीकी होती है। लक्षणोंके अनु-सार एक ही ओषधि राजयक्ष्मामें, पित्तज्वरमें, विशूचिकामें, अतीसारमें और प्लेगमें दी जा सकती है, क्योंकि रोगीके लक्षण

उस विशेष ओषधिके लक्षण हैं, रोगका प्रकार चाहे और चिकित्सक जो बतावें।

रोग एक ही है

कलकत्तेके प्रसिद्ध स्वर्गीय डाकटर सरकार आदर्श होमियोपैथ थे। प्रायः एक ही दो रोगियोंको हाथमें लेते थे। उनका पूर्ण परिशीलन करते थे और एक ही ओषधि देते थे। उसीमें रोगीका काम निकल जाता था। स्वभावके बड़े उद्दण्ड और स्वतंत्र थे। किसी बड़े अमीर आदमीको देखने गये। रोगीके छोटे भाई शुश्रूषामें थे। उन्होंने चलती बेर पूछा कि आपने क्या रोग निश्चय किया। डाकटर साहब बिगड़ गये। बोले, "क्या आप डाकटर हैं?" उन्होंने नम्र भावसे कहा, "मैं डाकटर तो नहीं हूं, परन्तु रोगीके सेवककी हैसियतसे यह जाननेको उत्सुक हूं।" इसपर डाकटरने कहा, "इनको **ब्रायोनिया** हो गया है" और चलते हुए। ब्रायोनिया उस ओषधिका नाम है जिसके लक्षण उस रोगीमें पूरे मिलते थे और जो डाकटर महोदयने रोगीको खिलाया था। तात्पर्य्य यह कि होमियोपथी सिद्धान्तोंके अनुसार रोग एक ही है और वह है शरीरकी **अप्रमितावस्था**, उसके लक्षण असंख्य हो सकते हैं। समान लक्षणोंके समूहोंके नाम लोगोंने अलग अलग रख लिये हैं। परन्तु इन सामूहिक नामोंसे होमियोपथीका कोई काम नहीं चल सकता। इनसे नवसिखियोंको और अनाड़ियोंको बड़ा धोखा हो जाता है। हमने लोगोंको इस तरह कहते सुना है

कि "होमियोपथीमें कब्जकी दवा नक्सवामिका है, दस्तोंकी दवा सलफर है।" परन्तु जो इस विषयको जानता है उसके निकट यह कथन कितना प्रमादपूर्ण है, यह कहनेकी आवश्यकता ही नहीं। वस्तुतः होमियोपथीमें न तो कोई रोग किसी नामसे माना जाता है और न किसी रोगकी कोई विशेष ओषधि मानी जाती है। समान लक्षणोंवाले रोगियोंके लिये समान लक्षणोंवाली ओषधियां अवश्य हैं और व्यवहारमें आ सकती हैं, परन्तु पूरा लाभ उसी ओषधिसे होता है जिसमें विशेष लक्षण मिलते हैं। डाक्टरी हकीमी वैद्यकमें भी वही ओषधियां काममें लाते हैं परन्तु समान लक्षणोंसे ही चिकित्सा करते हैं और बड़ी बड़ी दबानेवाली मात्राएं देते हैं। यही उनकी विशेष भूलें हैं।

ओषधियोंका परस्पर सम्बन्ध

ओषधियोंके प्रयोगमें चतुर होमियोपैथ इन बातोंका भी विचार करता है कि

(१) कौन कौनसी ओषधियां समान गुणोंवाली हैं। यद्यपि ऐसी ओषधियोंका मूल भिन्न होता है, तथापि गुणोंकी समानतासे एकके पीछे दूसरी दी जा सकती हैं।

(२) कौन कौनसी दवाएं ऐसी हैं जो पीछे देनेसे पहलेकी दवाके प्रभावको पूरा करती हैं और इसलिये अवश्य दी जाती हैं।

(३) कौन ओषधियां किसकी मारक हैं, अर्थात् यदि किसी

ओषधिने कोई हानि की तो उसके दूर करनेको, पहले दी हुई ओषधिका प्रभाव मारनेको, कौनसी ओषधियां दी जा सकती हैं।

(४) कौनसी ओषधियां रोगीको पहले दी हुई ओषधिके विपरीत पड़ेंगी, अर्थात् यद्यपि गुणोंमें समान हैं तथापि देनेपर लाभके बदले हानि पहुँचावेंगी। अनेक ओषधियां ऐसी हैं जिनका प्रयोग किसी विशेष ओषधिके पीछे इसीलिये वर्जित है।

होमियोपथिक मटीरियामेडिका (ओषधिलक्षणसंग्रह) के अच्छे ग्रन्थोंमें उपर्युक्त चारों बातें भी दी रहती हैं। इनपर भी विचार करना बहुत आवश्यक है।

रोगी-परीक्षा

हानिमानने आरगेनोनमें स्पष्ट लिखा है कि चिकित्सक रोगीकी परीक्षा पूरी तौरपर करे। रोगीका हाल उससे और उसकी सेवा करनेवालोंसे नखसे शिखातक पूछकर लिख जाय, प्रत्येक बातको जगह छोड़ छोड़कर नयी पंक्तिसे लिखे, क्योंकि रोगी या और लोग सब बातें क्रमसे नहीं बताते। स्वयं क्रम-बद्ध करनेमें ही चिकित्सकको सुभीता हो सकता है। स्वयं अपने निरीक्षणसे जो कुछ अनुभव करे उसे भी अपनी बहीमें टांक ले। पूरा हाल पूछनेमें यह याद रखे कि रोगी या उसके सेवक उसके प्रश्नोंपर हां, या नहीं मात्र करके उत्तर न दें अथवा प्रश्न ऐसे न पूछे जिनसे रोगीको अट्टसट्ट सुझाये हुए

उत्तर देनेका मौका मिले। यह पूछे कि "पाखानेका क्या हाल है? पेशाबकी क्या दशा है? दिन या रातमें नींदकी क्या दशा है? रोगीका स्वभाव और बुद्धि कैसी है? प्यास कैसी है? स्वाद कैसा है? कौन सी वस्तु रोगी अधिक खाना या पीना चाहता है? किन वस्तुओंसे उसे घृणा है? स्वाद प्रत्येक वस्तुका साधारण प्रतीत होता है या असाधारण? खाने या पीनेपर जी कैसा रहता है? किस अङ्गमें क्या पीड़ा या दुःख है? पहले कब कब कौन कौन सा रोग हुआ है? कैसी चिकित्सासे, कैसे गया? किस ऋतुमें रोगी अच्छा रहता है? किस ऋतुमें उसे कष्ट होता है? उसके कुलमें क्या रोग प्रायः हुआ करते थे? उसके माता पिता या और बड़ोंको कौन कौनसे रोग मुख्यतः हुए थे? रोगीको किस तरह आराम मालूम होता है? कैसी कैसी दशामें उसका कष्ट बढ़ता है? इत्यादि, इत्यादि।" परन्तु ऐसे प्रश्न न करे कि "नींद आती है या नहीं, प्यास कम है या अधिक, स्वाद कड़वा है या मीठा, खानेपर दुःख बढ़ता है या नहीं? इत्यादि।" ऐसे प्रश्नोंसे उत्तर देनेवालेको इशारा हो जाता है कि वह या तो इसी प्रकारका उत्तर दे अथवा हां, या नहीं भर कह दे। इस प्रकार रोगीका सच्चा हाल नहीं मिलता और उपचार भ्रष्ट हो जाता है। बहुत से रोगियोंको यह सनक होती है कि अपना कष्ट यदि अत्युक्तिके साथ कहूंगा तो तेज दवा मिलेगी जिससे तुरन्त लाभ होगा।

चिकित्सकको चाहिये कि ऐसे रोगी स्वोपचारियोंकी अतिशयोक्तिका चतुराईसे पता लगावे। अत्युक्ति स्वयं विशेष मानसिक लक्षण है, और रोगीकी बौद्धिक अवस्थाका पता देती है, परन्तु उसका विवेचन सरल नहीं है। उसकी ठीक विवेचना न होनेसे ठीक ओषधिका चुनाव असंभव हो जायगा। हानिमान कहता है "जब कहनेवाले सब हाल कह चुकें तब चिकित्सकको चाहिये कि विशेष लक्षणोंको दुहरा जाय और जिन बातोंपर वह विशिष्ट प्रश्न करना चाहे और ठीक ठीक बात जानना चाहे, पूछे, एक एक करके उन लक्षणोंको उसी तरह कहे जिस तरह उससे वर्णन किये गये हैं, और उनके सम्बन्धमें विशेषतया यों पूछे, जैसे अमुक लक्षण किस समय प्रकट हुआ था, जो दवा ली जा रही है उसके लेनेके पहले या लेनेके समयमें ही, या उस दवाके छोड़नेके कुछ दिनों पीछे, किस तरहकी पीड़ा थी, ठीक ठीक किस तरहका कष्ट प्रतीत होता था, ठीक ठीक किस जगह कष्ट था, पीड़ा रह रहके समानान्तर समयपर स्वयं होती थी, और भिन्न समयोंपर होती थी, या बराबर बिना थमे होती थी, कितनी देरतक रहती थी, दिनमें या रातमें कब किस अङ्गमें पीड़ा बढ़ी थी या रुक गयी थी, अमुकामुक लक्षण जो बताये गये थे, या दशाएं जो कही गयी थीं, उनकी ठीक ठीक स्थिति क्या थी?" * आजकल होमियोपैथ क्वचित ही बैठकर लिखता है और हानिमानके

* Organon, 86.

नियमोंका शायद ही कोई पूर्णतः पालन करता है। उनके नियम पालनेमें यद्यपि समय और श्रम अधिक लगता है तथापि कोई इस बातसे इनकार नहीं कर सकता कि यदि व्यवहारमें लाये जायँ तो उसके उपदेशके अक्षर अक्षर चिकित्सकको अधिकाधिक उपयोगी और उपकारी बनाते हैं। परिश्रम और मनोयोगसे परिशीलन करके चिकित्सा करनेमें होमियोपथीकी ओषधियां सचमुच रामबाणका काम करती हैं और इस पद्धतिकी चिकित्साका अनुपम चमत्कार दिखाती हैं, यह अनुभव इस पुस्तकके लेखकको बारम्बार हुआ है और उसका विश्वास है कि हानिमानकी उपर्युक्त विधिको बरतनेके लिये प्रत्येक होमियो चिकित्सकको चाहिये कि अपने पास लम्बे पृष्ठोंवाली एक पोथी रखे जिसके बाएं दहने पृष्ठोंपर अङ्क अङ्कके सिरनामे देकर स्थान छूटा हुआ रहे। नमूनेके दो पृष्ठ—दहने बाएं हम आगे उदाहरणकी भांति देते हैं।

संख्या ... ...

रोगीका नाम ... ...

वयस ... ...

... ...

मानसिक अवस्था ... ...

... ...

... ...

सिर ... ...

... ...

पूर्व इतिहास ... ...

... ...

... ...

विशेषता ... ...

... ...

दवाका नाम और तिथि ... ...

... ...

... ...

... ...

लक्षणोंके शमन या उभारकी दशामें भी उसे इसी वहीपर जगह जगह समय और तारीख देकर परिवर्त्तनपर टिप्पणी टांक लेनी चाहिये जिसमें चिकित्साकी प्रगतिकी ठीक अटकल होती रहे। ऐसी वही विहित रीतिसे चिकित्सक रखे तो रोगी-को लाभ हो, चिकित्सकका अपना अनुभव बढ़े और होमियो-पथी शास्त्रकी भी उन्नति हो।

किसी और चिकित्साविधिमें लक्षणोंपर इतना ध्यान नहीं देते। होमियोपथी चिकित्सामें जितना ही अधिक लक्षणोंके विस्तारपर विचार करते हैं उतनी ही अधिक ठीक ओषधिके विवेचनमें सहायता मिलती है। इतना जान लेना पर्य्याप्त नहीं हैं कि कब्ज है या नहीं है। "कितनी बार जाना पड़ता है, कैसा होता है, मलके साथ श्वेत वस्तु क्या आवँ थी या मल? विस-र्जनमें पीड़ा होती है? कैसी होती है? किस जगह?" इत्यादि

बिना जाने औषधिकी विवेचना नहीं होती। "वमन कैसा हुआ? क्या हुआ? मुँहका स्वाद कड़ुवा, खट्टा, नमकीन, कसैला, मीठा, फीका कैसा है? खानेसे पहले, खाते समय, पीछे कैसा रहता है? दिन या रातमें कब खराब रहता है? डकार कैसी आती है? मूत्र होते समय ही गन्दा रहता है या होनेके कुछ देर पीछे गन्दा होता है? होते समय रंग? पीछेसे उसकी दशा? जो नीचे बैठ जाता है कैसा दीखता है? सोनेमें क्या दशा होती है? रोगी कुछ बकता है? कांखता है? बातें करता है? चीखता है? चौंकता है? खुर्राटे लेता है तो सांस खींचनेमें या छोड़नेमें? साधारणतया किस बल लेटता है? कपड़ा खूब ढकता है या सह नहीं सकता? गहरी नींद होती है या सहज ही जाग जाता है? लेटनेमें, अमुक बलसे पड़े रहनेमें, उठती बेर, खड़े रहनेमें, चलनेमें, रुक जानेमें, गति या स्थितिकी किस किस दशामें कौन कौनसे लक्षण घटते या बढ़ते हैं? जाड़ा कब आया था? उस समय कौन अंग ठंढा था कौन गरम? कब उतरा? केवल झुरझुरी थी या वास्तविक शीत था? कपकपी थी या केवल ठंढक? यदि शरीर गरम था तो चेहरा लाल था या नहीं? गरमी थी तो केवल रोगीको प्रतीत होती थी या शरीरमें सर्वत्र या किसी विशेष अंगमें गरमी थी? जाड़ा या गरमी कितनी देरतक थी? प्यास कब लगी थी, जाड़ेके समय या ज्वरमें? पहले या पीछे? कितनी थी? रोगी ठंढा जल मांगता था या गरम? थोड़ा थोड़ा पीता था या

खींचकर ? पसीना कब आया था ? शीत या ज्वरके पहले समयमें या पीछे, ठंढा था या गरम, उस समय रोगी जागता था या सोता ? किस अंगपर स्वेद था ? गन्ध ? शीत या ज्वर-के समयमें, आगे, पीछे, क्या क्या कष्ट हुए ?" इत्यादि इत्यादि सैकड़ों तरहके प्रश्न करके चिकित्सक विशेष लक्षण लिख ले तो "रोगलक्षणसंग्रह" ग्रन्थोंसे ठीक और उपयुक्त ओषधिका पता लगनेमें बड़ी सहायता मिलती है।

ओषधि और रोगका एकीकरण

हमने जो कुछ इस प्रकरणमें ऊपर लिखा है उससे यह स्पष्ट हो चुका है कि इस चिकित्सामें **रोग-लक्षण** और **ओषधि-लक्षण** का एक प्रकारसे समीकरण ही नहीं, प्रत्युत एकीकरण ही "चिकित्सा"का लक्ष्य होता है। एकीकरण जितना ही स्पष्ट और पूर्ण होता है चिकित्सा उतनी ही सफल और उत्तम होती है। होमियोपथीमें इन दोनों विषयोंपर भारी भारी ग्रंथ हैं। ऊपरकी बतायी रीतियोंसे जब आपने अपनी रोगी-वहीमें रोगलक्षणसंग्रह कर लिया, तब **रोगलक्षणसंग्रह*** के उत्तमसे उत्तम ग्रंथ लेकर रोगीके "स्वभाव"के अनुकूल ओषधियोंकी सूची बनाइये। अब अत्यन्त विशेष लक्षणसे मिलनेवाली ओषधियोंकी सूची देखिये। जो ओषधि इन दोनों सूचियोंमें मिल जायँ उन्हींको रहने दीजिये, शेषको काट दीजिये। अब आपकी सूची कुछ छोटी हो गयी। अब और लक्षणोंपर संग्रहमें

* Repertory

ओषधिसूची देखिये। आपकी सूचीमें जो ओषधियां हैं उन-मेंसे जिन जिन ओषधियोंके नाम और सूचियोंमें आते जायँ उन-परएक एक चिह्न करते जाइये। अंतमें आप देखेंगे कि किसी ओषधिको दस चिह्न मिले, किसीको नव, किसीको आठ इत्यादि। जिन ओषधियोंको सबसे अधिक नम्बर मिले हों, अब उनका विवरण **ओषधिलक्षणसंग्रह*** में ध्यानसे पढ़िये। आपके रोगीके विशेष लक्षणोंका सबसे अच्छा प्रतिबिम्ब जो ओषधि हो वही रोगीको दीजिये। जो ओषधि आप दे रहे हैं उसके अनुकूल या प्रतिकूल क्या क्या क्रिया होगी, पथ्यापथ्य क्या होगा, यह उस ओषधिके लक्षणोंसे आपको ज्ञात ही है। तदनुसार रोगीको आदेश दीजिये।

इस तरहकी चिकित्सामें रोगीका पूर्ववृत्त और स्वभावको अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है। हमने रोग-मीमांसावाले अध्यायमें वात पित्त कफ तीन प्रकारके स्वभावका विवेचन दिखाया है। होमियोपथीमें इन तीनोंके सिवा स्वभावोंके और भी विभाग किये गये हैं। यद्यपि इन विभागोंका भी त्रिदोषमें अन्तर्भाव हो जाता है तथापि इनके अलग अलग विवे-चनमें चिकित्सकको बड़ी सहायता मिलती है।

रोगीका प्रकृति-विभाग

रक्त स्वभाववालेकी नाड़ी तेज चलती है, चेहरा और त्वचा लाल रंगकी होती है। फुर्तीले, प्रसन्न रहनेवाले, और स्वस्थ

* Materia Medica.

होते हैं। अगर कभी रुग्ण हुए तो वचना कठिन हो जाता है। सूजन, व्रण, रक्तस्राव, वाई आदिके कष्ट अधिक होते हैं। पित्त स्वभाववालेके यकृत और शिराओंकी क्रियामें अधिक वेग होता है, रंग पीला, शरीर दुवला पतला होता है। स्वभाव चिड़चिड़ा और हठी होता है। अंतड़ी और पाचनकी क्रिया अच्छी नहीं होती। वहुधा कब्ज और ववासीरकी शिकायत रहा करती है। वात-स्वभाववालेके दिमाग और नाड़ी-मंडलका वेग अधिक होता है, मध्यम कोटिके वलवान और स्वस्थ होते हैं, चुस्त चालाक, मेधावी, ज्ञानेन्द्रियां तीव्र होती हैं, नाड़ी-मंडलकी व्यथासे वहुधा पीड़ित रहते हैं। इनका मांस नरम, दिल छोटा और दुर्वल होता है। स्वभावसे यह सच्चे होते हैं। रक्तस्रावका वेग कम, रग पुट्ठे ढीलेढाले होते हैं। इसी प्रकार कफ प्रकृतिके मनुष्योंके शरीरमें स्थूलता होती है और प्रायः कफके रोगोंमें फँसे रहते हैं।

होमियोपथीमें पांच और विभाग प्रकृतिके लिये हैं। (१) कंडु (२) अपस्मार (३) ग्रन्थि (४) रक्तस्राव और (५) क्षय। कंडुप्रकृतिवालेकी त्वचा खुरखुरी होती है, शरीर दुवला पतला, पाचन और दूसरी क्रियाएं तीव्र होती हैं, और शरीरका ताप साधारणतया कुछ अधिक रहता है। अपस्मार-प्रकृतिवाले डरपोक होते हैं, उनके शरीरकी सभी क्रियाएं अविहित रहती हैं। ग्रन्थिप्रकृतिवालोंके गांठोंका रोग अधिक होता है, यद्यपि शरीर पुष्ट जान पड़ता है, मांसपेशियां दुर्वल होती हैं,

वाई गठिया आदिसे पीड़ित रहते हैं। रक्तस्रावववालोंके बचपनमें कांच निकल आया करती है, रक्त बहुत जाया करता है, सर्दी जुकामका प्रभाव बहुत पड़ता है, अँतड़ियां ठीक काम नहीं करतीं। क्षयप्रकृतिवाले दुबले होते हैं, रक्तस्राव और शरीरकी वृद्धि बहुत सुस्त होती है, त्वचा बहुत क्षीण और पतली, गालों और कंधोंकी हड्डियां उभरी हुई, और अँगुलियोंके सिरे नुकीले होते हैं।

त्रिविध विष

जीर्ण रोगोंकी मीमांसा भी हानिमानकी बड़े महत्वकी है। अपने दीर्घकालका अनुभव हानिमानने "जीर्ण रोग" नामक ग्रन्थरत्नमें संकलित किया है। उसने जीर्ण रोग उत्पन्न करनेवाले विषोंके तीन विभाग किये—(१) उपदंशके विष (२) कंडूके विष और (३) मस्सोंके विष। उपदंशके विषसे बद गोश्त आदि उपद्रव होते हैं, जिनको प्रायः सभी वैद्य जानते हैं और इस विषको सर्वसम्मति अनेक जीर्ण रोगोंका प्रधान कारण मानती है। कंडूके विषके बाहरी रूप चर्मरोग हैं जिनमें खुजली होती है। इस विषके प्रभावसे मानसिक दुर्बलता, योनिरोग, सनक, उन्माद, मिरगी, गठिया, बवासीर, कांवर, जलन्धर, नपुंसकत्व, बांझपन आदि रोग और हजारों तरहकी पीड़ाएं होती हैं। मस्सोंके विषसे शरीरमें आर्द्रताका बाहुल्य, रक्त-दोष एक और श्वासयंत्र और गांठोंके रोग उत्पन्न होते हैं। अंग्रेजीमें कंडू विषको सोरा और मस्सोंके विषको साइकोसिस कहते

हैं। इन विषोंको दूर करनेका उपाय हानिमानकी रायमें होमियोपथी चिकित्साके सिवा दूसरा है ही नहीं। उसने विषोंके शमनके विचारसे समस्त ओषधियोंके तीन विभाग किये। इनमेंसे अनेक ओषधियां ऐसी हैं जो तीनों विषोंका शमन करती हैं। रोगीके शरीरमें एक दो या तीनों विषोंके विकार हो सकते हैं। जब चिकित्सकको रोगीके पूर्व इतिहास और जांचसे पता लग जाय कि जीर्ण रोगका प्रधान कारण अमुक प्रकारका विष है, तो उसका काम है कि उस विषको शमन करनेवाली ओषधियोंकी तालिकामेंसे ही विशिष्ट लक्षणोंवाली ओषधियां चुने। ओषधियोंके चुनावमें जीर्ण रोगके लिये तो यह त्रिविध विभाग इतने महत्वका है कि इसपर जितना जोर दिया जाय थोड़ा है।

जीर्ण रोग चिकित्सा

जब हमने विषके विचारसे समान लक्षणोंवाली ओषधियोंकी तालिका बना ली तब हम रोगीकी प्रकृतिपर भी विचार करेंगे। उसकी प्रकृतिके प्रतिकूल जितनी ओषधियां इस तालिकामें मिलें उन्हें तो काट ही देना पड़ेगा। इस प्रकार चिकित्सकने एक सूची बना ली जिसमें रोगीकी प्रकृतिके अनुकूल उसके विषको शमन करनेवाली समान लक्षणोंवाली प्रायः सभी मुख्य ओषधियां आ गयीं। इस तालिकाकी दवाओंमें रोगीके विशेष लक्षणोंको खोजे। विशिष्ट लक्षणोंको शमन करनेवाली ओषधियोंकी तालिका छोटी होगी। और और लक्षण उनमेंसे जिस ओषधिमें सबसे अधिक मिलें वही उस रोगीकी

दवा है। जीर्ण रोगोंमें तो यही विधि पक्की है। जीर्ण रोगोंकी चिकित्सा इसी प्रकार हो सकती है। नवीन उग्र रोगोंकी चिकित्सामें तो समान लक्षणोंवाली कोई ओषधि दे देनेसे काम चल जाता है, क्योंकि, जैसा हम कह आये हैं, उग्र लक्षण या उभार तो प्रकृतिकी ओरसे शरीरके शोधनेका प्रयत्न है, यदि अत्यल्प मात्रामें कोई ओषधि सहायता करनेको पहुँच गयी तो अच्छी बात है, न पहुँची तो भी अवश्य ही विषके शमनके उपरान्त या स्वास्थ्य-संकट बीतनेपर रोगी चंगा हो जाता है। अन्तिम शरीरान्तक उभारमें तो कोई ओषधि काम कर ही नहीं सकती। जीर्ण रोगोंकी कथा न्यारी है। यदि उनका विष थोड़ा रह गया है तो ठीक ओषधि पहुँचकर उसका शमन कर देती है और यदि विष अधिक है तो ओषधि उग्रता या उभारकी ओर प्रवृत्त करेगी, उन सब रोगोंकी कथा दुहरायी जायगी जिनके दबाते दबाते जीर्णताकी दशा उपस्थित हुई है और अंतमें जब रोगीका शरीर पूर्ण शुद्ध हो जायगा तभी वह स्वस्थ होगा। चिकित्सकको स्वयं जीर्ण रोगोंकी चिकित्सामें ही अनुभवका लाभ है और यश भी मिलता है। उग्र रोगोंमें यश और धन भले ही मिले पर चिकित्सकको न तो अनुभवका लाभ होता है और न मनको सन्तोष होता है, क्योंकि उग्रता या उभार तो वस्तुतः कोई रोग नहीं है, बल्कि स्वभावकी ओरसे एक प्रकारकी चिकित्सा है। रोग तो जीर्ण-रोग ही हैं, जिनकी चर्चा हम रोगमीमांसामें कर आये हैं।

ओषधिके चुननेमें यह ध्यान भी रखना उचित है कि जो ओषधि इनमें दी है उसकी विशिष्ट प्रकृति क्या है, उसकी विशिष्ट प्रकृतिसे और रोगीकी अवस्थासे अनुकूलता है या नहीं? पथ्यापथ्य-विवेक भी इस उपचारमें अनिवार्य्य है। मादक द्रव्य, उग्र स्वादके पदार्थ, उग्र गंधकी वस्तुएं, ओषधि-गुण रखनेवाली सभी चीजें, वर्जित हैं। जिन जिन पदार्थोंके सेवन-से कष्ट बढ़ जाता है, अथवा किसी विशेष ओषधिके सेवन करते हुए जिन वस्तुओंसे कष्ट बढ़नेकी संभावना है, वह सब वर्जित हैं। ओषधिसेवनके घंटाभर आगे पीछे भोजन वर्जित है। एक ही ओषधिका बारंबार देते जाना वर्जित है। अत्यन्त उग्र दशामें ओषधिकी शक्ति बदलकर जल्दी जल्दी देते भी हैं परन्तु जीर्ण रोगोंमें तो साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक आदि मात्राएं चलती हैं। रोगीकी तुष्टिके लिये और उसके मानसिक बलसे वास्तविक ओषधिको बल पहुंचानेके लिये उसे बारंबार सादा जल, या दुग्धशर्करा मिश्रित जल, ओषधिके नामसे देनेका दस्तूर स्वयं हानिमानका निकाला हुआ है। इससे रोगीके मनमें धैर्य्य रहता है और ओषधि अपना काम निर्विघ्न करने पाती है। ओषधि देनेके बाद उग्र दशा आवे तो उस दशाकी विद्यमानतामें अथवा आरंभमें ओषधि देकर प्रकृतिकी क्रियासे व्यर्थ छेड़छाड़ न करे। इन सब बातोंका और इनसे कहीं अधिक विषयोंका अच्छा परिशीलन हानिमानके Organon आर्गेनोनसे करना ही चाहिये*। इस ग्रंथमें

*साम्योपचार-विज्ञान अर्थात् होमियोपथीके विज्ञानका सर्वोत्तम विधानग्रंथ

होमियोपथीके केवल मुख्य ही सिद्धान्तोंका हमने दिग्दर्शन कराया है। वह भी इसी विचारसे कि सर्वसाधारणमें ऐसे लोग जो दो एक छोटी पुस्तक और दो तीन दर्जन ओषधियोंका एक बक्स लेकर सहज ही होमियोपैथ बन जाते हैं, उनके अनेक भ्रम दूर हों और गंभीर एवं विस्तृत परिशीलनकी कुछ महत्ता और इयत्ताका पता लगे।

ओषधि-निर्म्माण

ओषधि-निर्म्माणपर विना कुछ कहे हम इस प्रकरणको समाप्त नहीं कर सकते। होमियो-ओषधियाँ अमेरिकासे ही आती हैं। उनकी तय्यारीका पूरा प्रबन्ध वहांके बहुत भारी कारखानोंमें ही हो सकता है, यह बात नहीं है। हमारे देशमें धन लगा-कर इसका रोजगार करनेवाले अभी नहीं पैदा हुए। इसका प्रचार अब कुछ हो चला है। परायी सरकारका आश्रय भी इसे नहीं मिला है। परन्तु ओषधि-निर्म्माण कठिन नहीं है। समयसाध्य और श्रमसाध्य अवश्य है। होमियो-ओषधियोंकी संख्या सहस्रतक पहुँच चुकी होगी। हमारे देशकी ओषधियां तेरह सौसे कम नहीं हैं। उद्भिज्जोंके पांचों अंगोंसे होमियो-डाकटर भी ओषधि बनाता है। पहले मदर-टिंक्चर अर्थात् मूलारिष्ट तय्यार करता है। ओषधिके उचित अंगको उचित मात्राका या तो हलके मद्यसारमें घोल बनाते हैं अथवा यदि घोल नहीं बन सकता तो दुग्धशर्कराके साथ खरल करते

हानिमानका आर्गेनोन है। बंगलामें इसका अनुवाद प्रकाशित हो चुका है।

हैं। उद्देश्य यह है कि पूर्ण संपृक्त मिश्रण बन जाय। घोल-को एक बूंद या मिश्रणकी आधी रत्ती हलके मद्यसारके नव बूंदके साथ मिलाकर या दुग्धशर्कराकी साढ़े चार रत्तीसे मिलाकर फिर पूर्ण संपृक्त मिश्रण बनाते हैं। मद्यसारके मिश्रणको खूब हिलाते हैं। खरल बड़े मनोयोगसे करते हैं। यह मिश्रण एक दशमांश कहलाता है। इसके दशमांशको नव भाग घोलक या मिश्रकमें फिर उसी क्रियासे मिलाकर "दो दशमांश" घोल बनाते हैं। इसी विधिसे ६,१२, ३० आदि दशमांश घोल तय्यार करते हैं। हानिमान एक अंशमें घोलक या मिश्रकके ९९ अंश मिलाकर शतांश घोल बनाता था। ऊंचे नम्बरके घोल उसीकी विधिसे बनते हैं। दशमांशको "एक्स" से सूचित करते हैं। शतांशके लिये कोई चिह्न प्रायः नहीं लिखते। लेखककी रायमें हमारे वैद्योंको चाहिये कि अपनी ओषधियोंकी परीक्षा इस प्रकार अल्पमात्रा बनाकर करें और होमियो-चिकित्साको सर्वथैव भारतीय बना दें। होमियो-ओष-धियोंमें सैकड़ों भारतीय ओषधियोंका भी प्रयोग होता है। परन्तु हमें अपना ही ओषधिलक्षणसंग्रह और रोगलक्षण-संग्रह तय्यार करना पड़ेगा।

हमारे वैद्योंके लिये यह भी आवश्यक न होगा कि आरंभमें ठीक उसी विधिसे मूलारिष्ट बनाकर मात्राओंके अल्पांश करें। वह चाहें तो जहां किसी ओषधिकी एक बूंद दिया करते थे वहां उसका शतांश देकर फल देखें। शुद्ध जलमें एक बूंद

टपकाकर खूब हिलानेसे अच्छा मिश्रण बन जाता है। एक छटांक या पांच तोले जलमें लगभग एक हजार बूंदें होती हैं। एक छटांकमेंसे छोटे चमचेमें लेकर एक मात्रा दें तो लगभग मूल ओषधिकी एक बूंदका विंशांश हो जायगा। हमने यह हिसाब सहज ही अटकल कर लेनेके लिये दिया है। बहुतोंका यह विचार है कि अंशोंकी अल्पता या महत्ताका विशेष प्रभाव नहीं होता, परन्तु लेखकका अपना अनुभव है कि मात्राको बढ़ाने घटानेका बहुत ही स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। एक ही होमियो-ओषधिकी एक बूंदके उपर्य्युक्त प्रकारसे दशांश विंशांश करके देनेसे रोगीके लक्षणोंमें स्पष्ट अन्तर देखा गया है। होमियोपथिक इलाज अत्यन्त सूक्ष्म है, अबतक सैकड़ों ओषधियां प्रमाणित होनेको पड़ी हैं, सैकड़ोंका नित्य नया अनुभव होता जा रहा है। चिकित्सककी निरीक्षण और परीक्षण-शक्ति जितनी ही अच्छी होगी उतना ही वह चिकित्सापटु होगा। इसके साथ ही उसकी निरीक्षणस्मृति और पाठस्मृति भी तीव्र चाहिये कि रोगलक्षणोंके देखते ही ओषधिलक्षण उसकी निगाहतले फिरने लगें। लेखकका अनुभव है कि होशियार होमियोपैथ अपनी इन दोनों शक्तियोंके सहारे सोचकर झटपट उसी ठीक ओषधिपर पहुँच जाता है, जिसे इन दोनों शक्तियोंसे काम न लेनेवाला चार चार घंटे कितावोंके पन्ने उलटकर कहीं निश्चय कर पाता है। परन्तु ऐसे पटु चिकित्सकको उचित है कि अपने इस प्रकारके निर्णयकी भी पूरी जांच करे और करता रहे।

ओषधि-निर्म्माणमें घोलककी शुद्धताका बहुत बड़ा महत्व है। इस कामके लिये स्रुत जल, शुद्ध मद्यसार और शुद्ध दुग्ध-शर्करा बहुत आवश्यक है। जितने पात्र काममें लाये जायँ विशुद्ध हों। जिस स्थानमें यह काम हो वह भी शुद्ध हो, वायुमें किसी प्रकारकी बास न हो, गंधयुक्त कोई द्रव्य पास न हो। काग नया काममें लावे या शुद्ध कागजका बनाकर लगावे। इसी लिये कागपर ओषधिका नाम लिख रखना अधिक लाभदायक है। शीशियोंपर काग कसा रहे। ढीला रखनेसे ओषधिमें वायव्य विकार घुल जाते हैं। ओषधि-के विभाग करनेको और देनेयोग्य मात्रामें स्थायी रखनेको दुग्धशर्कराकी गोलियां बनती हैं, मद्यसारके घोलकी बूंदोंसे तर कर ली जाती हैं। जो दवा जलमें बनती है उससे नहीं तर करते, नहीं तो शर्करा घुल जायगी। आजकल जिसे दुग्ध-शर्करा कहते हैं वह भी एक प्रकारके नरकुलसे निकाली जाती है। उसका प्रकार केवल दुग्धशर्कराका है। इन घोलकोंका स्वतः ओषधिप्रभाव नहीं है, इसीलिये यह घोलक ठहराये गये हैं। घोलके द्वारा ही सहजमें किसी ओषधिका अल्पसे अल्प अंश बन सकता है। कोई कहे कि आधी रत्ती नमकके दस लाख बराबर टुकड़े करके हमें दो, तो न तो साधारणतया कोई रत्तीका बीस लाखवां अंश अलगा सकेगा और न कोई उतने अंशको देख या निश्चियपूर्वक ले सकेगा। परन्तु घोल करके विभाजन अत्यन्त सरल विधि है। आधी रत्ती नमक

एक छटाक स्नुतजलमें हिला हिलाकर खूब मिलाया। पूर्ण घोल हो जानेपर इसकी एक बूंद सहस्रांश हुई। इससे एक बूंद लेकर फिर एक छटाक शुद्ध स्नुतजलमें मिलाकर खूब हिलाया और पूर्ण घोल कर दिया। इसकी एक एक बूंद आधी रत्ती नमकके दश लक्षांशका घोल हुई। अब इसकी हर बूंदमें उस आधी रत्ती नमकका प्रायः दस लाखवां अंश मौजूद है। हाथ स्नुतजलसे धोकर सुखा लीजिये और उसपर एक बूंद यही घोल रखिये और अपने आप सूख जाने दीजिये। नमक उड़ जानेवाली चीज नहीं। जलके उड़ जानेपर आपकी हथेलीपर नमककी एक रत्तीका बीस लाखवां अंश रखा हुआ है, चाहे आप उसे देख न सकें, इंद्रियोंसे अनुभव न कर सकें। ऐसी दशामें नमकके अवयव बहुत दूर दूर होंगे और प्रायः मौलिक दशामें होंगे जिसमें उनका वेग, उनकी गति, उनकी शक्ति बिल्कुल अबाध होगी, वह अपना पूर्ण और शुद्ध प्रभाव अपनी परिस्थितिपर डाल सकेंगे, इस बातका आधुनिक तड़ित विज्ञान गवाह है। यहां इस सम्बन्धमें इससे अधिक विस्तार करना ग्रंथके उद्देश्यसे बाहर है। जो इस विषयका गभीर ज्ञान सम्पादन करना चाहें तत्तद्विषयक विज्ञानका स्वतंत्र अनुशीलन अवश्य करें।

(४) जल-चिकित्सा

उपचार-संगति

हमने होमियोपथीको प्राकृत चिकित्सामें स्थान दिया है। होमियोपथीके अनुयायी भी उसे प्राकृतिक एवं वैज्ञानिक चिकित्सा कहते हैं। परन्तु होमियोपैथ और किसी प्रकारके उपचारका अपनी विधिमें समावेश नहीं करता। वह सारे काम ओषधिके बलसे ही निकालता है। उसकी विधिमें बाह्योपचार प्रायः अनिश्चित, दबानेवाला एवं भयानक है और इसमें सन्देह नहीं कि ठीक तरहसे न समझा हुआ और उचित रीतिसे न बरता हुआ बाह्योपचार सचमुच ऐसा ही होता है। स्वाभाविक उपचारके नामपर चाहे जिस प्रकारसे वायु, जल, ताप और मिट्टीका सेवन लाभकारी नहीं होता। यदि सभी दशाओंमें किसी तरह भी इनका सेवन लाभकारी ही हो, तो किसी विशेष विधिके चलानेकी कोई बात ही न रह जाय। इसीलिये प्राकृतोपचारी होमियोपथीकी विधिसे चिकित्सा करते हुए ऐसी स्वाभाविक विधियोंसे बाह्योपचार बरतता है जो होमियोपथी चिकित्साके प्रतिकूल नहीं पड़ता। जैसे उसने कोई ओषधि दी है जिसका प्रभाव है कि जलके अधिक सेवनसे या गरमीसे कष्ट बढ़े तो ऐसी दशामें स्वाभाविक उपचारद्वारा विहित भफारा लेना निषिद्ध होगा। यदि ओषधिका प्रभाव है कि जल

और तापसे कष्ट घटे तो चतुर प्राकृतोपचारी भफारा देकर लाभ पहुँचावेगा। चतुर होमियोपैथ ऐसे ही स्वाभाविक उपचारोंसे सहायता लेता है और ओषधियोंको इस क्रियासे बाधा पहुँचनेके बदले लाभ ही होता है। होमियोपथीसे और उपचारोंकी किसी प्रकारकी असंगति नहीं है, प्रत्युत यदि पथ्याहार, अनाहार, काष्ठौषधि, वायुसेवन, औषधोपचारादि (होमियोपथी जिसके अन्तर्भूत है) आभ्यन्तरिक चिकित्सा है वैसे ही मर्दन, व्यायाम, मृत्तिका, जल, वायु आदिका बाहरी उपयोग बाहरी चिकित्सा है। व्यवहारमें मनुष्यका जिन जिन उपायोंसे सबसे अधिक लाभ हो, संगतिके विचारसे उन सभी उपायोंको बरतना उसका परम कर्त्तव्य है।

हम हालके अनेक प्राकृत चिकित्सकोंकी चर्चा अन्यत्र कर आये हैं। प्रेसनीट्सके अनुयायियोंमें जलचिकत्सक प्रायः सभी हुए हैं। क्नैप, युष्ट आदि चिकित्सक भिन्न भिन्न विधियोंके साथ साथ अपनी अपनी स्नानकी रीतियां विविध बता गये हैं। लेखकको स्वयं इन विविध रीतियोंका कुछ अनुभव है। प्रत्येकसे भिन्न भिन्न दशाओंमें लाभ अवश्य होता है। स्नान किसी विधिका हो अवश्य ही लाभकारी होता है। आयुर्वेदमें अनेक स्नानोंकी चर्चा है, बड़ी विस्तृत विधियां हैं। हमारे देशवासियोंके निकट स्नान यद्यपि नित्यकी साधारण बात है तथापि रोगीके विविध प्रकारके स्नानोंसे यहांकी देशी चिकित्सा-प्रणाली भरी पड़ी है। युरोपकी चिकित्सा-पद्धतिमें उसकी बहुत थोड़ी चर्चा

है। और साधारण युरोपियन मनुष्य तो नहाना जानता ही नहीं। पाश्चात्य देशीयोंका शौचाचार अत्यन्त गिरा हुआ है। वहांका शीत स्नानकी साधारण क्रियामें जो बाधक है, वह तो है ही किन्तु शरीरकी साधारण स्वच्छताका विचार सदैव वसनावृत रहनेसे कुछ ढीला हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। यही बात है कि वहां स्नान करनेकी हमारी साधारण विधि भी प्राकृतोपचारका स्थान ग्रहण कर लेती है। सच पूछिये तो वहांके अत्यन्त अस्वाभाविक जीवनसे ही उकताकर प्रैसनीट्स और उसके अनुयायियोंने स्वाभाविक जीवनके नियमोंके बरते जानेपर इतना जोर दिया। इन ग्रंथकारोंके ग्रन्थके ग्रन्थ पढ़ जाइये, आपको नयी बात तो कम मालूम होगी, निश्चय यह हो जायगा कि हम भारतीयोंका प्राचीन जीवन ही स्वाभाविक जीवन था जिसकी वकालत आज पाश्चात्य प्राकृतोपचारी कर रहे हैं। युष्टने अपनी पोथी "रिटर्न टु नेचर" में* एक स्थलपर अपनी सारी शिक्षाका निचोड़ यों दिया है—

"जो हो, इसपर ध्यान रहे कि स्वच्छ ताजी हवा मिले, मिट्टीका लेप बांधो, प्रकाश और वायुके स्नान करो, जलके स्नान करो, शरीरका मर्दन कराते रहो, जबतक कड़कड़ाकर अच्छी भूख न लगे भोजनका त्याग रखो, और खाओ तो भरसक गदरे

* Return to Nature by Adolph Just, third English edition, para 3, p. 225, published by B. Lust, 124 East 59th Street, New York, U.S.A.

फलोंपर ही निर्भर करो, विशेषकर खुलेमें रहो, नंगे पैरों गुजर करो, और सामर्थ्यभर धरतीकी शक्तिसे काम लो।"

ऊपरके अवतरणमें गदरे फलोंके सेवनको छोड़ शेष सभी बातें हमारे ग्रामीण जीवनका चित्र हैं। दरिद्र भारतवासियोंका नग्न शरीर बराबर प्रकाश, ताप और वायुसे स्नान करता रहता है। उनका जीवन स्वाभाविक है। भारतवर्षमें नागरिकोंकी संख्या थोड़ी है जिनके लिये कुहूकी विधिमें चिकित्सोपचारका कोई गुण हो सकता है। जो स्वभावसे ही निरन्तर कुहूके आदर्शपर चलते हैं वह जब बीमार पड़ते तब उन्हें विशेष उप चार बिना रोगमुक्त नहीं किया जा सकता।

जलके गुण

जलका एक नाम जीवन है और यह कितना सच्चा नाम है इस बातकी गवाही नित्य वर्द्धमान विज्ञान दे रहा है। वेद, पुराण और नव्य विज्ञान सभी पार्थिव सृष्टिका, सांसारिक जीवनका, आरंभ इसी जलसे बतलाते हैं। इसी जलमें हमारा सम्पूर्ण जीवन स्थित है। विना जलके हम जी नहीं सकते। जैसे मछलियां द्रवजलमें रहती हैं, हम भी वायव्य-जलमें, वाष्पमें जीते हैं। आती जाती सांस इस वाष्पको लाती निकालती रहती है। वायुमंडल वस्तुतः वाष्प-मंडल है। थोड़ी देरके लिये यदि जलका अंश वायुसे खिंच जाय, यदि जीवनकी पूर्ण परिस्थिति बाह्याभ्यन्तर जल-शून्य हो जाय, तो यह भूमंडल भी जीव-शून्य हो जाय। प्रायः सभी रासायनिक क्रियाएं

जलके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंशकी विद्यमानतापर अवलम्बित हैं। अम्लमें अम्लत्व और क्षारमें क्षारत्व इसी जलके रहनेसे है। साधारण दशामें जल स्वयं तटस्थ है, परन्तु यह तटस्थ शक्ति और रासायनिक क्रियाओंके लिये अपरिमेय है। पार्थिव जीवन-मात्रमें जल व्यापक है। जल विष्णु है। ब्रह्माने सृष्टि रची। विष्णुने उसकी रक्षा की और उसे जीवदान दिया। भगवान् धन्वन्तरि होकर इसी जलसे प्रकट हुए, जलज अमृत, हरीतकी और जोंक लाये। अमृत ओषधिमात्र है, जल ही है, जो क्षति-पूर्त्ति करता है। हरीतकी और जोंक मले और विषको निकालनेके बाह्योपचार

प्राचीन हिन्दू ग्रंथोंमें जलके अनेक गुण बखाने हैं। वेदोंमें तो जलसम्बन्धी अगणित मंत्र हैं। उन सबका वर्णन इस पुस्तकके पढ़नेवालोंके लिये पिष्टपेषण होगा। आधुनिक वैज्ञानिक खोजोंसे जो बातें ज्ञात हुई हैं, जो निष्कर्ष निकले हैं और जिनका वर्णन यहां प्रसंगानुसार अत्यावश्यक है हम उन्हींकी चर्चा यहां करेंगे।

हमको जल समुद्रसे, वर्षासे और सोतोंसे मिलता है। समुद्रके जलमें इतना नमक घुला रहता है कि वह अपेय है। परन्तु नमकका आधिक्य स्नान करनेके लिये उसे अत्यन्त उपयोगी बना देता है। समुद्रजलसे स्नान करनेसे शरीरमें विद्युत् शक्तिका विशेष संचार होता है। हमारे शरीरमें जब लवणोंकी कमी होती है, तब समुद्रस्नान विशेषतः उपयोगी है। वर्षाका

-जल सबसे शुद्ध जल है जो हमें प्रकृतिसे सहज ही मिलता है। इसमें घुली हुई वस्तुएं अत्यन्त कम होती हैं। वायुके सिवा कुछ नत्रिकाम्ल या अमोनिया सरीखे विशेष वायव्य अत्यन्त थोड़े परिमाणमें होते हैं। बरसातका पानी यदि शुद्धतापूर्वक बटोरा जाय तो स्रुतजलका काम दे सकता है। स्रुतजलके बाद होमियोपथिक ओषधियोंके लिये बरसाती पानी ही अधिक उपयुक्त समझा जाता है। बरसाती पानी पेय है, परन्तु इतना शुद्ध जल शरीरसे जब लवणोंको दूर करना हो तब ही ओष-धिके रूपमें पीना चाहिये। बरसाती पानीके अत्यधिक मात्रामें सेवन करनेसे रवादार श्लैष्मिक मल और विष शीघ्र दूर हो जाते हैं। स्रुतजलका भी ऐसा ही प्रभाव पड़ता है। स्रुतजलमें साधारणतया एक दोष होता है जिससे बरसाती पानी मुक्त है। स्रुतजलमें वायु बहुत कम घुली होती है—उसमें इसीलिये माधुर्य्य प्रायः नहीं होता। घुली हुई वायु रक्तशोधनमें सहायक होती है, जलको स्वादु और मधुर बना देती है। बरसाती पानी इसीलिये गुणकारी है, लघु है, मधुर है, उम्र घोलक है, इसलिये बड़ा ही उत्तम रक्तशोधक है। परन्तु रक्तशोधनके लिये पेटभर पीनेकी आवश्यकता है। यदि थोड़ी मात्रामें पिया जाय तो रक्तको पतला करके आयतन बढ़ा देता है और धमनियोंमें रक्तचापको बढ़ा देता है। धोनेका काम नहीं करता वरन् घोलका आयतन बढ़ानेका काम करता है। इसी लिये बरसाती जल बड़ी मात्रामें पीनेसे ही रक्त-

शोधनका काम कर सकता है, वृक्कोंको धो डालता है, पथरीको घोलकर बहा देता है। स्रुतजल इसके बदले न पीना चाहिये। बरसाती पानी ही शुद्ध जलका स्वाभाविक उत्तम प्रकार है।

बरसाती जल जो धरतीपर गिरकर बहता है, ऊपरके तलपर पड़ी हुई सभी तरहकी चीजोंको घुलाकर बहता है, अत्यन्त गंदा हो सकता है, प्रायः तरह तरहकी वस्तुएं घुली होनेसे अपनी शुद्धताको नष्ट कर चुका होता है। नदीका जल ऐसे सोतोंका जल होता है जो भांति भांतिके स्तरों और चट्टानोंसे होकर निकलते हैं जिनमें भिन्न भिन्न प्रकारके लवण और आंगारिक पदार्थ भी घुले रहते हैं। कुओं, बावड़ियों, तालों, पोखरोंका भी यही हाल होता है। सबमें सोतोंका जल आता है। इनका मूल और मार्ग इतना विभिन्न होता है कि जलका प्रकार साधारणतया नहीं बताया जा सकता। इतना ही कहना पर्य्याप्त होगा कि सोतोंका जल शुद्ध नहीं होता। किसीमें लवण कम घुले होते हैं किसीमें ज्यादा। उन्हीं नदियों और कुओंका जल पेय होता है जिनके जलमें घुले लवणोंकी मात्रा कम होती है। लवणोंके अधिक होनेसे जलमें खारीपन आ जाता है, किसी किसी दशामें स्वाद कड़वा और गंध असह्य प्रतीत होता है। विशेषतः जिस जलमें गंधक अधिक हो और उज्जनगंधिद्‌की कड़ी बास आती हो वह चर्म्मरोगोंमें स्नानके लिये बड़ा उपयोगी समझा जाता है, परन्तु इस स्नानसे ऊपरी चमड़ेपरके दोषका दूर हो जाना वस्तुतः हानिकर है, क्योंकि चर्म्मरोगके

द्वारा बाहर निकलते हुए मल और विषके मार्ग इससे बन्द हो जाते हैं और रोगी और जीर्ण रोगोंमें फँस जाता है। किसी किसी सोतेका जल बोतलोंमें भरकर विकता है। उसमें रेचन पाचन आदिके गुण बताये जाते हैं। परन्तु हम अन्यत्र दिखा आये हैं कि रेचन और पाचन आदि गुणवाली ओषधियां अस्वाभाविक हैं और थोड़ी बहुत हानि ही पहुंचाती हैं। इस-लिये ऐसे जलोंका भी सेवन उसी समय करना चाहिये जब ओषधिरूपमें उनकी वास्तविक आवश्यकता हो और मात्रा भी औषधोपचारके वैज्ञानिक नियमोंसे सुसंगत हो।

जिन नदियों और कुओंको लोग गंदा नहीं करते, जिनका जल मधुर और गंधहीन और प्रायः वर्णहीन होता है, जिनमें विष घुले न हों, उनका ही जल पीनेके योग्य समझना चाहिये। उनमें कुछ लवण अवश्य घुले हो सकते हैं। उनमें रोगाणु भी हो सकते हैं। परन्तु रोगाणु और थोड़ी मात्रामें घुले लवण स्वाभाविक जीवन वितानेवालेको कोई हानि नहीं पहुँचा सकते जल और अन्नमें इन लवणोंका होना मनुष्यके पोषणके लिये अत्यन्त आवश्यक है। लवण-विहीन जल और अन्न नितान्त अस्वाभाविक है। रोगाणुके लिये हम अन्यत्र दिखा आये हैं कि जबतक हमारे शरीरके भीतर उन रोगोंके उपजानेकी पूरी सामग्री नहीं है, केवल रोगाणुओंके बाहरसे आ जानेपर वह रोग हमें हो नहीं सकते। म्युनिसिप-लिटियोंमें बहुत आयाससे जलको छानकर लोगोंमें पहुंचाते हैं।

यह छाननेका आयास गंगा जमुना आदि नदियोंके जलके लिये व्यर्थ है, क्योंकि इनमेंका जल तो रोगनाशक है। साथ ही हम यह भी कहेंगे कि मलनलको इन पवित्र नदियोंमें बहाना इस देशके धर्मके विरुद्ध है। हमारे नलवाले शहर आज इन पवित्र नदियोंको प्रायः अत्यन्त गन्दा कर रहे हैं। विलायती सभ्यताने जिस तरह टेम्स आदि नदियोंको परनाला बना डाला, भारतवर्षमें श्रीगंगाजी आदि तीर्थोंको भी उसी सभ्यताने अपवित्र कर डाला। बरसातकी नदियां रजस्वला कहलाती थीं, उनका जल अपने यहां अपेय था, परन्तु आज जो नदियां इस प्रकार मलका परनाला बन रही हैं उनका जल बारहों मास अपेय बनाया जा रहा है। इतनी गंदगी और मुरदोंके बहाये जानेपर भी गंगा आदि तीर्थोंका बहता जल परीक्षासे रोगनाशक सिद्ध हुआ है, यह बात सही है, पर हम जब तीर्थोंको इसी भरोसे दिनपर दिन अपवित्र करते जायँगे तो उनके आधिभौतिक गुणोंमें अवश्य ही अन्तर पड़ जायगा।

जल प्रायः सर्व-घोलक है। संसारमें शायद ही कोई पदार्थ हो जो जलमें घुल न जाता हो। जिस बरतनमें हम खिंचे हुए जलको (स्रुतजलको) रखते हैं, प्रायः काचका होता है। परन्तु काच भी जलमें घुल जाता है। जल जितना ही शुद्ध होता है उतनी ही अधिक घुलानेकी उसमें समाई होती है। यही बात है कि हम कितना ही उद्योग करें नितान्त विशुद्ध जल हमें नहीं मिल सकता। हमने ऊपर कहा है कि बरसाती जल बड़ा

उत्तम रक्तशोधक है, क्योंकि उसमें वायु अधिक घुली होती और उसकी घोलक शक्ति प्रबल होती है। जितने ताप और चापपर बैलटमें (बोइलरमें)जल खौलता रहता है, जस्तेको सहज ही घुला लेता है। लगभग २०००° शपर तो जल प्रायः सभी धातुओंको इस तरह घुला लेता है जैसे हलका गंधकका तेजाब। लाल तपाये हुए लोहेपर पानी पड़ता है तो लोहेसे जलके परमाणुओंका संयोग हो जाता है, लोहेका ओषिद बनता है। यदि लोहा लाल करके जलमें छौंक दिया जाय तो जलमें ओषधिका विशेष गुण आ जाता है। भिन्न भिन्न धातुओंकी छौंकसे भिन्न भिन्न ओषधियां बन जाती हैं। होमियोपथीके फेरम,क्यूप्रम, आरम, आरजेंटम, जिंकम, स्टेनम आदि धातुओंके घोल सहज ही क्रमशः लोहा, तांबा, सोना, चांदी, जस्ता, रांगा आदि धातुओंसे जलको छौंककर बना सकते हैं। यह ओषधियां बड़ी ऊँची ताकतके होंगे। चिकित्सामें इस प्रकार छौंका हुआ शुद्ध बरसाती या विशुद्ध स्रुतजल इन्हींके नामके धातव टिंचरोंसे अच्छा काम दे सकता है। चतुर होमियोपैथको अपनी ओषधियोंके लिये सदा अमेरिका आदि विदेशोंका मुखापेक्षी न बने रहना चाहिये।

जलमें घन द्रव वायव्य तीनों प्रकारके पदार्थ सहजमें घुल जाते हैं। लोग समझते हैं कि तेल जलमें नहीं घुलता। वास्तविक बात यह है कि अत्यन्त सूक्ष्म परिमाणमें तेलके सीकराणु जलमें अवश्य ही घुल जाते हैं। वायव्योंके तो क्या कहने हैं।

ओषधियोंके जितने अरक खींचे जाते हैं सबके सब शुद्ध जलमें ओषधिके वायव्यांशके घोल हैं। इन अरकोंकी अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा जलमें देनेसे हलकी होमियोपथी ओषधिका फल मिल सकता है। एक रोगीको मोस्कस ६x(Moschus 6x)देना था। मेरे पास यह ओषधि न थी। यह ओषधि थी कस्तूरी परन्तु साधारणको दशलक्षांश मात्रा। मेरे पास अत्यल्प मात्रामें कस्तूरी मिश्रित और ओषधि थी। कस्तूरीकी सुगन्ध तीव्र थी। उसके सम्पर्कमें रखे हुए जलमें कुछ न कुछ सुवास आ गयी थी। इसी जलकी एक बूंदसे आधी छटाक ओषधि बनायी। इसका ही Moschus 6 x मोस्कसकी जगह प्रयोग किया। रोगीको तत्काल ही अपेक्षित लाभ हुआ।

साधारण पेय जल जब पेटमें पहुँचता है तो पीनेवालेके स्वभावानुसार कभी जल्दी कभी देरमें शरीरकणोंमें समाता है और उनके सम्पर्कमें देरतक रहनेसे घुलानेका काम करता रहता है। पीनेपर तुरन्त ही अन्नमार्गसे होकर आमाशयमें पहुँचता है और पाचन-क्रियापर प्रभाव डालता है। इष्टानिष्ट-प्रभाव शरीरकी अवस्था और जलकी मात्रापर निर्भर है। पहला काम जो पिया हुआ जल तुरन्त करता है वह है तापक्रमका समीकरण। शरीरके जिस जिस अंगमें दूसरे अंगोंसे तापक्रम अधिक होता है, वहांसे तापमात्रा हटाकर सब अंगोंमें बराबर करना जलकी विशेष क्रिया है। साथ ही जल अपनी घोलक-शक्तिसे समस्त घुलनशील पदार्थोंको धारण करके झिल्लियोंसे

होकर अंग अंगमें पहुँचाता है। लवणोंके अनुरूप रवादार और गोंदकी तरह श्लैष्मिक, सरूप और अरूप, दोनों प्रकारके पदार्थ जलमें घुल जाते हैं। प्रायः झिल्लियोंके रंध्रोंसे सरूप रवादार पदार्थ तो निकल जाते हैं और अरूप श्लैष्मिक पदार्थ नहीं निकलते। न निकलनेसे घोलमें एक विशेष प्रकारका चाप उत्पन्न करते हैं जिसे प्रणोद-चाप* कहते हैं। इसी प्रणोद-चापसे पेड़ोंमें जड़से लेकर ऊपरकी टहनीतक रसके पहुँचनेमें सहायता मिलती है। प्राणशक्ति इसी चापसे सभी प्राणियोंमें द्रव-संचारके काममें सहायता पाती है। जहां जहां अबाध रूपसे जलका प्रवेश हो सकता है वहां वहां जलमें घुले पदार्थ पहुँच जाते हैं। जलके घोलमें रासायनिक क्रिया संभव और सरल हो जाती है। प्रत्येक प्रकारकी रासायनिक क्रियाके लिये उचित मात्रामें जलकी आवश्यकता होती है। परन्तु अत्यन्त कम वा अत्यन्त अधिक जल रासायनिक क्रियाके वेगमें अन्तर डाल देता है। अत्यधिक जल पदार्थोंके घोलको अत्यन्त पतला कर देता है। जहां ताप बहुत घटकर रासायनिक क्रिया सुस्त पड़ जाती है, वहां सूक्ष्म विश्लेषणके कारण वैद्युत विघटन वा विश्लेषण भी होने लगता है। रासायनिक क्रियाको सुस्त करके वैद्युत क्रियाको अधिक विस्तीर्ण करनेकी भी आवश्यकता पड़ सकती है। जलकी बहुत कमीसे भी रासायनिक क्रिया कम हो जाती है। भोजनके पाचनमें जलाभावसे बड़ी बाधा पड़ती है।

* प्रणोद चाप=Osmotic Pressure, प्रणोदन=Osmosis अन्तः प्रणोद=Endosmosis, बहिः प्रणोद=Exosmosis।

भोजनके कुछ काल पीछे जलकी आवश्यकताकी सूचना प्यास-से मिलती है। इसीलिये भोजन करते समय जल अत्यन्त कम पीने या न पीने, एवं वादको प्यास लगनेपर अच्छी तरह पीने-की रीति पाचनमें सहायता करनेवाली समझी जाती है।

जल-पान

जल्दी जल्दी सवासेर ठंढा (१८° श) जल पीनेसे आधे मिनिटके भीतर ही भीतर नाड़ीकी चालमें मिनिट पीछे वाईस-की कमी आ जाती है। परन्तु दस वारह मिनिटमें फिर नाड़ी प्रमित हो जाती है, थपकनकी संख्या ज्योंकी त्यों आ जाती है। पानी और भी ठंढा हुआ तो घटी और जल्दी होती है। ताप-क्रम तो चालके साथ ही साथ लगभग एक फ दरजेके घट जाता है, पर वह भी दस वारह मिनिटमें अपनी पूर्वावस्थापर आ जाता है। पेटका भीतरी तापक्रम तो उपर्युक्त क्रियासे लगभग ६° फ दरजेतक घट जाता है और कई घंटोंमें कहीं पूर्वावस्था फिर लौटती है। उसी समय मलमार्गका तापक्रम लगभग दो (फ) दरजेके घट जाता है और यह घटी एक घंटे-से अधिक बनी रहती है। उदर और मलमार्गमें परस्पर घना प्रतिक्रियात्मक सम्बन्ध है, क्योंकि पिलानेके वदले यदि उतना ही ठंढा जल वस्तिक्रियासे मलमार्ग और आंतोंमें पहुँचाया जाय तो लगभग २° फ दरजेकी तापक्रमकी घटी पेटमें भी हो जाती है। इन वातोंकी पूरी परीक्षा विंटरनिट्सने* की है।

***Winternitz and Kisch: Hydrotherapy* (Solis Cohens System), 1904.

यह तो प्रत्यक्ष ही है कि ठंढे जलके प्रभावसे शरीरका ताप-क्रम घट जाता है। विशेषता यह है कि भीतरी अंगोंका भी कुछ तापक्रम घटता है और जलद्वारा पहुँचायी हुई ठंढकका प्रभाव बहुत दूरगामी होता है। रक्तवाहिनियोंकी चालमें भी जलपानका बहुत प्रभाव पड़ता है। इसीलिये जलचिकित्सा-का एक महत्वका अंग है शुद्ध जलके पीनेका आदेश निश्चित मात्राओंमें और निश्चित समयोंपर।

शरीरमें पानी समा जाता है, परन्तु किसी दशामें जल्दी और किसी अवस्थामें देरमें। पानीके प्रयोगके समय यदि रक्तचाप कम हुआ तो रक्तवाहिनियोंमें जल्दी जल्दी जलका चोषण हो जायगा। शरीरसे द्रव-ह्रास होनेपर अँतड़ियोंके प्रदेशसे बड़े वेगसे जल सोखा जाने लगता है। अत्यन्त पेशाब, पसीना, अतीसार या रक्तस्राव द्रवह्रासके उदाहरण हैं। ऐसी दशामें प्यास गरमी आदिसे जलकी मांगकी सूचना भी स्वभाव अपने आप देता है। जिस जलमें लवण अधिक होते हैं उसे शरीर कम सोखता है। जिसमें लवण कम होता है उसे शरीर-का रक्तस्रोत अधिक मात्रामें और जल्दी सोखता है। कर्बनद्वि-योपिद् वायुमिश्रित जल पेट जल्दी सोखता है। कुएंका जल इसीलिये नदीके जलकी अपेक्षा जल्दी शरीरमें पहुँच जाता है और उससे शीघ्र तृप्ति होती है। सोडावाटर पीनेसे तुरन्त तृप्तिका भी यही कारण है। सोडावाटर "खारी" कहलाता है, परन्तु है वस्तुतः "अम्ल" जल। कुएंका "खारी" जल पेटमें

विकार करता है और थोड़ासा भी पीनेसे ऐसा प्रतीत होता है मानों पेट भर गया है।

पानी भरपेट पी लेनेसे कुछ देरके लिये रक्त पतला हो जाता है और चाप बढ़ जाता है। जितना ही अधिक पानी पिया जाय उतना ही रक्तचापपर टिकाऊ प्रभाव पड़ता है, परन्तु ३-४ मिनिटसे अधिक यह प्रभाव नहीं रहता। रक्तका पतलापन भी एक घंटेमें मिट जाता है और रक्तका पूर्व घनत्व आ जाता है। एक घंटेमें शरीरके कण कणमें जलका प्रवेश हो जाता है और साढ़े तीन घंटेमें शरीरसे बाहर निकल जाता है। अधिक मात्रामें पिया हुआ जल जल्दी निकल जाता है। थोड़ी मात्रामें पिया हुआ जल देरमें निकलता है।

पानी कितना ही अधिक पिया जाय उसके कारण शरीरका जल-मय मोटापा संभव नहीं है, क्योंकि जल शरीरमें समाईसे अधिक नहीं रह सकता। ठंढे जलके पीनेसे पेशाब साफ होता है और पहलेका सोखा हुआ जल मलको लेकर पेशाब पसीना और वाष्पमय श्वास आदिके द्वारा निकल जाता है। गरम जल चाहे पहले पेशाब बढ़ावे, पर पसीना जल्द लाता है। पेशाबके बढ़नेका कारण अन्दर पहुँचनेवाले जलकी मात्रा ही नहीं है, बल्कि रक्तचापके बढ़नेसे और वृक्कोंमें दबावके साथ रक्तसंचार होनेसे पेशाबकी मात्रा बढ़ती है। अधिक पेशाब होनेका अर्थ यह है कि यूरिया और मूत्राम्ल आदि घन मल अधिक घुले हुए निकल जाते हैं, रक्तका शोधन हो जाता है।

यहांतक हम समझ चुके कि जल पीनेसे क्या क्रिया होती है और कैसी अवस्थामें किस तरहकी क्रिया होती है। हम जैसा फल चाहते हैं उसीके अनुसार परिस्थिति देखकर रोगीसे जलका व्यवहार कराना चाहिये।

प्रातःकाल वासीमुँह तीन पावतक पानी पी लेनेसे थोड़ी देरमें मलत्याग अच्छा होता है, परन्तु नित्य ऐसा करनेसे वान पड़ जाती है और मलत्याग इस जलपानका मुहताज हो जाता है। नाकसे दो तीन वार नित्य सवेरे पानी खींचकर सुड़ुकनेसे कंठतक सफाई रहती है। सरदी जुकामका कष्ट नहीं होता। यह नेतीक्रियाका स्थानापन्न है। इसमें हानिकी कोई संभावना नहीं है।

यदि हम चाहें कि शरीरमें जल सब जगह पहुँचाकर रक्त-चाप बढ़ा दें तो कुछ कालतक २०–२० मिनिट या आध आध घंटेपर ढाई–तीन छटाक शुद्ध जल पिलाते रहें।

यदि शिकायत यह है कि भीतरी द्रवोंका रस रसकर समाना किसी अंगमें वन्द हो गया है, किसी अंगमें जल पडु-रता है, अथवा कहीं भीतरी अंगमें किसी रसके बढ़ानेसे सूजन है या होनेवाला है, तो छः छः या आठ आठ घंटेपर ढाई या तीन पावतक शुद्ध जल पिलाता रहे, परन्तु बीचमें किसी प्रकारका द्रवपदार्थ न दे, बल्कि परिस्थिति अनुकूल हो तो भोजन भी वन्द कर दे। जलोदर आदि रोगोंमें यह उपचार बहुत अनुकूल पड़ता है।

भोजन बिलकुल बन्द करके या अत्यन्त कम करके, या फलाहारपर रखकर, जल अच्छी तरह पिलाते जानेसे शरीरके मलों और विषोंका सहज ही विसर्जन होता है, रक्त फिरसे नया बनता है, शरीर शुद्ध हो जाता है और इस प्रकारका साधन बहुत कालतक करनेसे शरीर नया सा हो जाता है। इस प्रकार जल एक भारी रसायन है। इस रसायनके साथ ही शुद्ध पवित्र ब्रह्मचर्य्यका स्वाभाविक जीवन आवश्यक है।

पानी अत्यधिक पीते रहनेसे शरीरका वजन घट जाता है। परन्तु थोड़ा थोड़ा पीने और उचित आहारसे शरीरभार बढ़ जाता है। जल पीनेसे रासायनिक क्रियाका वेग बढ़ता है, अग्निका प्रदीपन होता है, ओषिदीकरण अधिक होता है, कर्बन-द्वयोषिद् अधिक निकलता है, रक्तमें मूत्राम्ल और क्रियाटिनिन* कम बनते हैं।

भोजनके समय ठंढा जल अधिक मात्रामें पीनेसे आमाशय-की अग्नि मंद हो जाती है। इसलिये भोजनके समय प्यास बुझाने भरके लिये थोड़ी ही मात्रामें, आवश्यकता होनेपर हो, जल पीना चाहिये। भोजनोपरान्त कुछ देरपर प्यास तेज लगती है, उस समय पीनेसे, आमाशयका रस कुछ पतला होकर अधिक क्रियाशील हो जाता है, यकृतकी क्रिया बढ़ जाती है, शिराओंमें रक्तप्रवाहका वेग बढ़ जाता है और पित्त अधिक बनने लगता है। यह शरीरके लिये इष्ट है।

* Kreatinins.

वस्ति-कर्म्म

आंतें ढीली पड़कर सुस्त हो गयी हों, काम न करती हों, या दस्त अधिक आ रहे हों और बन्द करना या घटाना मंजूर हो, वस्तिगह्वरमें पीड़ा होती हो या कमर दुखती हो और इस पीड़ाको दूर करना हो, या आंतोंके भीतर कीड़े पड़ गये हों, चूना लगता हो, उसे साफ करना हो, या खून बहुत गया हो और द्रवकी कमी पूरी करनी हो, या किसी और कारणसे आंतोंकी राहसे शरीरमें जल पहुँचाना हो तो वस्तिकर्म्मद्वारा मलद्वारसे जल चढ़ाया जाता है। वस्तिकर्म्मसे जो जल चढ़ाया जाता है, इतनी पर्य्याप्त मात्रामें होना चाहिये कि मलमार्ग फैल जाये, आंतोंके भीतर केंचुएके रेंगनेकी सी संकोच और प्रसार-की क्रिया हो, आंतें हिलने डोलने लग जायें, उनकी भीतोंपर जल लगकर कुछ सफाई करे और मलमार्गके निचले भागका मल धुल जाय। परन्तु ऐसा न समझना चाहिये कि वस्तिसे मल निकालनेकी ही क्रिया होती है। जिस दशामें मल ऊपरी आंतोंमें, पक्वाशयके भीतर ही रहता है, मलमार्गमें नहीं होता, उस दशामें वस्तिकर्म्मका जल तो मलतक पहुँच भी नहीं पाता। यदि वस्तिक्रियासे इस तरहके दुर्गम मलका विसर्जन पीछे होता भी है तो वह इसलिये नहीं कि जल वास्तविक मलाशय-तक पहुँच गया है, वल्कि इसलिये कि वस्तिक्रियासे अँतड़ियां डोलने लगती हैं और इस गतिका प्रभाव पक्वाशयतक पहुँचता है और मलाशयसे मल नीचेको प्रेरित होता है। इसीलिये जब

वस्तिकर्म्म करे उसी समय पेड़ूकी मालिश भी होशियारीसे की जाय तो प्रभाव अच्छा पड़ता है और इच्छित फल मिलता है। थोड़े जलके चढ़ानेसे वस्तिकर्म्ममें इसीलिये असफलता होती है कि मलमार्ग अच्छी तरह फैल नहीं पाता। पानीकी मात्रा देश काल पात्रके अनुसार कमोवेश रखी जाती है। साधारणतया सवा पावसे लेकर ढाई सेरतक जल चढ़ाया जा सकता है। अधिक उत्तेजना और क्रियाके लिये कुछ गरम ही जल देते हैं। कीड़ोंको मारनेके लिये लोग नमक, तारपीनका तेल, अजवायनका क्राथ आदि जलमें मिलाया करते हैं। अँतड़ियोंको चिकनी चीज देनी होती है तो तेलकी वस्ति देकर जलकी वस्ति देते हैं। साबुनकी वस्तिसे कुछ कष्ट होता है पर मलका शोधन अच्छा होता है, परन्तु साबुन तेलका बना अत्युत्तम प्रकारका होना चाहिये जिसमें क्षार कम तैल अधिक हो।

हमने वस्तिमें प्रसंगानुसार कई ओषधियोंकी चर्चा कर दी परन्तु केवल विषयके विस्तारके लिये। जलके जिन वास्तविक गुणोंका वर्णन हम ऊपर कर आये हैं वह सबके सब ओषधिकी संगतिमें व्यर्थ हो जाते हैं,जल और ओषधिके संयोगसे स्वभावको ओषधिके दुर्गुणोंसे व्यर्थकी लड़ाई छेड़नी पड़ती है।

अधिक जल चढ़ाना हो तो बलहीन रोगीको चित लिटा दे, चारपाईके पैतानेको सिरहानेकी अपेक्षा ईंटें रखकर ऊंचा कर दे, घुटनोंको रोगी बटोरे रहे, ऐसी दशामें धीरे धीरे मलमार्गमें जल चढ़ावे। जलपात्र ऊंचेपर रखकर रबरकी नलीसे जल

चढ़ानेमें रोगीको कष्ट नहीं होता। मलद्वारमें नलिकाका प्रवेश करानेके पहले उसमें रेंडीका तेल मल लेना चाहिये। जल चढ़ाते समय बीचहीमें बहुधा रोगीको पीड़ा होने लगती है और तुरन्त ही मलविसर्जन करना चाहता है। यदि अधिक चढ़ाना बहुत आवश्यक न हो तो उसकी इच्छा पूरी होने देना चाहिये। यदि अधिक चढ़ाना अभीष्ट हो तो रोगीको समझा देना चाहिये कि थोड़ा सह ले। इस समय मालिश करनेसे पीड़ा बन्द हो जाया करती है। पीड़ा बन्द होनेपर फिर जल चढ़ावे। इस प्रकार इष्ट मात्रामें चढ़ाकर कुछ मिनटोंकी मालिशके उपरान्त रोगीको मलविसर्जन करने दे।

रोगी यदि बल रखता हो तो सिर और वक्षस्थल चारपाई या तखतपर टिकाकर पेट और नितम्ब घुटने टेककर ऊंचा कर ले। ऐसी दशामें वस्तिक्रियासे ऊपरी आंतोंतक जल पहुँच जाता है और वस्तुतः मलके बहिष्करणमें सहायक होता है।

आंतोंको अच्छी तरह धोनेके लिये चार पांच सेरतक जल लोग चढ़ा देते हैं, परन्तु इस क्रियाको बारम्बार करनेसे आंतें दुर्बल पड़ जाती हैं, सुस्त हो जाती हैं और रोगीकी दशा पहलेकी अपेक्षा अधिक रद्दी हो जाती है। वस्तिकर्म्म वस्तुतः स्वाभाविक नहीं है, इस कर्म्ममें जल ही स्वाभाविक है। इसलिये पेटकी मालिश, उदरस्नानसे काम निकले तो वस्तिकर्म्मकी कोई आवश्यकता न होनी चाहिये।

साधारण मानसिक रोगोंमें और मधुप्रमेहमें प्रायः पुराना

कब्ज रहता है। ऐसे रोगीको बहुधा वस्ति-कर्म्मसे तभी लाभ होता है जब पानी चढ़ाकर पेड़ूकी अच्छी मालिश की जाती है। पथ्याहार और उदरस्नान विना ऐसे रोगियोंको केवल वस्ति-कर्म्मसे बहुधा कम लाभ हुआ करता है।

कभी कभी चिकित्सक वस्ति-कर्म्मसे ही ओषधि या भोजन भी शरीरमें पहुँचाते हैं। ओषधि यदि होमियोपथिक सिद्धान्तोंपर हो तो ठीक है, परन्तु अलोपथीकी मात्राएं तो अवश्य ही हानि-कारक होती हैं। कभी कभी अन्नमार्गमें कोई दोष हो जानेसे भोजन (जैसे दूध) वस्तिकर्म्मद्वारा आंतोंमें पहुँचाया जाता है परन्तु बहुधा यह देखा गया है कि अन्नमार्ग प्रकृति इसीलिये बन्द करती है कि उसे भोजन लेना मंजूर नहीं होता। ऐसी दशामें जबरदस्ती भोजन पहुँचाना स्वभावसे व्यर्थ और अनिष्ट-कारक संग्राम छेड़ना है।

वस्ति-कर्म्मसे गर्भाशयके चारों ओरका प्रदेश भी धोया जाता है। इस क्रियामें ध्यान रखना चाहिये कि गर्भाशयके भीतर जलका प्रवेश न हो। नलिकाका प्रवेश पिछले भगकोणसे जितनी दूरतक जा सके होना चाहिये। इस प्रकारके वस्तिकर्म्ममें जल बराबर बाहर निकलता जाता है, इसलिये जलके बहानेका उपाय रहना चाहिये। गर्भाशयमें रक्तके एकत्र हो जानेसे जो खून अधिक जाने लगे तो इस प्रकारके जलप्रवाहसे आराम होता है। कभी कभी गरम जल भी लाभ पहुँचाता है, परन्तु ठंढा जल इस काममें प्रायः सदैव गुणकारी पाया गया है।

खूनी ववासीरमें वस्ति-कर्म्मकी एक विशेष नलिका काममें आ सकती है। इसमें दो नलिकाएं समानान्तर लगी रहती हैं। एकसे जल मलमार्गमें जाता है, दूसरीसे निकलता आता है। इस क्रियासे मलमार्ग धुलता भी है। ववासीरको आराम भी होता है। वारी वारीसे गरम और ठंढे जलका प्रयोग कर सकते है। देश काल पात्रका विचार करके यह क्रिया करनी चाहिये।

स्नान

जिस तरह वस्तिकर्म्मसे या पानसे भीतर जल पहुँचाया जाता है उसी तरह वाहरी स्नानसे भी शरीरके भीतर जलका प्रवेश होता है। रोमकूपोंसे जिस तरह पसीना निकलता है उसी तरह वाहरके वायव्य और द्रवका चोषण भी होता है। हम फेफड़ोंसे ही सांस नहीं लेते। त्वचाद्वारा रोमकूपोंसे भी हम सांस लिया करते हैं। जिसके फेफड़े रोगके कारण अपना काम नहीं कर सकते उसकी त्वचासे पसीना खूब होता है और शरीरके लिये आवश्यक ओषजन खिंच जाता है। शरीरके किसी भागको जब हम धोते है तब कई क्रियाएं होती हैं। (१) रोमकूपोंके द्वारपर स्वेदद्वारा एकत्र किया हुआ विष और मल धुल जाता है। (२) शरीरके भीतर जल या जिस द्रवको हम उसपर रगड़ते हैं वह द्रव चोषणद्वारा प्रवेश करता है। (३) जलके तापक्रमका शरीरके उस अंगपर प्रभाव पड़ता है जिसपर धोनेकी क्रिया होती है, साथ ही नाड़ीमंडलके

सम्बन्धसे तापक्रमका प्रभाव अन्य सम्बद्ध अंगोंपर भी पड़ता है। (४) जिस अंगपर रगड़ पड़ती है उसके नाड़ीजालको उत्तेजना मिलती है और जहांतक उस स्थानके नाड़ीजालका सम्बन्ध होता है, वहांतक रगड़का प्रभाव पड़ता है। इस प्रकरणमें हम केवल साधारण ठंढे जल या अत्यन्त ठंढे जलके स्नानका ही वर्णन करेंगे। जहांतक तापक्रमके तारतम्यका सम्बन्ध है, वहांतक इस विषयका विस्तार ताप-चिकित्सा-वाले प्रकरणमें किया जायगा, क्योंकि तापचिकित्साका भी विशेष साधन जल ही है।

हमारे देशमें नित्य स्नान करना सदाचारका एक अंग है। दतुअन और स्नान पाश्चात्य देशोंमें शायद ही कोई कभी करता है इसीलिये पाश्चात्य चिकित्सा-साहित्यमें मुँह धोने और स्नान करनेपर विशेष जोर दिया जाता है। सबसे उत्तम स्नान नदीके बहते जलमें होता है। सब लोग जैसा साधारण स्नान करते हैं, स्वास्थ्यकी दशामें वही उत्तम विधि है। स्नानके समय सबसे उत्तम प्रकारका व्यायाम तैरना है। इतना तैरे कि थकान न आ जांय, बल्कि नहाकर निकले तो ताजा और अधिक श्रमके लिये तय्यार रहे। जिनको पाचनके सम्बन्धमें तनिक भी शिकायत हो उन्हें नदीके बहते जलमें खड़े होकर घर्षण स्नान करना चाहिये। नाभितक जलमें खड़े होकर पेड़ूको ऊपरसे नीचेकी ओर बराबर दोनों ओर दोनों हाथोंसे तौलिया या अंगौछेके सहारे मलनेसे प्रायः वही लाभ होता है जो कूनेके उदर-स्नानसे होता है। इस

उदर-स्नानके आरंभसे पहले सिरतक डुबकी लेकर मल-धोकर नाभिके ऊपरतक पोंछकर सुखा ले। गुह्यस्थानोंको भी उदर-स्नानके समय अच्छी तरह धोना उचित है। नित्य ऐसे स्नान करनेवालेको मलसंचयजनित रोग न होने चाहियें। जो लोग इस तरह बहते जलमें स्नान नहीं कर सकते वह किसी बड़े और साफ जलके तालाबमें यह कमी पूरी कर सकते हैं। परन्तु जहां बहता पानी न मिले वहां साधारण स्नानका उत्तम प्रकार सिरसे पानी डालकर नहाना ही है। इससे सारे शरीरको वह अच्छी तरह रगड़ रगड़कर धो सकते हैं। पेड़ूको अच्छी तरह मलकर धोना ऐसे स्नानमें भी असंभव नहीं है परन्तु बराबर पानीका सम्पर्क रहे और पानी बदलता भी रहे, यह दोनों बातें सुभीतेसे बहते पानीमें ही हो सकती हैं, उससे कम सुभीतेसे टबमें होती हैं। टबका पानी जल्दी गंदा हो जाता है। जहां दोनों बातें आवश्यक हों वहां नित्यका स्नान सिरसे पानी डालकर कर ले, फिर अच्छी तरह शरीरको सुखाकर टबमें कूनेवाला स्नान करे।

रोमकूपोंको धोकर साफ रखना और समस्त नाड़ीमंडलको थोड़ी गरमी पहुँचाना साधारण स्नानका वास्तविक लक्ष्य होता है। सारे शरीरमें नाड़ीजालका जो तानावाना फैला हुआ है उसके सिरे ऊपरी त्वचापर आकर समाप्त होते हैं। आगे तापचिकित्सावाले प्रकरणमें इसका सचित्र विस्तारसे वर्णन होगा। यहां इतना ही कहना पर्य्याप्त होगा कि विशेष

अंगोंके त्वचाके शीतल करने रगड़ने और धोनेका विशेष भीतरी अंगों और इंद्रियोंपर दूरगामी परिणाम होता है।

जलचिकित्साके भिन्न आचार्य्योंने स्नानकी भिन्न भिन्न रीतियां बतायी हैं। विधिके भेदके साथ ही साथ अवधि-भेद भी रखा गया है। क्रैपके स्नानोंकी अवधि एक एक दो दो मिनिटतक है। युष्टके स्नान पांच पांच मिनिटके हैं। जितने आचार्य्य हैं अपनी अपनी विधिको ही सर्वोत्तम बताते हैं। वास्तविक स्थिति यह है कि रोगीकी पूरी जांच कीजिये। जिस अंगके साथ जिस प्रकारके उपचारकी आवश्यकता आपकी बुद्धि और अनुभवसे स्वाभाविक रीत्या ठीक जान पड़े उसी प्रकारका उपचार करना चाहिये। उसी ढंगके विशेष अंगके विशेष प्रकार-के स्नान बताने चाहिये। ठंढक, घर्षण, अघर्षण, काल और अवधिकी कमी बेशीसे और अंग अंगके विभेदसे स्नानके भी असंख्य नुसखे हो सकते हैं। परन्तु जिस तरह एक ही पेटेंट ओषधि या वैद्यका रस भिन्न भिन्न अनुपानोंके साथ भिन्न भिन्न रोगोंपर चलता है, उसी तरह स्नानकी एक ही किसी विधिको पेटेंट करना बुद्धिसंगत नहीं है। इसीलिये भिन्न भिन्न आचार्य्यों-की पेटेंट स्नानविधियोंका मुकाबला करके यहां हम यह बत-लाना व्यर्थ समझते हैं कि अमुक ही विधि सर्वोत्तम है। सबकी विधियोंको अलग अलग विस्तारपूर्वक जाननेके लिये उनके ग्रंथ देखने चाहियें जिनकी नामावली इस ग्रंथके अन्तमें हमने दी है। हमारे देशमें बीसों बरससे कूनेकी जलचिकित्साका

प्रचार है, सैकड़ों भाइयोंने लाभ उठाया है, और हमारा स्वयं अनुभव है। इसीलिये हम कूनेकी पुस्तकसे उसकी उदरस्नान और मेहनस्नानकी विधि देते हैं। उसके वाष्पस्नान या धूप-नहानकी विधि हम तापचिकित्सामें विस्तारपूर्वक बतलायेंगे।

कूनेका उदरस्नान

एक टब या नांद इस तरहका लेना चाहिये जिसमें आदमी बैठकर नाभितक जलमें रह सके। कूनेकी पुस्तकके चित्रसे जो हम यहां देते हैं, पाठकोंको उस टबका अनुमान हो सकेगा। इस टबमें ताजा कुएंका जल या और कहींका भी जल जो प्रायः ६८ से ८५ फ°' तक तापक्रमका हो इतना भरा जाय कि नाभि और जंघाओंतक पहुँचे। कुएंका जल हमारे देशमें प्रायः अभीष्ट तापक्रमके अन्दर ही अन्दर होता है, अर्थात ७५ फ° से लेकर ९० फ° तक। अधिक ठंढा करना हो तो मिट्टीके घड़ेमें कुएंके जलको रखकर कुछ और ठंढा कर सकते हैं।

स्नान करनेवाला कुछ बैठकर और कुछ पीठेको सहारा लेकर बिना ठहरे हुए और जल्दी जल्दी कुल पेड़ूको नाभिसे नीचेकी ओरको, और एक कोखसे दूसरी कोखतक किसी साधारण मोटी और भीगी तौलिया या खद्दरके अंगौछेसे मले। यह स्नान उस समयतक करना चाहिये जबतक कि शरीर भलीभांति ठंढा न हो जाय या चढ़ा हुआ ज्वर उतर न जाय। पहले ५ मिनिटसे १० मिनिटतक काफी होंगे। फिर कुछ अधिक देरतक भी स्नान किया जा सकता है। निर्बलों और बच्चोंके

लिये २-४ मिनिट ही काफी होंगे। यह बहुत जरूरी है कि टांगें, पावँ और शरीरका ऊपरी भाग शेषअंगके संग ठंढे न किये जायँ, क्योंकि इनमें रक्तकी कमी हुआ करती है। इनको ऊनी कम्बलमें लपेट लेना उचित है। इस स्नानके बाद, शरीरको तुरन्त फिर गर्म करना चाहिये। इसके लिये खुले हुए स्थानमें कुछ मेहनतका काम करना चाहिये। जो बहुत निर्बल हैं, या जिनके शरीर बहुत कोमल हैं, उन्हें पलंगपर अच्छे प्रकार उढ़ाकर लिटा देनेसे भी यह गरमी आ जाती है। गरमीके आनेमें अधिक देर लगे तो पेटपर लपेटनेकी एक ऊनी पट्टी बांध लेनी चाहिये।

यह स्नान नित्यप्रति एकसे तीन बारतक किया जा सकता है, और समयका अनुमान और जलकी गर्मी सर्दी हर रोगीकी दशाके अनुकूल होनी चाहिये।

कूनेका मेहन-स्नान *

यह स्नान स्त्रियोंके रोगोंके लिये बड़ा लाभदायक होता है। उसी टबमें जिसकी चर्चा उदरस्नानमें हम कर आये हैं एक छोटी तिपाई या नम्बरी ईंटें रख दी जायँ। तब उस टबमें जल डाला जाय, परन्तु इतना ही कि तिपाईके तख्तेके या ईंटोंके ऊपरी किनारेतक पहुँचे और ऊपरसे तख्ता या ईंटोंका तल सूखा रहे। स्नान करनेवाली स्त्री उसी तख्तेपर बैठे और एक

* पंडितप्रवर श्री महावीरप्रसादजी द्विवेदीने "फ्रिक्शन सिट्जबाथ" की जगह "मेहन-स्नान" ही प्रयुक्त किया है। यद्यपि यह ठीक भाषान्तर नहीं है तथापि इससे अच्छा उल्था मुझे और कोई नहीं जँचा। ले०

मोटे कपड़ेको जलमें डुबो डुबोकर बहुत ही मुलायमियतके साथ बच्चा पैदा होनेके रास्तेके मुँहको धोवे। कपड़ेसे जितना जल उठाया जा सके उतना प्रतिवार उठावे। यह बहुत जरूरी है कि योनिके बाहरी होंठ या हिस्से धोये जायँ न कि भीतरी, और उनको भी सख्तीके साथ न मला जाय, वरन् कोमलताके साथ। उतने ही जलसे जितना कि कपड़ेमें आ सके उनको धोवें। इस स्नानमें भी टांगें, पावँ और शरीरका ऊपरका भाग सूखा रहता है परन्तु यदि नितम्ब भीग जावें तो इस स्नानके प्रभावमें कुछ अन्तर नहीं पड़ता। मासिक धर्मके समय यह स्नान बन्द कर देने चाहियें। रक्तका निकलना यदि आरोग्यता-की दशासे अधिक हो तो इन दिनोंमें भी यह स्नान किये जा सकते हैं। परन्तु यह स्नान यदि ऐसी दशामें कराये जावें तो रोगिणीकी दशाकी अनुकूलतापर पूरा विचार करके। मासिक धर्ममें दो या तीन दिनसे अधिक नहीं लगने चाहियें, अधिकसे अधिक चार दिन,इससे अधिक समयतक जारी रहनेसे समझना चाहिये कि साधारण दशा नहीं रही है और स्त्री रोगिणी है।

इस स्नानके लिये जल बहुत ठंढा होना चाहिये। जाड़ोंमें जैसा ठंढा जल मिलता है, काफी है। गरमियोंमें आवश्यकता पड़े तो घड़ा या सुराहीका जल या बरफसे ठंढा किया हुआ लिया जा सकता है। १५° श तक चाहिये। गरमियोंमें साधारण ठंढा जल प्रायः २५° श तक होता है। कुएंके जलका ही ताप-क्रम यहां बताया गया है। और जल अधिक गरम होता है।

अवस्था और दशाका विचार करके, यह स्नान १० मिनिटसे १ घण्टेतक किया जा सकता है। विशेष कर अत्यन्त जाड़ेमें वह कमरा जिसमें बैठकर यह स्नान किया जावे, उतना गर्म किया जा सकता है जितना कि अच्छा मालूम हो। इस स्नानमें जितना अधिक ठंढा जल काममें लाया जायगा उतना ही फल भी अधिक होगा। परन्तु जल इतना ज्यादा ठंढा नहीं होना चाहिये जिसको कि स्नान करनेवालेके हाथ सह न सकें। गर्म देशोंमें और पृथिवीके उस भागमें जहां कि अत्यन्त गर्मी सदैव होती है, ऐसा ठंढा जल तो मिलता ही नहीं।

उदरस्नानवाला टब न :मिले तो कपड़ा धोनेका या स्नान करनेका कोई टब या नांद इस स्नानके लिये काम दे सकता है। यह बरतन इतना बड़ा अवश्य हो कि जिसमें बैठनेकी कोई चीज रखी जा सके और बैठकके किनारेतक जल भरनेसे २०-२५ सेर जल भी समा सके। इस स्नानमें यदि बहुत थोड़ा जल लिया जाय तो जल्दी गरम हो जाता है, और स्नानका प्रभाव कम पड़ता है। हलका शुद्ध जल सोतेके जलसे अच्छा होता है। परन्तु जिस स्थानमें केवल सोतेका जल मिलता हो, अच्छा होगा कि कुछ देर रखा रहने दें, और इस बातका ध्यान रखें कि बहुत गर्म न हो जाय।

पुरुषोंके लिये मेहन-स्नान

पुरुषोंको भी टबमें उसी तरह बैठना होता है,जैसे स्त्रियोंको, और लिङ्गके मुँहके ऊपरकी खालके अंतिम सिरेको ठंढे जलके

भीतर धोना पड़ता है। स्नान करनेवाला अपने बायें हाथकी मध्यमा और अनामिका अंगुलीसे या अंगुष्ठ और अनामिकासे खलड़ीको पकड़कर जितना हो सके लिङ्गके मुँहके आगेको इस प्रकार ले जाय कि जिससे उसकी सुपारी पूरी पूरी ढक जाय और उसे रगड़ न लग सके। अब किसी कपड़ेसे जो साधारण रूमालके बराबर हो और जिसे दाहिने हाथमें जलके भीतर लिये हुए हो, उस खलड़ीको जो कि अंगुलियोंमें पकड़ी हुई है बराबर धोता रहे।

मुसलमानोंमें इस खलड़ीका खतना कर देते हैं। कोई कोई पुरुष ऐसे भी होते हैं जिनमें यह खलड़ी बहुत थोड़ी होती है। कभी कभी किसी पुरुषकी खलड़ी किसी रोगके कारण काट भी दी जाती है ऐसे मनुष्योंको चाहिये कि उस स्थानकी जो टांगों और अंड-कोषके बीचमें है जिसे सीवन कहते हैं तौलियासे मालिश करें और कमरके नीचेके भागको भी बैठकके ऊपर तीन अंगुल ऊंचेतक जलमें डुबो रखें। इसमें नितम्ब तीन अंगुल भीग जावेंगे परन्तु शेष शरीर और टांगें सूखी रहेंगी। कुछ निचला भाग अंडकोषोंका भी भीगेगा। परन्तु भरसक अंड-कोषोंका अधिक भाग न भीगने दें। इस प्रकारके स्नानमें जल १६° श या ६३° फसे अधिक ठंढा न हो। यदि गरम प्रदेशों-में बरफसे ठंढा किया जाय तो तापमापक यंत्रसे देख लेना चाहिये कि अधिक ठंढा तो नहीं है।

जिन रोगियोंके शरीरके भीतर कोई स्थान सूज गया है या

भीतर किसी स्थानमें सड़न पैदा हो गयी है, या जिसका कोई छिपा हुआ जीर्ण रोग उग्र रूप धर रहा हो, तो भीतरी सूजन शीघ्र ही, विशेष कर पहिले ही स्नानमें नीचेको खिंच जाती है, और जो स्थान कि धोनेमें रगड़ा गया है उसी स्थानमें या उसके पास ही प्रकट हो जाती है । यह कोई बुरा चिह्न नहीं है। रगड़के स्थानपर सूजन और जलन पैदा हो जानेसे डरना न चाहिये । यह स्नान तब भी करते रहना चाहिये, और जरूरत हो तो ज्यादा नर्म कपड़ा काममें लावे ।

बैठकके ऊपर तीन अंगुल जल रखकर स्नानसे बहुतेरे रोगोंमें शीघ्र सफलता प्राप्त होती है । ऐसी दशामें जल ६३° से ७३° फके तापक्रमका होना चाहिये । इसमें नितम्ब तो जलमें हो जाते हैं, शेष क्रिया वैसी ही होती है जैसी कि बतायी जा चुकी है ।

यह स्नान नंगे बदन होकर करना चाहिये । जाड़ोंमें स्नानका कमरा गरम कर ले, और दूसरी ऋतुओंमें भी सर्दीके समय ऐसा कर ले, अँगीठी बाहर दहकाकर कमरेमें रखे जिससे कोयलेका जहर हवाको खराब न करे और कमरेमें भी हवाके आने जानेका बन्दोबस्त कर दे । स्नानके बाद रोगीको मैदानमें बीस या तीस मिनिट टहलना चाहिये । यदि रोगी निर्बल हो तो टहलनेके बदले रजाई लिहाफ कम्बल ओढ़कर अपनेको गरम कर ले ।

खलड़ी या सीवनको ही धोने, ठंढा करने और रगड़नेपर

इसीलिये जोर दिया गया है कि अधिकांश नाड़ियां पिंगला नाड़ीजालसे होकर ही शरीरमें फैली हुई हैं और खलड़ी और सीवनपर पिंगला नाड़ीजालके सिरे हैं। शरीरके अनैच्छिक मांसपेशियों और अंगोंपर पिंगला नाड़ीका विशेष प्रभाव है। इसीलिये समस्त नाड़ीसंस्थानको ठंढा करने और उनको अधिक क्रियाशील करनेके लिये इससे अच्छा नाड़ी-स्नान नहीं हो सकता। सारे शरीरपर प्रभाव डालनेको जननेन्द्रियोंको ही मूल स्थान समझना चाहिये। इस स्नानसे सारे शरीरकी जीवन-शक्तिको बल पहुँचता है और नाड़ीमें ताजगी आ जाती है।

मेहन-स्नान पूरे आरोग्य शरीरपर कोई दर्शनीय प्रभाव नहीं डालता। यह विधि तो रोगियोंके लिये ही है। रोगी तो प्रायः यह स्नान जरूरतसे ज्यादा कर जाते हैं। उन्हें स्नान करते करते लाभ प्रतीत होता है। शल्य चिकित्सक महा कष्ट देते और अत्यन्त लज्जा देनेवाली चीर-फाड़की क्रिया करते हैं और रोगी सहता है। मेहन-स्नान तो किसी तरहके कष्टकी क्रिया नहीं। कष्ट-निवारणके लिये इतनी निर्लज्जता सह लेनी चाहिये।

खोटे विचारोंसे अथवा कुटेवके कारण संभव है कि किसी नवयुवकके हाथोंमें यह मेहन-स्नान उसके लिये हानिकर हो। ऐसी दशामें भी खलड़ीकी जगह सीवनवाले स्थानका स्नान लाभकर होगा। हम अपने अनुभवसे कह सकते हैं कि सीवन-वाले स्नानका महत्त्व खलड़ीवाले स्नानसे कम किसी प्रकार नहीं है।

जिन रोगोंका सम्बन्ध नाड़ीजालके बिगाड़से है उनके लिये मेहन-स्नान अक्सीर है। जिनको केवल पेटका बिगाड़ कष्ट दे रहा है उन्हें उदर-स्नान करना चाहिये। कोई भी बिगाड़ हो, बहुधा पेटको ठीक रखना आवश्यक होता है, इसीलिये उदर-स्नानका काम अधिक पड़ता है, यद्यपि मेहन-स्नान वस्तुतः बहुत दूरगामी प्रभाव रखता है।

उग्र रोगोंपर तो इन स्नानोंका प्रभाव तात्कालिक होता है। शौचका जल्दी होना, वायुका निकलना, रक्तका अच्छा संचार, भूखका खुलना, ज्वरका दूर होना इत्यादि प्रभाव तो प्रत्यक्ष हैं। परन्तु जीर्ण रोगोंपर तो अवश्य ही स्नानोंका प्रभाव धीरे धीरे पड़ता है। रोगके पूर्व लक्षण लौटते हैं, पूर्वावस्था अथवा उग्रदशा लौट आती है। देखनेमें रोगी जोरसे बीमार हो जाता है। यह रोगका उभार है। जल-चिकित्सकको इस उभारकी दशासे घबराकर इलाज छोड़ न बैठना चाहिये। मलों और विषोंको बाहर निकालनेके लिये स्वभावके यह प्रयत्न हैं। परन्तु यदि उभारकी दशा नहीं आयी और तीन चार सप्ताह बीत गये तो पांचवें सप्ताहमें स्नान बन्द रखे और छठे सप्ताहमें मात्रा बदलकर और पथ्यमें और रहन-सहनमें कुछ फेरफार करके फिरसे इलाज शुरू करना चाहिये। यद्यपि लूई कूनेका दावा है कि समस्त रोगोंके लिये यही उपाय पर्य्याप्त हैं, जैसा कि और विधियोंके उद्भावक अपनी अपनी विधियोंके लिये कहते हैं, तथापि इस विधिकी जांच

करनेवालेको चाहिये कि यदि इस स्वाभाविक चिकित्साकी विधिसे उसे लाभ नहीं हुआ तो अवश्य ही और स्वाभाविक उपचारोंसे काम ले। उपायोंकी कमी नहीं है। हां, उपचारका निश्चय करनेवालेकी बुद्धि अपना कर्त्तव्य पूर्णतया पालन करे।

स्नानके और प्रकार

यदि रक्तका संचार अधिक वेगसे नीचेके अंगोंकी ओर करना हो तो पैरों और टांगोंको स्नान कराना चाहिये। पैरोंके स्नानमें टखनेतक जलमें एक दो मिनिट खड़ा रहे। पानी साधारण ठंढा होना चाहिये। एक मोटे अंगौछेसे पोंछकर हाथसे पैरोंको खूब रगड़िये या कुछ मिनिटोंतक तेज टहलिये। टांगोंके स्नानमें पिंडली या घुटनोंतक पानीमें एक दो मिनिटतक खड़े रहकर, फिर उपर्युक्त क्रिया कीजिये। दिनमें एक या कई वार गीली घासपर या गीले फर्श या भूमिपर नंगे पैरों १०–२० मिनिटतक टहलना चाहिये। बड़े तड़के ओससे भीगी घासमें नंगे पैरों टहलना विशेष लाभकारी होता है। इसके बाद पैरोंको पोंछकर हाथोंसे खूब रगड़िये। किसी बरतनमें पांच अंगुल पानीमें पैरोंको डुबोकर खूब पानी उछालकर कई मिनिटतक धोइये। फिर पोंछकर रगड़िये। भोजन और शयनके पहले पैरोंको इस तरह धोने और पोंछकर रगड़नसे क्रमशः पाचनक्रिया अच्छी होती है और नींद अच्छी आती है। ऊपरसे पैरोंपर इतनी देरतक

बराबर पानी पड़ता रहे तो भी लाभ होता है। नल खोल दीजिये और पानी पूरे जोरसे पैरोंपर, एकके बाद दूसरेपर पड़ने दीजिये और पैर भी फर्शपर रगड़ते जाइये। इन विधियोंसे उन लोगोंको निश्चय लाभ होता है जिनके तलवे या पावँ ठंढे हो जाते हैं, या नम रहते और चिपचिपाया करते हैं, या पसीना हुआ करता है। यह रोग इसी विधिसे एकदम अच्छे हो जाते हैं। पसीना आनेपर सूखा धूरा बहुत हानि-कर होता है, यह याद रखना चाहिये।

नलसे सीधे या उसमें उचित आकार प्रकारका फुहारा लगाकर किसी अंगपर तरेरा देनेकी विधि क्नैपने बड़ी महत्व-की बतलायी है। सिर, बाहँ, छाती, पीठ, जंघा, घुटना आदि जिस अंगपर आवश्यकता हो उसी अंगपर ठंढे जलका तरेरा २-४ मिनिट देकर उसे पोंछकर मालिश करना लाभ पहुँचाता है। बहुत देरतक तरेरा देना या गरम पानीका तरेरा देना हानिकर है। तरेरा देनेका साधन न हो तो अंजुलीमें जल लेकर उस अंगपर बार बार मारना और अंतमें पोंछकर रगड़ना चाहिये। जिन स्थानोंपर अपना हाथ न पहुँच सके उन स्थानोंपर अंगोछा या तौलिया पहुँच सकता है। पानी लोटेसे डाला जा सकता है। स्नानके उपरान्तकी मालिश बड़े महत्वकी चीज है। युष्ट तो कहता है कि बदनकी पूरी मालिश किसी औरसे करानी चाहिये और दूसरेकी मालिश आप करनी चाहिये, क्योंकि आदमी दूसरेपर पूरा बल लगा

सकता है, और परस्पर मालिशका अधिकाधिक लाभ उठा सकता है।

प्रातःकाल बिस्तरेकी गरमीसे उठकर, या धूप खाकर, या धूप-स्नान करनेके उपरान्त, या व्यायाम करके या जैसे हो शरीरकी गरम अवस्थामें ही ठंढे जलसे स्नान करना उचित है। ठंढे शरीरपर या ठंढ लग जानेपर ठंढे जलसे स्नान करना उचित नहीं है। हाँफतेमें भी स्नान करना उचित नहीं है। तात्पर्य्य यह है कि शरीरमें सुखकर गरमी आयी हुई हो, त्वचा ठंढ खाये हुए न हो तभी ठंढे जलसे सर्वांग स्नानकी प्रतिक्रिया स्वास्थ्यकर होगी।

लोटेसे स्नान करनेमें पहले हाथ पैर टांगें बाहें धोकर, फिर पेड़ू और पेट धोइये, तब सिर और पीठपर पानी डालिये और जल्दी जल्दी मलकर स्नान कीजिये। स्नान करनेमें जितना अधिक समय लगेगा उतनी ही कमी प्रतिक्रियामें होगी। परन्तु इतनी जल्दी भी न करे कि शरीर साफ़ न हो पावे, ठंढा न हो पावे और मालिश न हो सके। मालिश केवल हाथसे होना चाहिये। इसके बाद बदनमें हवा और धूप, जो असह्य न हो, लगने दे। कुछ देरतक इस प्रकार जल, वायु, ताप, प्रकाशके स्नानसे शरीरमें वैद्युत् शक्ति और प्रत्यक्ष स्फूर्त्ति आ जाती है। सजीव हाथोंकी मालिश वस्तुतः उत्तेजित करके विद्युत्का उसी प्रकार प्रवाह कराती है, जिस प्रकार ठंढ और गरमीका तारतम्य नाड़ीजालपर पहुँचाकर रक्तका प्रवाह अच्छा होने लगता

है। इस प्रकार प्राकृतिक स्नानके बाद तेज टहलना या कुछ ओढ़कर बैठ जानेसे त्वचामें स्थायी गरमी और स्फूर्त्ति आ जाती है। ऐसी अवस्थामें संध्योपासन सबसे उत्तम प्रकारसे हो सकता है, विशेषतः यदि प्राणायाम उसका आवश्यक अंग हो।

जिस प्रकार सीवनवाला मेहन-स्नान करते हैं, इसी प्रकार टबमें केवल पांच मिनिटसे लेकर दस मिनिटतक बैठा रहे और रगड़नेकी क्रिया न भी करे तो भी कुछ लाभ होता है। रगड़से यदि वह स्थान दुखता हो, या फोड़े हो गये हों, तो भी इस प्रकार मेहन-स्नान हो सकता है।

सोनेके पहले सर्वांग स्नान, या उससे भी अच्छा उदर-स्नान या मेहन-स्नान या पद-स्नान भी कर लेनेसे अच्छी नींद आती है। पाँव धोकर शय्यापर जाना तो अपना पुराना विधान है।

ठंढे जलसे सिरका स्नान और खोपड़ीकी मालिश बालको बढ़ाता है और गंजा रोगसे बचाता है। सिर नित्य धोना चाहिये और हाथसे अच्छी तरह मालिश करनी चाहिये। चुटकीमें लेकर खोपड़ीके चमड़ेको दबाना आवश्यक है। बाल-खोरेके लिये विषाक्त ओषधियां जो लोग सिरमें लगाते हैं, सिरकी पीड़ा, चक्कर, कानकी भनभनाहट, बहरापन, अन्धापन, मानसिक दौर्बल्य, चिड़चिड़ापन और पागलपनतक मोल लेते हैं। इन विषोंसे, जो ओषधिके नामसे दी जाती हैं, बचे रहना चाहिये। ठंढा पानी बालोंके लिये अमृत है। सिरपर ठढे पानीका

तरेरा देना बालोंको दृढ़ करता है। बालोंको नित्य अच्छी तरह साफ करनेसे साबुन, खली, मिट्टी आदि लगानेकी जरूरत नहीं पड़ती। अगर जरूरत कभी पड़े तो भी साबुन भरसक न लगावे, क्योंकि साबुन आदि क्षारमय लेपन बालोंके वैरी हैं। साबुन तेलका बना और अधिक तेलवाला ही, अत्यन्त आवश्यक होनेपर, लगावे। अत्यन्त रूखापन होनेपर त्वचापर या सिरपर तिल्लीका तेल लगाना बुरा नहीं है, परन्तु जो उपर्य्युक्त विधियोंसे नित्य शुद्ध ठंढे जलसे स्नान करता है, उसे ऐसा रूखापन प्रायः आनेकी नौबत नहीं आती। उजाले पाखके पहले सप्ताहमें बाल छोटे करानेसे बालोंकी वृद्धि अधिक होती है। पूरा मुंडन भी ऐसे ही कालमें बालोंके लिये उपकारी है।

गीली पट्टी और गीली चादरें

जल-चिकित्साका यह बड़े महत्वका अंग है। लूई कूनेने एक जगह इस विधिकी निन्दा की है, परन्तु हमारे अनुभवमें अनेक अवसरोंपर जहां स्नानकी और विधि कठिन थी गीली चादरने बड़ा काम किया है। पुरानी धोती, पुराने दुपट्टे, लुंगियां, तहमत, चादर भिगोकर सहज ही काममें आ सकती है। भीतरी गरमीसे ज्वाला उठ रही है, या भीतर मल और विष ठसा हुआ है, या रक्त ही एक स्थानपर एकत्र हो रहा है। ऐसी दशामें गीली पट्टीसे दाहकी शान्ति होती है, रक्तका संचार ठीक हो जाता है, त्वचाकी राहसे मलों और विषोंका उद्गार होने लगता है। रोगी जब ठंढा जल सह न सकता हो या

बदनकी गरमी घट गयी हो और प्रमितावस्थाकी अपेक्षा अधिक ठंढ आ गयी हो तो गुनगुने जलकी पट्टी काममें आ सकती है। नहीं, तो ठंढे जलका ही प्रयोग सर्वोत्तम है। कपड़ा पहले खूब तर कर लिया जाता है, फिर उसे हलकेसे निचोड़ लेते हैं कि बांधनेपर पानी इधर उधर निचुड़कर न बहे, फिर जहां आवश्यकता होती है वहां बांधते हैं।

पट्टी बांधनेकी सबसे उत्तम विधि यही है कि पहले गीला कपड़ा लपेटा, फिर ऊपरसे कई तह मोटे सूखे कपड़ेकी फलालैनकी या कम्मलकी चौड़ी पट्टी इस तरहपर लपेटी जाती है कि गीले कपड़ेके अन्तपर एक एक अंगुल सूखी पट्टी बढ़ी रहे। इस सूखी पट्टीका प्रयोजन यह है कि गरमीको सुरक्षित रखे और गीली पट्टीको शरीरकी गरमीसे खूब गरम हो जाने दे। इस प्रकार शरीरसे त्वचाकी ओर रक्तकी बाढ़ होगी, गरमीको लिये हुए मल और विषका उद्गार होगा। गीली पट्टीका पानी जल्दी न सूखेगा और अपनी क्रिया करता रहेगा। विधान यही है। रोगीकी अवस्था, देश और कालकी आवश्यकता देखकर गीली पट्टी एक या कई तहोंकी हो सकती है, सूखी पट्टी बढ़ायी जा सकती है, या घटायी जा सकती है, या एकदम निकाल दी जा सकती है। ज्वरका दाह जितना ही अधिक होगा और शरीर जितना ही सक्षम और बलवान होगा उतनी ही गीली पट्टीकी आवश्यकता अधिक और सूखी पट्टीकी कम होगी। रोगीकी प्राणशक्ति जितनी क्षीण होगी, ज्वर जितना

कम होगा, सहन और प्रतिक्रियाशक्ति जितनी कम होगी, उतनी ही कम गीली और अधिक सूखी पट्टीकी आवश्यकता होगी। जीर्ण रोगोंमें जहां शीत हो, और पीड़ा या मलों और विषोंको इसी प्रकार दूर करना उचित जँचे, या नींद लानी हो, या उद्गारको सहायता पहुँचानी हो तो एक तह गीली पट्टी काफी होगी जिसके ऊपरसे दो तीन तह सूखी पट्टीका होना प्रतिक्रियाके लिये आवश्यक होगा। कुछ लोग पट्टियोंको सिरका आदि ओषधियोंसे गीला करते हैं, परन्तु इसकी चर्चा हम मृत्तिका-चिकित्सामें करेंगे।

ज्वर जितना ही उग्र हो, तापक्रम जितना ही ऊंचा हो, उतना ही अधिक गीली पट्टीकी आवश्यकता होती है, जब जब सूखे फिर फिर बदली जाती है। गीली पट्टीसे तापक्रम घट जाता है, परन्तु इतना नहीं घट जाता कि शीत आ जाय। घटता इतना ही है कि सरसाम पैदा करनेवाला तापक्रम न रहे, दाहका कष्ट रोगीका कम रहे। ज्वरको बिलकुल दूर कर देना न तो अभीष्ट है और न पट्टीसे वह दूर हो ही जाता है। साधारण सरदी जुकाममें गलेमें और कुरता भर गीली पट्टी शामको बांधे और सबेरे उतारकर ठंढी मालिश करे और ठंढे जलका नास ले। चेचक, आंत्रज्वर, फुफ्फुसज्वर, वलयरोग, मस्तिष्कावरणपाक आदिमें तो गीली पट्टी ज्यों ही सूखकर तपने लगे त्यों ही बदल दी जानी चाहिये। ऐसी बीमारियोंमें तो उचित है कि कई जोड़ी पट्टियां बराबर तैयार रहें, क्योंकि जो शरीरपर

स्वास्थ्य-साधन, भाग १, पृ० ३०५ के सामने

सिरमें लपेटनेवाली गीली पट्टी।

(ल्यूक ऐंड फार्बससे)

लग चुकी हैं उन्हें बहुत अच्छी तरह साफ करना और धोना और फिर धूपमें फैलाकर अच्छी तरह सुखा लेना अनिवार्य्य है। बहुत दिनोंतक चलनेवाले अन्तर्दाहवाले ज्वरोंमें तो गला, मध्यशरीर और टांगोंमें बारी बारीसे पट्टी बांधनी चाहिये। जैसे गले और मध्यशरीरकी पट्टी उतारी तो टांगोंकी पट्टी बांधी। टांगोंकी उतार ली तो गले और पीठ पेट वक्षस्थलादिकी बांध दी। इस विधिसे रक्तसंचारमें समानता आती जाती है।
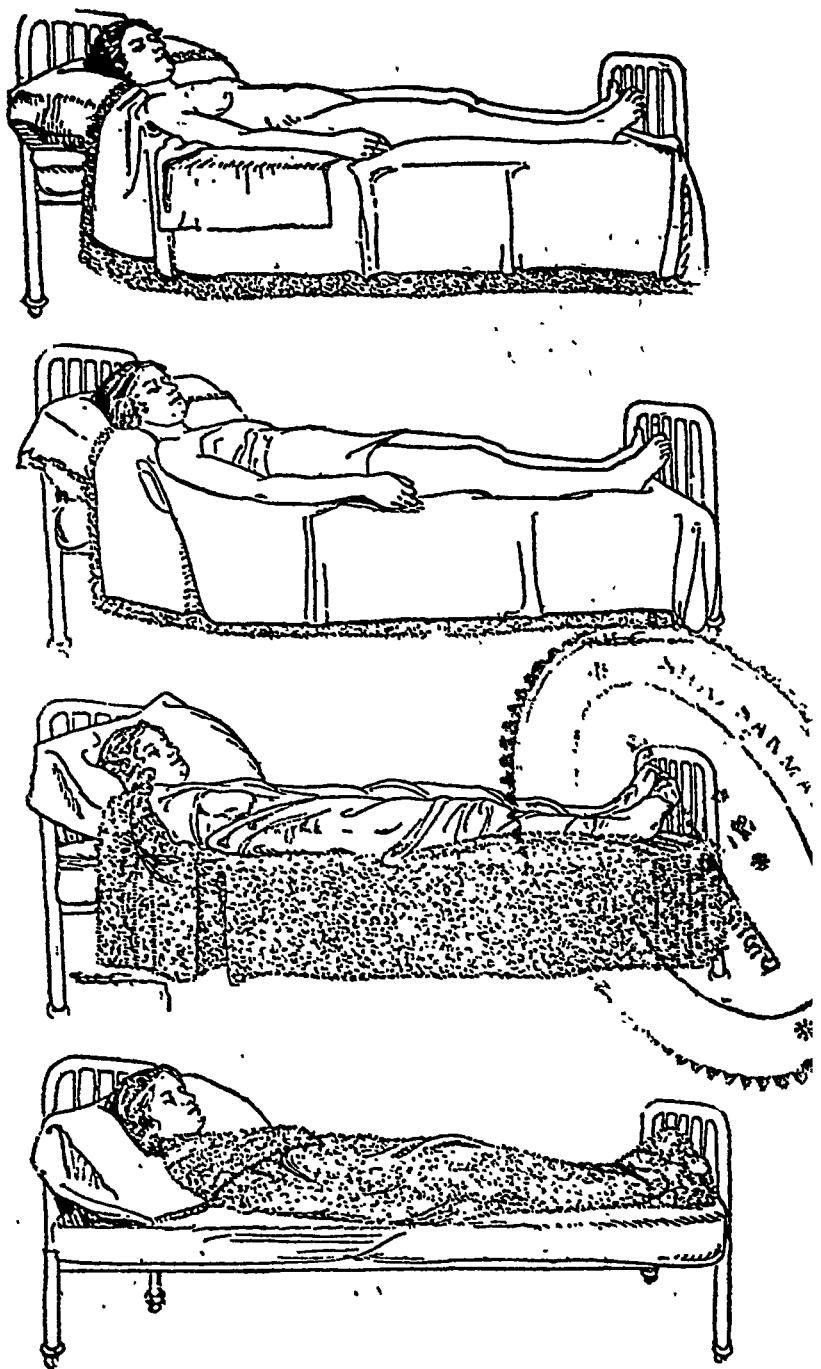
जब जब पट्टी उतारी जाय, जिस अंगपर पट्टी बँधी थी ठंढे पानीसे अँगौछेको भिगोकर उस अंगको रगड़कर साफ करना चाहिये। इस क्रियासे (१) त्वचातलपर आया हुआ विष और मल साफ हो जाता है, (२) त्वचाकी प्रतिक्रिया अधिक अच्छी हो जाती है, (३) गरमीकी आंच अच्छी तरह निकलने लगती है, और (४) शरीरकी विद्युच्चुम्बक शक्ति बढ़ जाती है।

सर्वांग पट्टी या चादर

ऋतुकी आवश्यकता, कमरेकी गरमी और रोगीके शरीरकी दशा समझकर तीन या चार तह कम्बल एक चारपाईपर साट-कर फैलाओ। ठंढे पानीमेंसे निचोड़कर एक चादर उसीपर बिछा दो। इसपर एक दुपट्टा इस तरह ऐसी जगह बिछाओ कि पूरा धड़—कंधेसे लेकर नितम्बोंतक—लपेट सको। यह भी ठंढे पानीसे भिगोकर निचोड़ा हुआ हो। अब रोगीको इसी शय्या-पर लिटा दो और हाथोंको बाहर निकालकर झटपट धड़को लपेट दो। फिर चादर सारे शरीरभर पूरी झटपट लपेट दो, इस

तरहपर कि हाथोंके बीच बीच और टांगोंके बीच बीच सटाकर सेफ्टी पिन लगा दी जाय कि गीले कपड़ेसे सब अंग पूर्णतया आवृत हो जाय। अब पहला कम्बल उठाकर अच्छी तरह गरदनसे लेकर पावोंकी अंगुलियोंतक लपेटकर ढक दो। दूसरे और तीसरे कम्बलसे भी ऐसा ही करो और जहां जहां जरूरत पड़े पूरा बन्द कर देनेको सेफ्टी पिनोंसे काम लो। दस पांच मिनिटके भीतर ही रोगीको पसीना आ जाना चाहिये, या कमसे कम उसे साधारण रीतिसे गरम मालूम होना चाहिये। अगर उसे देरतक ठंढ मालूम हो तो उसके शरीरके दोनों ओर दो तीन गरम पानीकी बोतलें या गरम ईंटें फलालैन या खद्दरमें लपेटी हुई रख दो और कुछ और कम्बलोंसे रोगीको लपेट दो। जबतक सह सके तबतक रोगीको इसी तरह रहने और पसीना आने दो। यह क्रिया आधे घंटेसे अधिक न करनी चाहिये नहीं तो रोगी अत्यन्त थक जायगा।
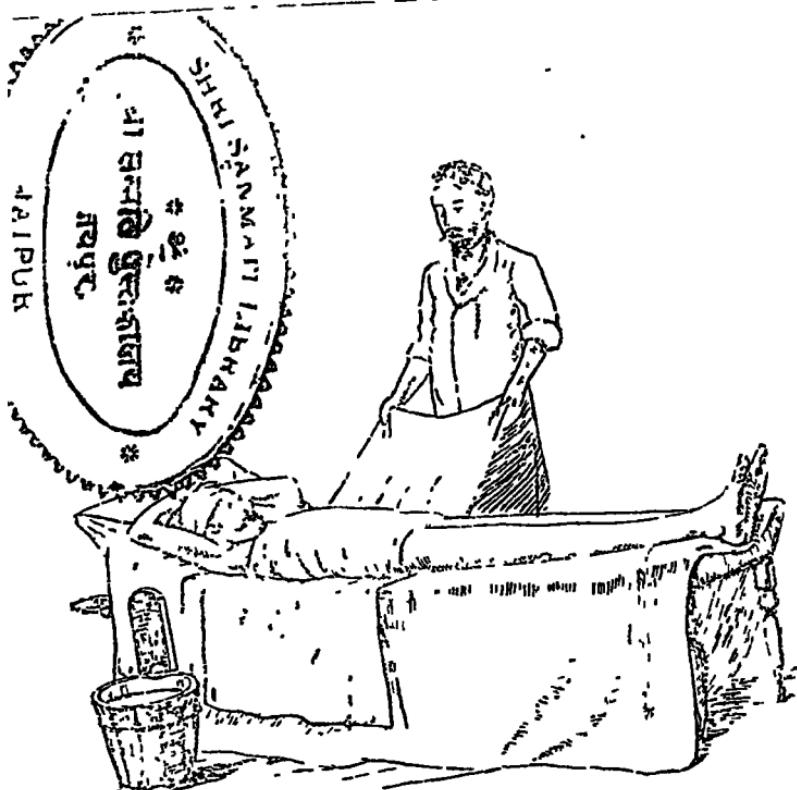
सिर और कानकी पीड़ामें सिरकी पट्टी प्रायः आराम देती है। भीतरी रक्तसंचयको बाहरकी ओर फैलाकर पीड़ा हरनेके लिये सिरके चारों ओर कानोंके समेत पट्टी बांधते हैं। विधि वही है। परन्तु इसमें एक भारी दोष यह है कि जहां सिरके भीतरी संचयको यह विधि बाहरकी ओर लावेगी वहां और अंगोंसे रक्त खींचकर सिरकी ओर लावेगी और सिरका रक्तसंचय बढ़ावेगी। इसीलिये शिरोवेदना आदिके लिये भी पावोंकी, या गलेकी पट्टी बांधी जा सकती है और लाभ पहुँचा सकती है, क्योंकि
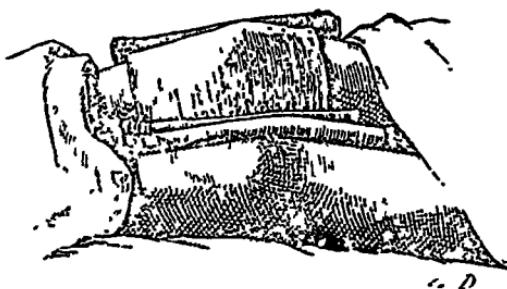
सर्वांग पट्टी या चादर लपेटनेकी विधि [लिंडलार]
स्वास्थ्य-साधन भाग १, पृ० २०६ के सामने ।

....+....

मूल्य २॥ रु०

केवल धड़की गीली पट्टी । परन्तु सारे
शरीरको लपेटना आवश्यक है ।

जोड़पर पट्टी लपेटनेकी विधि [लिंडलार]

स्वास्थ्य-साधन, भाग १, पृ० ३०७ के सामने ।

इस विधिसे सिरका रक्त नीचेकी ओर खिंच आता है। साथ ही सिर, चेहरा और गर्दनको धोया या ठंढे गीले अंगौछेसे पोंछा जा सकता है। गरम तलसे जलके वाष्प बनके उड़ जानेसे ठंढक और ताजगी आती है बिजलीकी धारा चलने लगती है।

गलेकी गीली पट्टीका महत्व और अंगोंकी पट्टीसे इसलिये अधिक है कि सिरकी ओर जानेवाली और सिरसे आनेवाली सभी रगें गरदनसे होकर जाती आती हैं और अधिकांश ऊपरी तलपर या ऊपरी तलके पास पड़ती हैं, जिससे पट्टीका काम उत्तम रीतिसे होता है, रक्तकी गरमी सहज ही खींची जा सकती है और शरीरभरपर इसका प्रभाव पड़ता है। साथ ही गला फूल आया हो, गरदन और कंठके नीचेकी गांठें फूल आयी हों, जुकाम सरदी खांसी हो तो पट्टी अवश्य लाभ पहुंचाती है। पट्टी लपेटनेकी विधि सीधी सादी है। विस्तारकी आवश्यकता नहीं है।

फुफ्फुसप्रदाह (निउमोनिया) उग्र खांसी, आदि वक्षःस्थलके रोगोंमें दोनों हाथ और बांह छोड़ कांखोंके भीतरसे लाकर सारे पसलियोंके नीचेतक गीला दुपट्टा लपेटकर सूखा कम्बल लपेटना चाहिये। अगर लम्बी धोती हो तो जितना अंश पहली लपेटमें आवे उतनी गीली रहे, शेष सूखी लपेट दी जाय। पेटकी पीड़ा, पेडूकी पीड़ा, वस्तिमें व्यथा या सूजन या योनिकी ग्रंथियोंमें सूजन हो, अथवा यकृत, प्लीहा, आमाशय आदिमें रोग हो तो पूरे धड़को गीली पट्टीसे बांधना चाहिये। हँसुलीसे जंघोंतक

....+....
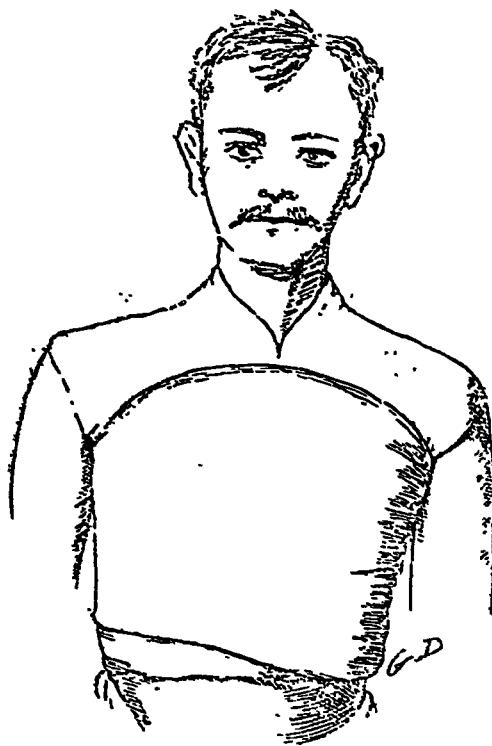
इस पट्टीके द्वारा ढकना चाहिये। जब पट्टी सूख जाय और गरम हो जाय तब बदल दी जानी चाहिये।

जोड़ोंकी पीड़ा, सूजन, गंठिया आदिमें जोड़ोंपर गीली पट्टीका प्रयोग करना चाहिये। सूजन तो इस विधिसे जल्दी ही दूर हो जाती है। गंठियामें तो चमत्कार सा होता है।

बहुत थोड़े क्षेत्रफलोंमें जहां कहीं कष्ट हो वहां एक रूमाल या तौलियाको—जैसी आवश्यकता हो—कई तहें करके गीला रखकर ऊपरसे सूखी पट्टी फलालैन आदि बांध सकते हैं। सारे धड़की पट्टी बांधनेकी आवश्यकता नहीं है। मान लीजिये कि नाभिके नीचे विशेष रूपसे सूजन भी है। इसलिये पट्टी बांधते समय उस स्थानपर गीली गद्दी रखकर बांधनेसे सूजनपर विशेष प्रभाव पड़ेगा।

ठंढे जलके प्रयोगसे लाभ

हमने इस प्रकरणमें बराबर ठंढे जलका ही प्रयोग बताया है। वस्तुतः ठंढा जल अत्यंत लाभकारी और महत्वकी चीज है। हम अन्यत्र दिखा आये हैं कि ओषधियोंकी क्रिया और प्रतिक्रिया दोनों होती है। क्रिया तात्कालिक और अस्थायी होती है, प्रतिक्रिया उलटी होती है, कुछ देरमें होती है और प्रभाव टिकाऊ होता है। ठंढे जलसे पहले ऊपरी भाग ठंढा हो जाता है, गरमी घट जाती है, रक्त दूर चला जाता है, विद्युत्की क्रिया मन्द हो जाती है, पसीना नहीं होता—यह सब तात्कालिक और अस्थायी लक्षण हैं। परन्तु स्वभावकी ओरसे इन
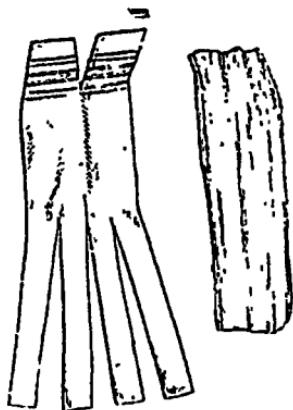
वक्षःस्थलकी पट्टी

स्वास्थ्य-साधन, भाग १, पृ० ३०८ के सामने।

कंठ और तालुग्रंथि या
तंसकके लिये पट्टियाँ

डाकटर केलागकी
पट्टी

गर्दनकी पट्टी

प्रभावोंके उत्तरमें इनके विपरीत प्रतिक्रिया होती है जो अधिक दृढ़ और टिकाऊ होती है। त्वचाकी ओर रक्त दौड़ता है, त्वचा गरम हो जाती है, वैद्युत स्फूर्त्ति बढ़ जाती है, पसीना होने लगता है, अंगस्थ मलों और विषोंका उद्गार होने लगता है, उग्र और जीर्ण रोग पैदा करनेवाले रोगकण बटुरकर उस अंगसे निकलनेका उद्योग करने लगते हैं। गरम पानीसे इन सबके विपरीत क्रियाएँ होती हैं। इसीलिये गरम पानी,—विशेष अवस्थाओंको छोड़कर जिनकी चर्चा ताप-चिकित्सामें होगी,—वर्जित है। ठंढे जलसे स्वाभाविक क्रियाओंको अथवा प्राणशक्तिको उत्तेजना मिलती है। सारा रहस्य यही है। यदि प्राणशक्ति क्षीण है, प्रतिक्रिया नहीं हो सकती, वा अत्यन्त कम होती है, तो ठंढे पानीका प्रयोग व्यर्थ है। साथ ही यह भी याद रहे कि अत्यन्त ठंढकका प्रयोग उभारको दबा देता है। बरफ दबानेका काम करती है। इसका प्रयोग अत्यन्त गरम देशकालमें जलको कुछ ठंढा करनेके लिये ठीक है, परन्तु सिरपर रखना वा रोगीके किसी अंगसे संलग्न करना अथवा बरफके लगभग अत्यन्त ठंढा जल भी रोगको जीर्ण करने और उभारको दबा देनेका असर रखता है। ठंढे जलका प्रयोग भी अपनी हद रखता है। देशकालपात्रके विचारसे कमी बेशीकी अटकल चिकित्सकको कर लेना चाहिये। कितनी प्रतिक्रियाकी आवश्यकता है और रोगीके स्वभावसे कितनी संभव है, यह प्रत्येक रोगीके स्वभावपर अवलम्बित है। "अति" से बचना

आवश्यक है। इसीलिये ठंढे जलका "अतिप्रयोग" हानिकारक हो सकता है। अतिप्रयोगसे बचते हुए विचारवान चिकित्सकको जलचिकित्सासे तनिक भी डरनेकी आवश्यकता नहीं है। लेखक स्वयं साप्ताहिक ज्वरसे पीड़ित था। सातवें दिन निर्णयावसरपर बड़ा कष्ट था। अन्तर्दाह भयंकर था। पानीसे पेट भर गया था, प्यास बुझती न थी, ज्वाला धधकती थी, १०५° फसे ऊपर ज्वर बढ़नेपर था। सारे शरीरमें पित्ती उछली हुई थी। मित्र और डाकटर सभी चिन्तित थे, पर होमियोपैथोंको छोड़ कोई स्वाभाविक चिकित्सा करनेवाला न था। इधर अलोपथी मंजूर न थी। रोगीने कितना ही अनुनय विनय किया कि गीली चादरसे उसे लपेटकर खूब उढ़ा दिया जाय, परन्तु कोई सुनता न था। पत्नीके हाथसे चादर छीन ली गयी, पानीका घड़ा हटा दिया गया, क्योंकि मित्रोंका अलोपैथोंपर विश्वास था और वह गीली पट्टीसे निउमोनियाका भय कर रहे थे। रोगीने किसी बहाने अपने कमरेसे सबको हटवाया और कमरा बन्द कराके पीनेके पानीसे अंगोछा भिगवाकर शरीर पोंछवाया और सुखाया। आनकी आनमें दाह मिट गयी। पसीना आने लगा। प्यास बुझ गयी। ज्वर घटकर १०२॥° फ हो गया। शान्ति आ गयी। बेचैनी मिट गयी। पित्ती गायब हो गयी। यद्यपि ज्वर फिर बढ़ा और १०४॥° फतक फिर पहुँचा, पर रोगीको कोई कष्ट न था। खूब पसीना आ रहा था। इस समय मित्रगण और डाकटर फिर कमरेमें आ गये थे। जब

इस क्रियाद्वारा जो लाभ हुआ था उसका हाल सुना तो एक डाकटरने देखकर कहा कि ज्वर फिर बढ़ रहा है और अब अधिक वेगसे बढ़ेगा। १०४॥ होनेपर सिरपर बरफ रखनेकी तजवीज हुई। रोगीने मना किया ! ठंढे जलका ही प्रयोग होने दिया। निर्णयावसर था ही, बीत जानेपर ज्वर अपने आप उतर गया।

अन्तर्दाह पानी पीनेसे क्यों नहीं बुझती थी ? पित्तके प्रकोपसे सारे शरीरमें रक्तसंचारका वेग बढ़ा हुआ था। केवल पेटकी ज्वाला ही न थी जो शीतलता मांगती थी, जिसको जलकी आवश्यकता थी। जलकी आवश्यकता त्वचाको विशेष रूपसे थी। ठंढे जलसे पोंछते ही इसीलिये प्यास मिट गयी। रोम-कूप मलों और विषोंसे ठसे हुए थे। उनका मार्ग खुल गया। इस प्रतिक्रियासे पेटका जल भी शीघ्रतापूर्वक रस रसकर शरीरके ऊपरी भागतक पहुंचा और मलों और विषोंको बराबर पसीनेके रूपमें निकालने लगा। देर केवल पोंछनेकी थी। इतने-पर ही सारी क्रियाएं स्वभाव अनुकूल रूपसे करने लगा। स्वभाव-को सहायता देनेको ठंढे जलसे पोंछना भी बहुत लाभकारी होता है। रक्तसंचार और मलोद्गारकी क्रियाओंका विस्तार हम इस पुस्तकके आरंभमें कर आये हैं। उनपर पूरा ध्यान रखनेवाला समयपर ठीक उपाय कर सकता है। ऊंचे या बढ़े हुए ज्वरमें इस क्रियासे कुछ आराम मिल जाता है, परन्तु थोड़े ज्वरमें न तो इस क्रियाकी आवश्यकता है और न पट्टीकी कूनेका उदर-स्नान पर्याप्त होता है।

इस प्रकरणमें हमने जलके प्रयोगके सिद्धान्त और उदाहरण-मात्र दिये हैं। हमारे देशमें ठंढे देशोंकी तरह जल कोई भयानक चीज नहीं है। चिकित्सा करनेवाला अपने अनुभवसे विविध विभेद और असंख्य नुसखे बना सकता है।

(५) वायुचिकित्सा

जिस वायुमंण्डलमें हम रहते हैं उसमें एक ही प्रकारकी वायु नहीं है। जैसा हम जलके सम्बन्धमें कह आये हैं इस वायुके भीतर जलके भाफका बहुत बड़ा अंश है। भाफके सिवा मुख्यतः दो वायव्योंका मिश्रण है, चार भाग नत्रजन और एक भाग ओषजन। हम अन्यत्र बता आये हैं कि हमारा शरीर उन्नीस मूल पदार्थोंका बना है, उन उन्नीसोंमें यह दोनों वायव्य बड़े महत्वके मूल पदार्थ हैं। यह हमारी सांससे हमारे शरीरके भीतर निरन्तर प्रवेश करते रहते हैं। केवल हमी नहीं समस्त प्राणी जो चलते फिरते हैं इन्हें शरीरके भीतर ले जाते हैं। इन दोनोंके सिवा कर्बनद्वयोषिद वायु भी दस सहस्रमें चार अंश-तक वायुमंडलमें मौजूद है। अत्यन्त थोड़ी मात्राओंमें कहीं कहीं रासायनिक क्रियासे उपजे और वायव्य भी मिलते हैं। शुद्ध वायुमें कमती बढ़ती भाफ, चार भाग नत्रजन, एक भाग ओषजन, दस सहस्रमें चार भागमात्र कर्बनद्वयोषिद होना चाहिये। ओषोण वायु भी कहीं अत्यल्प मात्रामें हो तो स्वास्थ्यके लिये बहुत हितकारी है। हरे भरे मैदानमें जहां सूर्य्यकी किरणें खूब फैली हों, सड़ी गली गंदी चीजें न हों, स्वच्छ जलाशय हो, अवश्य ही शुद्ध वायु मिलती है।

जिस वायुको हम सांससे भीतर ले जाते हैं उसमेंसे नत्रजन

बिल्कुल अकर्म्मण्य है। भीतर जैसा जाता है वैसा ही लौट भी आता है। ओषजन लौटकर नहीं आता। ओषजन जाते ही फुप्फुसमें रक्तसे मिलता है। नीले रक्तको शोधकर लाल कर देता है। यह लाल रक्त शिरामार्गसे हृदयमें लौटता है और वहांसे धमनियोंमें होकर फिर शरीरमें चक्कर लगाता है। नीले रक्तसे कर्वनद्व्योषिद् निकलता है। वही प्रायः बाहर निकलनेवाली सांसका मुख्य अवयव है। उसके साथ ही नत्रजन, बहुतसा वाष्प और आंगारिक मल भी निकलते रहते हैं।

नत्रजनको हम अकर्म्मण्य बता चुके हैं। जैसी परिस्थितिमें इस वर्त्तमान संसारमें नत्रजन है अवश्य ही अकर्म्मण्य है। चर प्राणी तो इसका चोषण करता ही नहीं। दालकी जातिवाले कुछ पौधे इसे अपने लिये अच्छे परिमाणमें खींच लेते हैं। शेष तो जो कुछ चोषण करते हैं वह नहींके बराबर है। धरती कुछ अधिक चोषण करती है। नत्रजनका साधारणतया किसी मूल पदार्थसे संयोग नहीं होता।

ओषजनकी उलटी दशा है। यह इतना कर्म्मण्य है कि संसारमें नत्रजन सरीखे पांच सात ही मूल पदार्थ हैं जिनसे साधारणतया इसका सीधे रासायनिक संयोग नहीं होता। शेष सबसे ही बड़े वेगसे मिलता है। मिलनेका वेग इतना प्रचंड है, इतना भयंकर है, कि जीवनका रहना ऐसी दशामें असंभव होता है। लोहे तांबे आदिका मुर्चा, मनुष्यकी सांस, वस्तुओंका

सड़ना, आगका जलना सभीमें ओषजनकी संयोजन-क्रिया है। सेब काटिये, हवा लगी और ऊपरी तलका रंग बदला। दूध गायके थनसे निकला और उसपर ओषजनकी क्रिया हुई। यह सब तो ऐसी दशामें है कि ओषजन पंचमांशमात्र है। नत्रजन तो जलने जलानेसे मतलब नहीं रखता। बल्कि शुद्ध नत्रजन तो जलते ईंधनको, ओषजनाभावमें, बुझा देता है। आखिर जलना इस जगत्‌में है क्या? केवल किसी पदार्थका ओषजनसे मेल। वायुरूपमें ओषजन घेरे हुए है, उसीसे चतुर्दिगावृत वस्तु सहज ही दह्य कही सुनी जाती है। परन्तु तत्त्व यह है कि यदि ओषजन स्वयं दह्य कहानेवाली चीज़से घिरा हो, तो जलेगा ओषजन और दाहक होगी वह वस्तु। अतः दाहकता और दह्यता वस्तुतः अन्योन्याश्रित गुण हैं। शुद्ध ओषजनमें तो लोहा आतशबाजीकी तरह छूटता जलता है। यदि कहीं शुद्ध तो क्या बल्कि वायुमंडलमें आधों आध भी ओषजन होता तो तवेपरकी रोटी मय तवेके कागजकी तरह भकसे जल जाती। सिगरेट या तम्बाकू पीना असंभव था। धुआं तो होता ही नहीं। जिन बरतनोंको आंचपर चढ़ाते वह जल जाते हिन्दुओंको रसोई बनाना कठिन हो जाता। हम सांस लेते तो इतनी जल्दी भोजन भस्म हो जाता कि हम दिनरात भोजनकी ही चिन्तामें रहते और हमारा बहुत जल्दी शरीरक्षय हो जाता। स्पष्ट है कि ओषजन बड़ा उग्र दाहक है। इसीलिये चौगुने अकर्मण्य नत्रजनमें एक ही अंश ओषजन

मिलकर अत्यन्त हलका घोल सा बन गया है, जिसमें ओप-जनकी उग्रता अत्यन्त घट गयी है और जितनी उग्रता विद्यमान है, संसारकी वर्त्तमान स्थितिकी रक्षाके लिये उतनी उग्रता पर्य्याप्त है। यह ओषजनकी दहन-क्रिया ही है जिसकी बदौलत नीला रक्त शुद्ध होकर लाल हो जाता है। इसीका नाम आयु-र्वेदमें विष्णु-पद्मामृत है क्योंकि ओपजनके द्वारा ही वैष्णव प्राण-शक्ति आती है और ओषजनका रंग भी, जमी दशामें नीलाभ है। जलका रंग भी नीलाभ है। प्रौढ़ मनुष्यके फुप्फुसका रंग भी नीलाभ है। एक बात और भी यहां समझ लेनी चाहिये। ओपजनकी उग्रता कितनी ही हो, यदि जल-वाष्प या जलका किसी प्रकारका सम्बन्ध या उपस्थिति न हो तो दहन-क्रिया असंभव है, उग्रताका सर्वथा अभाव है, नत्रजनकी सी अकर्म्मे-ण्यता है। अनेक रासायनिक क्रियाओंमें जलका ऐसा ही रहस्यमय प्रभाव है कि नितान्त अनार्द्रतामें रासायनिक क्रिया होती ही नहीं। हमारे लिये इसकी कोई शिकायत नहीं है क्योंकि शरीरके भीतर और बाहर वायुमंडलमें समस्त जल ही जल तो है।

चर प्राणी केवल फेफड़ोंसे सांस नहीं लेता। त्वचाके रोम-कूप भी सांसके भारी साधन हैं। इनसे भी वही शोधन क्रियय बराबर होती रहती है। परन्तु अचर प्राणी भी सांस लेते हैं। पेड़, पौधे, पत्तियां भी सांस लेती हैं। रातमें कर्बनद्वयोपिद अच्छे परिमाणमें निकलता है और दिनमें वायुका कर्बनद्वयोपिद

बराबर खिंचकर पत्तियोंमें प्रवेश करता रहता है और उनसे ओषजन बाहर निकलता रहता है। स्पष्ट है कि उद्भिज्जों और चर प्राणियोंमें एक दूसरेकी उलटी क्रिया होती रहती है। दोनोंका अन्योन्याश्रय है। ऐसा न होता तो हम जो कर्बन-द्वयोषिद् बाहर निकालते रहते हैं, उस मलसे वायुमंडल भर जाता और एक भी चर प्राणी जीता न रहता। साथ ही, यदि चर प्राणी इस मलको, जो कि उद्भिज्जोंका प्राण है, निकालते न रहते तो उद्भिज्जका जीना असंभव था। वह भी जो मल, ओषजन, निकालते रहते हैं चर प्राणियोंका जीवनप्राण है। इस तरह परस्पर विनिमयसे वायुमंडलका मिश्रण स्थिर रहता है। सभी वायव्य उचित मात्रा और स्थिर निष्पत्तिमें बने रहते हैं। इस प्रकार यह प्रवर्त्तित विष्णुका चक्र सारे संसारकी निरन्तर रक्षा करता रहता है और चराचर इस चक्रकी रक्षा-क्रियामें बँधा हुआ है।

इस तरह सचराचर जगत्‌को वायुकी आवश्यकता है। जल जीवन है, वायु प्राण है। जीवनप्राणसे ही संसार चल रहा है। अब हमें यह समझना चाहिये कि मनुष्यके शरीरमें वायुकी क्रिया किस प्रकार होती है।

रक्तको शुद्ध करनेके लिये शरीरमें प्रधानतः फुप्फुस, वृक्क और त्वचा हैं। इनके सिवा यकृत प्लीहा और अनेक ग्रंथियां भी हैं। इनका वर्णन संक्षेपसे आरंभमें प्रत्यक्ष शारीरवाले अध्यायमें हम कर आये हैं। श्वासमार्गका द्वार नाकके दोनों छेद

हैं। यहांकी दोनों सुरंगोंके द्वारा वायु भीतर घुसती है, नाकसे उतरकर कंठमें जाती है। इस क्रियामें वायु छन जाती है, गरम हो जाती है, आर्द्र हो जाती है। कंठसे स्वरयंत्रमें, स्वरयंत्रसे टेंटुएमें, टेंटुएसे श्वासप्रणालियोंमें होकर अनन्त शाखाओं और रंध्रोंद्वारा दोनों फुप्फुसोंमें वायु व्याप जाती है। यहीं फुप्फुस-धमनीके द्वारा हृदयसे श्यामल गंदा रक्त आता है और फुप्फुसके भीतर फैली हुई केशिकाओंमें यह श्यामल रक्त व्याप जाता है। फुप्फुस तो वायुमंदिरों और केशिकाओंसे ही भरा है। केशिका और वायुमंदिरके बीचका परदा ऐसा रंध्रमय है कि इधरकी वायु उधर और उधरकी इधर सहज हो गौंज सकती है। श्यामल रक्त तो कर्बनद्व्योपिद वायुसे भरा आता है। बस, यहां ओपजन और कर्बनद्व्योपिदकी अदलाबदली होती है और वायुमंदिरोंका शुद्ध वायु कर्बनद्व्योपिदके आधिक्यसे अशुद्ध होकर और प्रायः अपने पंचमांश ओपजनको खोकर प्रश्वासरूपमें फिर लौटता है। रक्ताणुओंका रंग कणरंजकके कारण होता है जो एक प्रोटीन है जिसमें लोहा भी युक्त है। जिस रक्तमें केवल कणरंजक है और कर्बनद्व्योपिद अधिक है वह रक्त श्यामल होता है। जिसमें कणरंजकौपिद है और कर्बनद्व्योपिद कम है वह लाल होता है। फुप्फुसमें रक्त जितना ओपजन चूस लेता है उसमेंसे अधिकांश कणरंजकसे युक्त होता है और शेषांश रक्ताम्बुमें मिल जाता है। धमनी-द्वारा केशिकाओंमें पहुँचकर फिर यही रक्त सारे शरीरमें

व्यापता है और कर्णरंजकसे अलग होकर ओषजन शरीरके और कणोंमें समा जाता है और क्षीयमाण कणोंसे कर्बनद्व्योषिद निकलकर रक्तमें मिल जाता है और केशिकाओंके ही द्वारा श्यामल रक्तके रूपमें शिरामार्गसे यही मलाक्त रक्त फिर फुप्फुसमें पहुँचता है। कर्बनद्व्योषिद् रक्ताम्बुमें घुलता है। यहां उसे सोडा कर्बनेत मिलता है। इससे संयुक्त होनेसे सोडियम द्विकर्बनेत भी बनता है। फुप्फुसमें द्विकर्बनेतसे भी निकलकर कर्बनद्व्योषिद् प्रश्वासमें चला जाता है। उच्छ्वास, प्रश्वास दोनोंमें नत्रजन ज्योंका त्यों आता जाता है। उसकी मात्रामें अन्तर नहीं पड़ता। सांस लेनेमें लगभग २१ भाग ओषजन और अत्यल्प कर्बनद्व्योषिद् और जलवाष्प हम भीतर ले जाते हैं, पर सांस निकालनेमें १६ भाग ओषजन ४॥ भाग कर्बनद्व्योषिद् और ६ भाग जलवाष्प निकालते हैं। साधारण मनुष्य १०० मिनिटमें औसत एक वर्गफुट कर्बनद्व्योषिद् वायु निकालता है। स्वच्छ वायुमें विषैले वायव्य नहीं होते पर उच्छ्वास वायुमें थोड़ी मात्रामें कुछ विषैले वायव्य भी निकलते हैं।

रीढ़के ठीक शिरोभागपर मस्तिष्कके ठीक नीचे सुषुम्ना-शीर्षक है। इसी स्थानका नाड़ीकेन्द्र श्वासकर्म्मका शासन करता है। जिस विशेष नाड़ीके अधिकारमें श्वास-संयम है वह भ्रामक कहलाती है। यदि इस नाड़ीकेन्द्रको चोट पहुँचती है तो साँस रुक जाती है। मस्तिष्कके अधिक समीपवर्त्ती भ्रामक-

का सिरा उत्तेजित हो तो सांस तेज हो जाती है। चोट लगने-से सांस रुके तो इसी स्थानपर मालिश करनेसे श्वासकर्म्मका पुनः स्थापन हो सकता है। भ्रामक नाड़ी कट जाय तो सांस सुस्त हो जाती है। और नाड़ियोंके उत्तेजित होनेसे भी श्वास-कर्मकी उत्तेजना हो सकती है और वक्षःस्थल और उदरकी पेशियोंपर परावर्त्तन क्रिया होनेका सांसपर प्रभाव पड़ना अनि-वार्य्य है। एकाएकी सिरके पिछले भागपर ठंढा पानी डाल दें तो सांस गहरी लेकर रोक लेना पड़ता है, और डूबे हुए मनुष्यको जब कृत्रिम रीतिसे सांस लिवाया जाता है तब ऐसी रीतियोंसे हिलाया जाता है कि वक्षःस्थलकी पेशियां अनायास फैलने और सुकड़ने लगती हैं। ऐसी विधिसे श्वासकर्म्म फिरसे स्थापित हो जाता है। रक्तमें घुले हुए कर्बनद्वयोषिदकी मात्रा जब अधिक होती है तब पिंगला और सुषुम्ना नाड़ीचक्रमें उत्तेजना होती है, जँभाई आती है, सांस खींचनेवाली पेशियां सुकड़ती हैं, और फेफड़ोंमें ओषजन पहुँचानेको गहरी सांसें ली जाने लगती हैं। सांस लेने और निकालनेकी क्रिया त्वचा भी रोमकूपोंद्वारा करती है, परन्तु यदि श्वासोच्छ्वास संस्थान-द्वारा एक हजार अंश कर्बनद्वयोषिदका निकलता है तो त्वचा-द्वारा सात अंशसे अधिक नहीं निकलता।

पाचन-क्रियासे जो रस यकृतमें होकर रक्तमें परिणत होता और हृदयके भांडारसे धमनियोंमें पहुँचाया जाता है, वह क्षीण अंशका स्थान लेता है। द्रव्य-अंश ओषजनसे मिलता अथवा

जलता है। जितने आंगारिक पदार्थ पूर्णतया जलते हैं प्रायः कर्बन-द्वयोषिद् और जल बनाते हैं। भोजनके सभी पदार्थ आमाशय और पक्वाशयमें विविध रसोंसे मिलकर विविध रासायनिक विकारोंके अनन्तर जो कुछ रूप ग्रहण करते हैं उनका अन्तिम परिणाम यही दो पदार्थ हैं। कोयलेका संयोग ओषजनसे हो जानेका फल कर्बनद्वयोषिद् है। और जो कुछ हम भोजन करते हैं स्वादिष्टसे स्वादिष्ट व्यंजन प्रधानतः दो ही चीजोंके बने होते हैं—कोयला और पानी। शरीरसे बाहरकी दुनियामें जिस तरह हम वायुके सहारे कोयला पानीसे ही इंजन चलाते हैं, उसी तरह यह शरीरका इंजन भी इसी हवा, कोयला और पानीके सहारे चलता है। शक्कर, मंड, अरारोट, सागूदाना, आटा, चावल, प्रायः कोयला पानी ही हैं। ओषजन (ओष=आंच) आंच पैदा करनेवाली चीज है। वायुके ही सहारे शरीरमें गरमी बनी रहती है।

प्राणायाम

पेट और वक्षःस्थलके बीचमें एक बड़ी सी चिपटी सी उलटी तश्तरीकी तरह मांसपेशीका पट है जो दोनोंको अलगाये हुए है और ढके रहता है। सांस भीतर जाती है तो यह पट नीचेको उतरता है और पसुलियां ऊपरको उठती हैं। सांस जब बाहर निकलती है तब पसुलियां नीचेको बैठती हैं और पट ऊपरको चढ़ता है। सांस लेनेमें इस तरह क्रमसे पसुलियोंका और पटका चढ़ाव उतार होता रहता है। यह चढ़ाव उतार, रक्तका प्रवाह, विकारोंका

निकलता रहना और रक्तका संशोधन सांस लेनेसे जारी रहता है। प्राणायामसे इन सभी क्रियाओंका संयम होता है। वक्षःस्थलकी भित्ति साधारणतया बुढ़ापा आते आते कड़ी होने लगती है, परन्तु प्राणायाम करनेसे उसका लचीलापन बना रहता है। बुढ़ापेमें वक्षःस्थलकी भीतकी कड़ाईसे सूखी खांसी तंग करती है, कफ बाहर नहीं निकल सकता। प्राणायाम करते रहनेसे यह कष्ट नहीं होता। जाड़ोंवाली खांसी कम होती है। फेफड़ोंके समस्त जीर्ण रोगोंमें प्राणायामसे लाभ होता है। समाजके प्रसिद्ध सुधारक और हिन्दीके अच्छे लेखक और वेदान्ती स्वर्गीय रायबहादुर लाला बैजनाथको पुरानी दमेकी बीमारी थी। मैंने जिस समय उन्हें देखा था, वह नित्य प्रातः पूरे दो घंटे प्राणायाम करते थे। मेरे पूछनेपर उन्होंने बतलाया कि मैं इतना प्राणायाम न करूं तो दमा उखड़ आवे। प्राणायामसे ही प्राणोंकी रक्षा कर रहा हूं। फेफड़े जितने ही अच्छे और मजबूत होंगे, भीतें जितनी ही लचीली होंगी, खांसी फुप्फुस-प्रदाह और क्षयरोगका भय उतना ही कम रहेगा। छोटे कमजोर फेफड़े बहुत जल्दी क्षयरोगके शिकार हो जाते हैं। क्षयरोगकी ओर सहज प्रवृत्तिके लक्षणोंमेंसे यह एक विशेष महत्वका लक्षण है। फेफड़ेकी मजबूतीसे न केवल क्षयरोगसे मनुष्य बचता है, बल्कि हो जानेपर भी उसका अच्छा मुकाबिला कर सकता है, और क्षयरोगसे सहज ही मुक्त हो जाता है। दमेके लिये प्राणायाम अत्यन्त गुणकारी है। मेरे एक सहाध्यायीको

युवावस्थामें ही दमेका रोग था। नौकरीमें बाधा थी। डाक्टरने पास नहीं किया। उन्होंने प्राणायामके साधनमात्रसे अपनेको अच्छा कर लिया। सरकारी नौकरी की। अब पेंशन पाते हैं। उन्हें दमा बिलकुल नहीं है। वह जबर्दस्त प्राणायामी हैं।

प्राणायामसे जब रक्तके प्रवाहको सहायता मिलती है तो हृदयका परिश्रम कम हो जाता है, उसका बल बचता है और यह बचत उसे अधिक कालतक अपना काम करते रहनेमें सहायक होता है, अर्थात् प्राणीकी जीवनशक्ति वा प्राणशक्ति बढ़ती है और वह अधिक कालतक जीता है। प्राणशक्तिकी रक्षाके लिये विषों और मलोंका बराबर निकलते रहना आवश्यक है और हम यह अन्यत्र दिखा आये हैं कि वायव्य मलों और विषोंका बहुत बड़ा अंश बराबर निकलती रहनेवाली सांससे शरीरसे बाहर निकलता रहता है। प्राणायामसे रक्तका संशोधन अधिक होता है, स्वास्थ्यकी रक्षा होती है और प्राणशक्तिका ह्रास नहीं होता। ओषजन वायुका शोषण भी इस क्रियासे बढ़ जाता है। हृदयसे मस्तिष्कतक और सुषुम्ना-मंडलमें रक्तका प्रवाह संयमसे होने लगता है। हृदयके और दिमागके रोगोंका शमन होता है। वात-विकारोंका अच्छा संशोधन होता है। शरीरके अंग अंगके व्यायाममें एक भारी दोष यह होता है कि जिन जिन अंगोंका व्यायाम किया जाता है उनकी ओर रक्तका संचार बढ़ता है और पेटकी ओर कम हो जाता है, इसीलिये विना प्राणायामके व्यायामकी क्रियासे पाचन दुर्बल हो जाता है, कोठा बँध जाता

है, मलत्याग अच्छा नहीं होता। व्यायामके साथ साथ प्राणायामकी क्रिया ठीक रखनेसे, एवं अलग भी प्राणायाम करनेसे रक्तका प्रवाह पेटकी ओर यथेष्ट होता है और पाचनकी और मलविसर्जनकी क्रियामें पूरी सहायता मिलती है। प्रो० राममूर्त्तिका व्यायामके साथ ही प्राणायामपर जोर देना अत्यन्त उचित एवं स्वाभाविक है। इस तरह प्राणायामका लाभ रक्त-संचार, वात-संस्थान और पाचन-संस्थान तीनोंपर पड़ता है। तीनोंकी क्रियाएं प्राणायामसे उचित रीतिपर होती रहती हैं।

शरीर-विद्याके विशेषज्ञोंका कहना है कि अत्यंत मोटापेकी ओर कुछ लोगोंकी जो प्रवृत्ति हुआ करती है उसका कारण ओषजनका अपूर्ण शोषण है। प्राणायाम इस शोषणको प्रमितावस्थामें लाकर मोटापा नहीं आने देता, साथ ही ओषजनकी मात्रा बढ़ाकर चरबीके जलानेमें रक्तको सक्षम बना देता है। कुछ लोगोंका हेकलाना प्राणायामसे मिट गया है। कहते हैं कि श्वास ठीक रीतिसे न लेनेके कारण ही मनुष्य हेकलाता है, उसका श्वासपट ठीक समयपर उठता बैठता नहीं, इसी कारण उच्चारण करते करते स्वरभंग हो जाता है। प्राणायाम इस हेकलाहटकी स्वाभाविक दवा है। हिक्काके लिये तो यह सहज ओषधि है। पहले जल्दी जल्दी सांस लेकर फिर कुछ देरके लिये कुंभन कीजिये, यही विधि कई बार करनेसे हिचकी बन्द हो जायगी। रातको नींद न आती हो तो लेटे लेटे गहरी सांस लेते रहिये, नींद आ जायगी।

जीवनरक्षा और चिकित्साके लिये ठीक विधिसे सांस लेना कितना आवश्यक है, अब पाठक इस बातको समझ सकेंगे। ठीक रीतिसे सांस लेनेसे फेफड़ोंके भीतर वायुमंदिरोंकी समाई बढ़ जाती है जिससे अधिकाधिक विष्णुपदामृतका संचय हो सकता है। इसलिये बाल्यावस्थासे ही प्राणायामकी शिक्षा बालकोंको दी जाती थी। पांच बरसकी अवस्थासे ही ब्रह्मचारी प्राणायामकी बान डालता था और चौबीस बरसकी अवस्थातक जब कि शरीरके अनेक अंग एवं मस्तिष्क और नाड़ीमंडल पूर्ण विकासकी अवस्थाको पहुँचते हैं, प्राणायामकी क्रियाका विकास और संयम नियमादिका अभ्यास करता जाता था। यही जीवनका बीमा था, दीर्घायु और बलवान्, मेधावी और तेजस्वी होनेके लिये प्राणायाम भारी जमानत थी। यद्यपि आज गुरुकुलकी उस प्रथाका प्रचार नहीं है तथापि यह असंभव नहीं है कि शिक्षाविधिमें प्रत्येक बालकके लिये कवायद और कसरतके साथ ही साथ हम प्राणायाम भी आवश्यक बल्कि अनिवार्य्य कर दें। ठीक विधिसे अधिक नहीं आठ दिन भी कोई प्राणायाम करे तो उसे उसके सुफलसे अवश्य परिचय हो जायगा।

भोजन न करके महीनोंतक आदमी जीता रह सकता है। पानी विना कई दिन जीता रह सकता है। पर विना सांस लिये कुछ ही मिनिट जीता रह सकता है। भोजन और पानके विषयमें ठीक विधि जानना यदि महत्वकी बात है तो ठीक

विधिसे सांस लेना अधिक महत्वका प्रश्न है, प्राणशक्तिके बढ़ने या छीजनेका सवाल है। सांस सभी प्राणी लेते हैं पर विधिपूर्वक सांस लेनेमें सभ्यताने अनेक बाधाएं डाल रखी हैं, इसीसे सभ्य मनुष्य ठीक सांस लेना भूल गया है। गंदी हवासे भरे स्थानोंमें रहकर, अत्यन्त कसे और तंग कपड़े पहनकर, स्नानादिद्वारा श्वास-रंध्रोंको साफ न करके, नाकके बदले मुँहसे सांस लेकर मनुष्यने अपनी श्वासक्रिया इतनी अस्वाभाविक बना रखी है कि उसके अल्पायु होनेपर आश्चर्य करनेका कोई कारण नहीं रह जाता। इसी प्रकार कोई वस्तुतः फेफड़ोंके निचले भागको और कोई ऊपरी भागको पूरी तौरपर काममें नहीं लाता। सांस लेनेमें वक्षःस्थलसे पेटतक हिलता है, परन्तु कसे कपड़े इस गतिमें बाधक होते हैं। फेफड़ोंके जिन अंशोंसे काम नहीं लिया जाता उनमें अकसर कीचड़ और कफ सरीखे शरीरके स्राव इकट्ठे होते हैं और उस स्थानके मांसकण निष्प्राण हो जाते हैं। इस श्लैष्मिक मलके सूखनेसे और पथावरोधसे दमा हो जाता है। गीले रहनेपर यही क्षयरोगके कीड़ोंके पड़नेके लिये बड़ा ही सुगम और सुलभ क्षेत्र बन जाता है, क्योंकि प्रकृति इस जमे हुए कूड़े और मलकी सफाईके लिये अवश्य ही भंगी कीड़े भेजती है कि उसे साफ करें। प्राणीने यदि फेफड़ेमें इस प्रकारका कीचड़ बटोरना बन्द नहीं किया तो भंगियोंकी संख्या प्रकृति माताकी ओरसे बढ़ायी जाती है और अन्तमें

क्षयरोगका भीषण रूप प्रकट होता है। ओछी श्वासक्रियासे फेफड़ोंके प्रत्येक अंशमें ओषजन समा नहीं सकता और पूरी सफाई नहीं हो सकती। यही बात है कि एक तिहाई मृत्यु फेफड़ोंके ही रोगोंसे होती है। हमारा विश्वास है कि हमारे देशमें जहां भोजनके अभावसे सौमें दस मृत्युएं होती होंगी वहां सौमें नव्वे मौतें ओषजनकी कमीसे होती होंगी। शिक्षाके सभी अंगोंको एक ओर रखिये और प्राणायामको दूसरी ओर तो विचार करनेपर प्राणायामका महत्व और सब शिक्षाओंसे अधिक ठहरेगा और इस आवश्यक और अनिवार्य्य शिक्षामें समय और अर्थका व्यय प्रायः कुछ नहीं है।

जो सांस हम भीतर ले जाते हैं उसके साथ सूर्य्यकी किरणों-से संपृक्त ओषजन भीतर जाता है। भगवान् भास्कर इस सौर ब्रह्मांडके पालक पोषक और रक्षक विष्णु हैं। उनकी किरणोंसे निरन्तर जीवनकी अपरिमित धाराका प्रवाह बहता रहता है। इसी धारासे चराचरकी रक्षा और पुष्टि होती रहती है। यह धारा न केवल प्रकाश और तापद्वारा सब प्राणियोंमें प्रवेश करती है वल्कि ओषजनके साथ उसकी प्रचुर मात्रा श्वास-द्वारा भीतर जाती है। इसीलिये हमने आरंभमें ही ओषजनको विष्णुपदामृत वतलाया है। सूर्य्य ही विष्णु हैं। उनकी किरणें ही "कर" वा पद हैं। उससे संपृक्त ओषजन सचमुच विष्णुपदामृत है। वैज्ञानिक भाषामें हम इस तरह प्राप्त प्राण-शक्तिको उचित परिभाषाके अभावमें वैद्युत-चुम्बक शक्ति कह

सकते हैं क्योंकि विज्ञानने अभी जीवनशक्तिके सम्बन्धमें कोई जानकारी प्राप्त नहीं की है। प्राणायाम करनेवाला सप्तव्याहृतियोंके साथ साथ गायत्रीमंत्र और शिरसूकी आवृत्ति करता है और बड़े गूढ़ अभिप्रायसे करता है। संभव है कि व्याख्याभेद और मतभेदके कारण कोई हमारी व्याख्या न माने, परन्तु हमारा दृढ़ मत है कि प्राणायामके साथ जो मंत्रसंयुक्त ध्यान करते हैं उसमें सृष्टिका सारा रहस्य निहित है और आगत प्राणशक्तिका अपने जीवात्माके साथ आत्मीकरण अभीष्ट है। सच्चिदानन्द परमात्माकी उपासनाके समय प्राणायाम इसीलिये एक आवश्यक कृत्य है कि यद्यपि उस प्राणोंके प्राण और जीवनोंके जीवन विभुसे कभी हम अलग नहीं हो सकते तथापि उपासनाके समय हमारा ध्यान इस बातपर दृढ़ रहे कि उसी परमात्मासे हमारी वैयक्तिक सत्ता है और उसीमें उसीके आधारसे हमारा अस्तित्व है। इसीलिये प्राणायामकी महत्ता साधारण व्यायामकी अपेक्षा अत्यन्त ऊंची है और "धीमहि" सोचते समय वास्तविक और पूरे ध्यानका रहना प्राणायामकी पूरी उपयोगिताके लिये अनिवार्य है।

प्राणायामपरायणको अधिकांश खुलेमें रहना चाहिये और जिस कमरेमें सोवे उसकी खिड़कियां तो अवश्य ही खुली रहें। अगर कारबार बैठे बैठेका है तो मौका निकालना चाहिये कि बाहर खुले मैदान टहलनेको मिले। टहलनेमें भी नाकसे गहरी सांस लेता रहे, जिसमें फेफड़े पूरी तौरसे भर जाया करें

और फिर निकालते समय जितनी हवा निकल सके उतनी भरपूर निकल जाया करे। हां, इस प्रयत्नमें शरीरको अत्यधिक श्रममें न लगावे। "अति" से हानिकी संभावना है।

मुँहसे सांस कदापि न ले। नाककी झिल्लीमें बारीक रोएं हैं जो वायुको छानते और शुद्ध करते रहते हैं, धूल, रजःकण, और अन्य हानिकर सूक्ष्म वस्तुएं रोओंमें अटक जाती हैं, कभी कभी आवश्यक होनेपर छींकसे निकाल दी जाती हैं। यह रोएं और झिल्ली फेफड़ोंमें शुद्ध वायु छानकर भेजती है और ऐसी वस्तुओंको वहांतक जानेसे रोकती है जो श्वासमार्गकी श्लैष्मिक झिल्ली या फेफड़ोंके सूक्ष्म और कोमल प्रदेशमें घुस जायँ और कष्ट पहुँचावें। नाकसे होकर जानेवाली वायु फेफड़ों-में पहुँचनेके पहले गरम और आर्द्र भी हो जाती है। स्वभावने सांस लेनेके सारे सुभीते नाकके मार्गमें रखे हैं। मुँहके मार्गमें इन बातोंका बन्दोवस्त नहीं है। इसलिये सोते जागते कभी मुँहसे सांस नहीं लेना चाहिये।

सांस लेनेमें जिस तरह गहरी सांस लेनेकी आदत डालनी चाहिये उसी तरह भरसक यह भी आदत डाले कि जितनी देरमें सांस खींचे उसके दूने समयमें धीरे धीरे सांस निकाले। कुंभन-की बान डालनेकी जरूरत नहीं है।

खड़े होनेमें बिलकुल सीधा रहना भी आवश्यक है। बहुत कम लोग हैं जो ठीक सीधे खड़े होते या चलते हैं। गरदनका झुकना और बात है, परन्तु धड़को ठीक लम्बमें रखना चाहिये।

दीवारसे बिलकुल सटकर खड़े हो कि एड़ी, चूतड़, कंधे, भीतसे लग जायँ, और फिर गरदन इधर उधर झुकाकर जांच लो। अब उसी तरह सीधे चलने फिरनेकी आदत डालो। मेरुदंड, रीढ़, बिलकुल सीधी रखो। भीतसे नापते रहो। फिर देखोगे कि चाल-ढाल सुन्दर और सुडौल हो गयी। न अकड़ो, न झुको। सीधी रीढ़ रखनेसे फेफड़ोंकी नलिकाएं और क्रियाएं शुद्ध रहेंगी। सांसका काम सहज सुखकर और स्वास्थ्यकर होगा। यही बात है कि रातको तखतपर पतले तकियेके सहारे सोना भी स्वास्थ्यको लाभकारी है। इस विधिसे पाचन, रक्तसंचार और रक्तशोधनके ठीक रीतिपर होनेमें बड़ी सहायता मिलती है। मांशपेशियों और रक्तकणोंके विकासमें रुकावट नहीं पड़ती। सेलें और विशेष इन्द्रियोंका व्यापार ठीक रीतिपर चलता रहता है। शरीरका समस्त भार एड़ियोंपर पड़नेसे और शरीरका गुरुत्व केंद्र मध्यमें रहनेसे पेटके अवयव यथास्थान रहेंगे और उनके बन्धनोंपर अनुचित खिंचाव न पड़ेगा। इस सीधी दशामें भरसक अधिकसे अधिक समयतक रहना चाहिये। ऐसी दशामें सांस लेना सार्थक होता है, पाचन ठीक होता है और अप्रत्यक्ष रीत्या सारे शरीरको लाभ पहुँचता है। इसके निरन्तर अभ्याससे बढ़ा हुआ पेट और शरीरकी और कुरूपताएं दूर हो जाती हैं।

सीधे खड़े होनेके अभ्यासके साथ ही सीधे बैठनेका भी अभ्यास आवश्यक है। आलती-पालती मारकर या पद्मा-

सन बैठकर भी धड़को लम्बमें सीधा रखना चाहिये। ऐसी दशामें ही प्राणायाम करना उचित है। वैदिक संध्याके साथ प्राणायाम अनिवार्य्य है। परन्तु जो लोग इसे आध्यात्मिक दृष्टिसे नहीं देखना चाहते, हमारी सलाह है कि वह भी स्वास्थ्यकी दृष्टिसे इसी विधिसे प्राणायाम अवश्य करें। नाकके एक पूरेसे सांसको खींचना चाहिये और कुछ रुककर दूसरे रंध्रसे धीरे धीरे उससे दूने समयमें निकालना चाहिये। फिर दूसरे रंध्रसे इसी प्रकार खींचे और पहलेसे धीरे धीरे निकाले। इस क्रियाको करते हुए बराबर ध्यान रखे कि पेटतककी मांस-पेशियोंपर इस क्रियाका प्रभाव पड़े और फेफड़ोंका कोना कोना श्वसन क्रियासे फूले और पचके। रक्तसंशोधन, संचार और पावनपर ध्यान रखते हुए प्राणायामको श्वासका व्यायाम-मात्र समझकर भी इस प्रकार अभ्यास करे तो अवश्य लाभ होता है। डाक्टर लिंडलारने इस विधिको त्रिकाल करनेकी सिफारिश की है। आस्तिकके लिये तो त्रिकाल संध्यावाली बात नयी या अनोखी नहीं है। प्राणायाम करते समय प्रणव व्याहृति गायत्री और शिरस्का मनन भावपूर्वक करना आत्माके लिये विशेष रूपसे उन्नायक है और जीवनकी उन्नति और प्राणशक्तिके ठीक उपयोगके लिये आवश्यक है।*

---

* प्रणव, व्याहृतियां, गायत्रीमंत्र और शिरस्के भाव बहुत ऊंचे हैं, थोड़े अक्षरोंमें अगाध अर्थ भरा है। अनुवाद कठिन है। तो भी जो मंत्रार्थ-पर ध्यान करना चाहें उन्हें नीचे लिखी चौपाइयांसहायक होंगी—

प्राणायामके अभ्यासकी आरंभिक अवस्थामें नथुनोंको दबानेकी आवश्यकता नहीं है। सीधे तने हुए धड़ और आलती-पालती आसनकी आवश्यकता है। हाथोंको ज्ञान-मुद्रामें जंघाओंपर रखे और गहरी सांस जितनी देरमें खींचे उतनेसे दूनी देरमें छोड़े। तीन मिनिटोंसे आरंभ करके धीरे धीरे अभ्यास बढ़ावे और आधे घंटेतक तो अवश्य ही ले जाय। फिर पहले बतायी हुई रीतिसे एक एक नथुनेको बन्द करके यही अभ्यास करे। दक्षिण रंध्र सूर्य्यका स्वर कहलाता है और इसके द्वारा प्राणधारा पिंगला नाड़ीजालमें प्रवेश करती और मेरुदंडकी दहनी ओरसे बहती है। वाम रंध्र चन्द्रमाका स्वर कहलाता है और इसके द्वारा प्राणधारा इडा नाड़ीजालमें प्रवेश करती है और मेरुदंडकी बायीं ओर बहती है। सूर्य्यका कार्य्य दिनका, चन्द्रमाका रात्रिका है। एकमें ताप है दूसरेमें सापेक्ष शीतलता है। जब दोनों रंध्रोंसे सांस बराबर चलती है तब प्राणशक्ति सुषुम्ना नाड़ीजालमें प्रवेश करती है। प्रायः घंटे घंटेपर दोनों रंध्रोंकी क्रियामें अदला-बदली होती रहती है। इस

ओ३म् सच्चिदानन्द महाना
पिता प्रकाशक सत्यनिधाना
पूज्य देव जो बुद्धिहि प्रेरत
मूल ज्योति सोइ हम हिय हेरत
व्यापक सर्व ज्ञानप्रद जोई
सत्ता नित्य ब्रह्म प्रभु सोई

अदला-बदलीके समय दोनों रंध्रोसे साथ ही श्वासोच्छ्वास होता है और कुछ देरमें फिर दूसरे रंध्रसे निश्चित रूपसे होने लगता है और पहलेसे बिल्कुल बन्द हो जाता है। वैज्ञानिक परिभाषामें यह यों कह सकते हैं कि दहनी सांससे धन विद्युच्चुम्बककी धारा बनती है और बायींसे ऋण धारा बनती है। दोनों धाराओंमें सामंजस्य-सम्पादनके लिये श्वासके संयमकी आवश्यकता है और इस संयममें सांस लेनेकी अपेक्षा छोड़नेमें देर होनेकी स्वाभाविकता समाविष्ट है। इसके लिये एक और कारण भी है। ओषजन वायु और कर्बनद्व्यौषिद वायव्य दोनों फेफड़ोंके वायुरंध्रोंमें जाकर गौंजती हैं। गौंजनेके लिये ग्रेहमका सूत्र है कि जितनी ही घनी वायु होगी उतनी ही धीरे धीरे गौंजेगी। गौंजनेकी निष्पत्ति वायव्योंके घनत्वके वर्गमूलसे सापेक्ष उलटी होती है। इस हिसाबसे ओषजनके गौंजनेमें जहां एक कालमात्रा लगेगी वहां कर्बनद्व्यौषिद्के गौंजनेमें सवाया समय लगेगा। चोषण और शोषणमें भी समय लगता है। लाखों बरसके अनुभवसे साधकोंने पूरणकी अपेक्षा रेचनमें प्रायः दूना समय लगानेका नियम रखा है। कुंभनमें चौगुना समय लगना चाहिये। * कुंभनसे न केवल

* मूलमंत्रस्य बीजस्य प्रणवस्य वा षोड़शवार जपेन वामनासापुटे वायुं पूरयेत्। तस्य चतुःषष्ठिवार जपेन वायुं कुंभयेत्। तस्य द्वात्रिंशद्वार जपेन वायुं रेचयेत्। पुनर्दक्षिणेनापूर्य उभाभ्यां कुंभयित्वा वामेन रेचयेत्। प्राणायामत्रयं कुर्य्यात् मूलेन प्रणवेन वा। अथवा मंत्रबीजेन यथोक्त विधिना

ओपजनका अच्छा शोषण हो पाता है, बल्कि सुषुम्ना नाड़ी-मंडलमें प्राणकी धारा ऋण और धन मिलकर विशेष वेग और बलसे चलने लगती है। इस शक्तिके सदुपयोगके लिये गुरुकी अच्छी शिक्षा मिलनी चाहिये। इस शक्तिसे ही सिद्धियां प्राप्त होती हैं। इसके लिये साधक निरामिष, निरग्नि और गन्धरहित आहार करता है, अखंड उपवास, एकान्तवास आदि इसके विधान हैं। अतः योगसाधनका यह प्राणायाम सर्वसाधारणके लिये नहीं है। इसमें अत्यन्त जोखिम है; थोड़ी भूलचूकसे उन्माद अंगभंग, जीवनावसादतक हो जाता है। प्रत्यवायका इसमें पूरा भय है। इसलिये हम कुंभक इतनी देरतक करनेकी सलाह नहीं देते। पूरकके चौथाई समयतक कुंभक साधारणतया अवश्य करना चाहिये। लिंडलारकी* रायमें तो पूरण और रेचनके बीचमें उतना ही ठहरना उचित है जितना कि एक क्रियाके बाद दूसरी क्रियाके आरंभ करनेमें नितान्त आवश्यक है। योगसाधनकी विधि कभी सर्वसाधा-

---

सुधीः (इति कालीहृदये)। प्राणसंधारणं मासं कुशाग्रच्युत विन्दुना। यः कुर्यात्प्रयतो नित्यं प्राणायामस्तु तत्समः। निरोधाज्जायते वायुस्तस्मादग्निस्ततोजलम्। त्रिभिः शरीरं सकलं प्रणायामेन शुध्यति। (इत्यग्निपुराणे)।

* "Do not hold the breath between inhalations. Though frequently recommended by teachers of certain methods of breath culture, this practice is more harmful than beneficial."—*Lindlahr : Practice of Natural Therapeutics, p. 184.*

रणके लिये नहीं है और एकाएकी विना पूरी व्यावहारिक शिक्षाके उसमें लग जानेमें भयंकर हानि है। हम जिस प्राणायामकी अपने पाठकोंको सलाह देते हैं वह गहरी और नियमित सांस लेनेकी शिक्षा है और ऐसी आदत डालनेके लिये है कि मनुष्य निरन्तर ठीक रीतिसे सांस लिया करे। यह कोई अलौकिक शक्ति पानेका उपाय नहीं है। इसके साथ प्रणवका जप, ईश्वरका ध्यान आदि शुद्ध पारमार्थिक अंग है और हर प्राणायामीकी इच्छापर निर्भर है।

अब हम प्राणायामके साथ ही साथ विशेष आयाम देते हैं। साधारणतया मूलर, सैंडो, राममूर्त्ति आदि सभी वैज्ञानिक व्यायामी कसरतके साथ ही प्राणायामकी भी शिक्षा देते हैं, परन्तु प्राणायाम वहां गौण है, विशेष व्यायाम मुख्य है। यहां जो आयाम हम देते हैं उसमें प्राणायाम ही मुख्य है, अतः इन विशेष आयामोंको वैज्ञानिक प्राणायामके ही अन्तर्भूत समझना चाहिये।

(१) सीधे खड़े होकर या आलती-पालती आसनमें बैठकर दोनों कंधोंको धीरे धीरे सांस खींचते हुए आगे ले जाओ, फिर सांस छोड़ते हुए दूनी देरमें यथास्थान कर दो। फिर सांस खींचते हुए पीछे ले जाओ और फिर सांस छोड़ते हुए यथास्थान दूनी देरमें लाओ। फिर सांस खींचते हुए ऊपर उठाओ और फिर सांस छोड़ते हुए धीरे धीरे नीचे ले जाओ। यह एक आयाम हुआ। इसी प्रकार यथारुचि और यथा-

वश्यकता अनेक बार कर सकते हो। और अंगोंको इस क्रियामें यथास्थान रहना चाहिये।

(२) दोनों हाथ पसारे हुए बगलमें सीधे लटकाये सीधे खड़े हो। अब सांस धीरे धीरे खींचते हुए आगेकी तरफ़ हाथको बढ़ाये ऊंचा उठाते जाओ यहांतक कि सिरके ऊपर पसारे हथेलियां मिल जायँ। हाथ बराबर तने और सीधे रहें। अब सांस छोड़ते हुए दोनों हाथोंको बड़ेसे बड़े चक्रके रूपमें घुमाते हुए फिर ज्योंके त्यों अपनी अपनी जगहपर ले जाओ। यह एक आयाम हुआ। इस प्रकार कई बार करो।

(३) पहले आयामको झटकेके साथ करो। एक ही सांसमें कई कई बार झटकेकी गतियां होंगी, परन्तु सांस धीरे धीरे ही लेनी होगी।

(४) कुहनियोंको बगलमें और आगेकी ओर प्राणायाम करते हुए झटकेके साथ उठाओ और झटकेके साथ डालो। बगलमें कुहनियां और भुजाएं जोरसे लगें तो अच्छा है।

(५) गहरी सांस लेकर धीरे धीरे छोड़ो। छोड़ते समय दोनों हाथ फैलाकर सीनेको मारते हुए ऐसा छोप लो कि वक्षःस्थल छिप जाय।

यह पांचों आयाम प्राणायामके साथ आवश्यक हैं। प्रत्येक मनुष्यको करना चाहिये। इनसे वक्षःस्थलकी लचक बनी रहेगी, विशालता आयेगी, वायुमंदिरोंकी समाई बढ़ेगी, फेफड़े अधिक साफ रहेंगे और उनकी क्रिया पूरी होगी। बच्चोंको

आरंभसे ही इन प्राणायामोंकी शिक्षा देनी चाहिये । प्रत्येक पाठशालामें कवायद कसरतके साथ ही साथ या उनके विना भी इन प्राणायामोंको अनिवार्य्य कर देनेमें ही भावी संतानका योगक्षेम है।

प्राणायामके साथ ही इनके अतिरिक्त अनेक आयाम हैं जिन्हें पाश्चात्य प्राणायामी प्राणायामके ही अन्तर्भूत समझते हैं, परन्तु हमारे मतमें उन्हें व्यायाम इसलिये कहना चाहिये कि उनमें विशेष अंगोंका आयाम मुख्य है और प्राणायाम गौण। इसीलिये और आयामोंकी चर्चा हम व्यायामके प्रकरणमें करेंगे।

रक्तविकार, हृदयरोग, फुप्फुसरोग, श्वासयंत्रके विकार, पाचन-दोष, और समस्त उदरामयोंमें प्राणायामसे लाभ होता है। अतः इन सभी रोगोंमें प्राणायाम एक आवश्यक उपचार है। यदि रोगी इतना वलहीन अथवा वेहोश न हो कि प्राणायाम करना ही असंभव हो, तो चिकित्सकको चाहिये कि प्राणायामकी उपयुक्त विधि वतावे और रोगनिवारक आयाम भी करावे। आयामका प्रकार और मात्रा रोगकी दशा और आवश्यकताके अनुसार रखनी होगी। और उपचारोंसे इस वायुचिकित्साका प्रायः असामंजस्य नहीं होता।

ओषजनके प्रयोग

रोगीकी दशा यदि ऐसी निर्वलताकी हो कि वह प्राणायाम करनेमें असमर्थ हो,अथवा यदि रोगी अचेत हो,वा यदि रोगीका

फुप्फुस ऐसे प्रदाहकी दशामें हो कि वायुका आगम निर्गम बहुत कठिनाईसे होता हो, वायुमंदिरोंमें सूजनके कारण वायुका भलीभांति प्रवेश न हो सकता हो, तो ऐसी दशामें साधारण शुद्ध वायुसे मिलाकर हलकी की हुई ओषजन वायुका निःश्वसन कराना चाहिये।

फुप्फुस-प्रदाहमें ओषजनका प्रयोग डाक्टर लोग करने लगे हैं, परन्तु अनुभवकी कमीसे और असावधानीसे लाभके बदले हानि अधिक हो जाती है। हम कह आये हैं कि ओषजन भयंकर दाहक है। स्पष्ट है कि उचित मात्रासे अधिक पहुँचेगा तो अवश्य ही ताप बढ़ेगा। जब ओषजनकी अधिक मात्राके कारण ज्वर बढ़ेगा तो डाक्टरके सँभाले नहीं सँभलेगा। फुप्फुस-प्रदाहमें तो ज्वर होता ही है। इसलिये ज्वरमें ओषजनको साधारण शुद्ध वायुसे मिलाकर हलका करके ही सांस लिवाना चाहिये और थोड़ी मात्रा देते हुए भी बराबर थरमामोटरसे तापक्रम लेते रहना चाहिये। ज्योंही तापक्रमके तनिक भी चढ़नेका संदेह हो त्योंहीं ओषजन देना बन्द कर देना चाहिये अथवा उसकी मात्रा या श्वसनकी अवधि या दोनों घटा देनी चाहिये। जहां हाथ पैर ठंढे हो रहे हों, नाड़ी छूट रही हो या छूट गयी हो, धुकधुकी रुक रही हो या देखनेमें बन्द भी हो गयी हो, रक्त नीला हो गया हो, नाखून काले पड़ गये हों, ऐसे मृत्युके लक्षणोंके उपस्थित होते हुए भी ओषजन वायु देते हुए कृत्रिम सांस लिवानेसे बुझता हुआ जीवनदीपक फिरसे

प्रज्वलित हो उठता है। ऐसी दशामें भी थोड़ी साधारण वायुको ओषजनसे मिलकर सांसमें जाने देना चाहिये और तापक्रम लेते रहना चाहिये। हमारा अनुभव है कि ओषजनके प्रभावसे फिरसे नाड़ी लौट आती है, जीवनका स्रोत फिरसे बहने लगता है।

ओषजन देनेमें दो एक और भूलोंसे भी बचनेकी आवश्यकता है। रबरकी लम्बी नलिका इसमें काममें न लावे। बहुधा रबर खराब रहता है, उसपर ओषजनकी क्रिया जल्दी होने लगती है और रोगीको शुद्ध ओषजनके बदले गंदी रबरको सड़ायँधवाली हवा मिलेगी। साथ ही नाकके पास लगानेवाली नलिका जो काममें आती है बिल्कुल अनुपयुक्त हुआ करती है। उससे वायुका मिश्रण हो नहीं सकता। इसलिये यंत्रसे रोगीकी नाकतक भरसक कांचकी शुद्ध नलिका रहे और नाकमें कोई नलिका न लगावे बल्कि नाकके पास रखनेको कांचकी कीप कांचकी नलिकाके साथ रबरकी नलिकासे जोड़ दे। जहां कहीं जोड़ हो वहां भी रबर ऐसी तरह लगाया जाय कि ओषजनका सम्पर्क अत्यन्त कम हो। कीपके चौड़े मुँहसे निकलता हुआ ओषजन फैलकर वायुसे मिलता जाता है। कीपको मुँह और नाकसे इस तरह भी चपकाकर लगाया जा सकता है कि बाहरकी वायु मिलने ही न पावे, अथवा इतना अवकाश छोड़कर कीप थामी जा सकती है कि कम या अधिक हवा मिलकर श्वासमें प्रवेश करे। संवत् १६७७ में चिकित्सकोंके जवाब

दे देनेपर अपनी तीन वरसकी लड़कीके जीवनसे निराश होकर मैंने ओपजनका प्रयोग किया। मृतप्राय अवस्था थी। नाड़ी और गरमी न थी। धुकधुकी भी जवाब दे रही थी। पहले आधे घंटेतक ओपजन दिया गया। जीवनके सभी लक्षण लौट आये। तापक्रम ९८।° फा० आ गया। ओपजन बन्द किया गया। परन्तु १० मिनिट बीते थे कि फिर दशा ज्योंकी त्यों होने लगी। यह देखकर १५ मिनिट बाद ही फिर ओपजन दिया जाने लगा। १५ मिनिटमें फिर ९८।° तापक्रम आ गया। १५ मिनिट और देकर बन्द किया गया। परन्तु इस बार कुछ जल्दी दशा बिगड़ी, आठ ही मिनिटोंमें फिर गरमी भागने लगी। हमने अवधियां बदलीं। १५ मिनिट ओपजन देकर देखा कि १० मिनिटमें फिर देनेकी आवश्यकता पड़ी। इसी प्रकार परीक्षा करते करते ३६ घंटे पूरे बिताये। अन्तिम परीक्षा एक एक मिनिटतक शुद्ध ओपजन देना और पांच मिनिटतक रोक रखना था। इस तरह पिछले तीन घंटेतक ओपजनके प्रयोगके बाद तापक्रम बढ़ता दिखाई दिया। हमने ९९॥ तक बढ़ने दिया फिर ओपजन बन्द कर दिया। इस बार जो गरमी आयी थी वह स्थायी हो गयी थी। शुद्ध ओपजन बराबर देरतक देना भयंकर था। यह हलका किया हुआ दाहक थोड़ी थोड़ी मात्रामें ही लाभ कर सकता था। इतने ठहरनेकी आवश्यकता थी कि ओप-जन प्रवेश करके फेफड़ेमें अपनी क्रिया कर सके। बड़ी मात्रा और थोड़ा समय दोनों ही व्यर्थ, बल्कि हानिकर थे। ओप-

जनने फुफ्फुसोंमें संचित मलको ३६ घंटेमें जला डाला। प्रदाह मिट गया। डाक्टरने आकर देखा तो उनके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। स्टीथस्कोप लगाकर बोले "बिल्कुल साफ है, प्रदाहका नाम निशान नहीं है, यह कन्या मृत्युमुखमेंसे छीन ली गयी।"

ओपजनके प्रयोगमें प्रौढ़ विचारकी आवश्यकता है। इन्हीं डाक्टर महोदयने स्वयं कई वार उसका प्रयोग किया था पर असफल रहे थे। उनसे, आरंभमें जब उन्होंने कहा था कि "लड़की आज आधीरातसे आगे कदापि जीती नहीं रह सकती" मैंने ओपजनकी चर्चा की थी तो उन्होंने बड़े नैराश्यसे कहा था "हां, आजमा देखिये, मुझे तो कई वारका अनुभव है, ओष-जनसे कोई लाभ नहीं होता।" मेरी सफलताका रहस्य यही था कि मैंने उसके प्रयोगमें अपनेको उन भूलोंसे बचाया जो साधारणतया पेशेवर चिकित्सक कर जाते हैं।

चिकित्सामें बुद्धि और धैर्यकी बड़ी आवश्यकता है। साथ ही साधन भी उपयुक्त चाहिये। प्रयोगशालामें जो ओष-जन साधारण विधियोंसे बनता है, वह विषैला होता है, उसमें हरिण वायु मिली रहती है। यह उग्र विष है। इसका सुंघाना मृत्युको निमंत्रण देना है। शुद्ध ग्राह्य ओषजनके बनानेकी सबसे उत्तम विधि है सोडियमपर्य्योषिद और जल। जलके सम्पर्कसे ही सोडियमपर्य्योषिद शुद्ध ओषजन देने लगता है। इसके लिये बड़े सुभीतेका यंत्र है आक्सोन-जेनरेटर*। इस

* Oxone-Generator. ओषजनोत्पादक यंत्र।

यंत्रमें यह भी सुभीता रहता है कि आप ओषजनको मनमाना धीरे या जल्दी आने दें और उसकी मात्रा भी मालूम करते जायँ। भारतके भारी भारी डाकटरी वस्तुओंके व्यापारी इसे बेचते हैं और पर्य्योषिद्के डिब्बे भी मोल मिलते हैं।

दमेके लिये उसके निदानके अनुसार आर्द्र वा अनार्द्र ओषजन वायु बहुत लाभ पहुँचाती है। दौड़में हांफते आदमीको थोड़ा ओषजन पीनेको मिले तो वह फिरसे ताजा हो जाय और शक्तिमत्ताके साथ आगे बढ़े। दम घुटने या फूलनेके समय तो ओषजन अमृत है। रक्तका संशोधन तो इसकी विशेष क्रिया है। जहां कहीं रक्तविकार हो इसके प्रयोगसे लाभ होता है। अल्प परिमाणमें प्राणायामकी विधिसे इसका सेवन पाचनको ठीक करता है। अधिक सेवन भयानक भी है। यह दोधारी तलवार है, समझ बूझसे काम लेना चाहिये। विना वायुसे मिलाये आक्सोन-जेनरेटरका ओषजन काममें न लाना चाहिये। उसके ओषजनमें और वायुके अन्तर्भूत ओषजनमें बहुत अन्तर है। अमिश्रित ओषजन भयानक मित्र है। मिश्रित ओषजनका अतिप्रयोग ही हानिकर है।

प्रायः ज्वर, शीत आदि रोगोंमें लोग वायुसे बचाते हैं। अति-वायुसे, झोंकेसे, अत्यन्त शीत और अत्यन्त उष्ण वायुसे बचाना उचित है। परन्तु वायु प्राण है, इससे बचानेका कोई अर्थ नहीं। रोगीके लिये तो शुद्ध वायुमें निरन्तर रहना और प्राणायाम करना उसकी चिकित्सा है। निवातस्थान तो

विशेष यौगिक क्रियाओंके लिये चाहिये। रोगीके लिये तो वायु, जल, ताप, मृत्तिका आदि नैसर्गिक ओषधियां हैं। इनसे वंचित रखना तो रोगीको मारनेका उपाय करना है।

उचित तो यह है कि रोगी दिनको बागमें या पेड़तले रहे। सूर्यकी किरणोंसे पत्तियोंपर ऐसी क्रिया होती है कि अधिक ओषजन निकलता रहता है। दिनमें पत्तियां ओषजन उगलती रहती हैं। रातमें यह क्रिया नहीं होती वरन् कुछ कर्बनद्वयोषिद् निकलता है। इसलिये बिना आक्सोन-जेनरेटरके ही यदि अधिक ओषजनवाली वायु मिले तो क्यों न मनुष्य निसर्गकी शरण ले। जंगल बाग और पेड़ोंसे यह बड़ा लाभ है। ज्वरसे पीड़ित मनुष्यके लिये नीमकी छायाकी वायु बहुत लाभकर होती है। आँवला, पीपल या वटवृक्षके नीचे श्वासके रोगीको अधिक लाभ पहुँचता है। वायुके साथ साथ वृक्षोंके गुण भी अलग अलग मिलकर अलग अलग प्रभाव डालते हैं। स्त्री-रोगोंके लिये अशोककी छाया गुणकारी है। हृद्रोगोंके लिये अर्जुन वृक्षकी छाया अच्छी है।

घर बनवानेमें विचारशील शुद्ध वायुके आगम और अशुद्ध वायुके निर्गमका पूरा बन्दोबस्त रखता है। भारत जैसे देशमें ढीले हवादार कपड़े सहज ही पहननेकी रीति है, बल्कि अधिकांश मनुष्योंको तो कपड़े मिलते ही नहीं। शरीरको शुद्ध वायुमें रखना और रोमकूपोंको शुद्ध वायु चूसने देना स्वास्थ्य-रक्षाके लिये जरूरी है। प्राणायामियोंको देखा है कि वह बाहरी

वायुको त्वचासे ऐसी आसानीसे खींचते हैं मानो सांस ले रहे हों। यह अभ्यासकी बात है। क्षयी रोगवालेको पसीना होता है। जो मल फेफड़ोंसे निकलता, रोमकूपोंकी राहसे स्वभाव त्वचासे निकाल बाहर करता है और उसी रास्तेसे वायु भी पहुँचाता है क्योंकि फेफड़ा काम नहीं कर रहा है। क्षय-रोगियोंको डाकटर जो खुली हवामें रखते हैं उसका पूरा लाभ तभी है जब वह नंगे बदन रहें। परन्तु प्राणायाम और ओपजन-का प्रयोग उनके लिये ऐसे खुले मैदानमें रहते हुए भी आरंभकी सबसे अच्छी चिकित्सा है। साथ ही वह कूनेके उदर और मेहन-स्नान करें और पथ्य चिकित्सा करें तो सहज ही जीवनकी रक्षा कर लें। वस्तुतः डाकटर और असंयम और अस्वाभाविक जीवन तीनों मिलकर उसे यमद्वारतक पहुँचाते हैं। यों तो वायुसेवन सबके लिये हितकर है, परन्तु अक्षरशः वायुसेवन उसके जीवनका एकमात्र आधार है।

कृत्रिम श्वसन

कृत्रिम श्वास लिवानेकी विधि यहां दिये विना इस प्रक-रणको समाप्त नहीं कर सकते। इसकी अकसर जरूरत पड़ जाती है। कोई डूब गया, किसीने फांसी लगा ली या किसीका गला दबाया गया, कहीं जलते मकानके भीतर धुएंसे या गंदी जगहमें जहरीली हवासे किसीका-दम घुट गया, या कोई बेहोश हो गया और सांस रुक गयी—ऐसी दशाओंमें कृत्रिम रीतिसे सांस लिवानेसे फिरसे फेफड़ोंकी क्रिया स्थापित हो जाती है

और जिन कारणोंसे सांस लेनेमें रुकावट पैदा होती है, अक्सर वह कारण भी इस कृत्रिम क्रियासे दूर हो जाते हैं।

(क) अगर ऊपरी धड़में कपड़े हों तो उतार दो या फाड़ दो, या अगर जलनेसे चिपक गये हों तो जितना अंश सहजमें कैंचीसे कट सके उतना काटकर अलग कर दो। रोगीको पेटके बल लिटा दो। उसके सिरके नीचे कुछ कपड़े रखकर इतना ऊंचा कर दो कि रोगीके मुँह और नाक सांस लेने और वमन करनेके लिये छुटे रहें। अब अपने घुटने रोगीके दोनों ओर टेककर उसकी कमरपर दोनों ओर अपने दोनों फैलाये हुए पंजे धीरे धीरे बढ़ाते हुए बलसे दबाओ, कि अन्तिम पसुलियां और वक्षःस्थलके दबनेसे हवा निकले या पानी निकले। यह क्रिया दो सेकंडतक करके फिर दबाव धीरे धीरे हटा दो कि तीसरे और चौथे सेकंडतक फेफड़ोंमें हवा भर आवे। फिर पहली तरह दो सेकंडतक दबाओ और दो सेकंडतक धीरे धीरे दबाव हटाओ। "एक, दो ३," इतना कहनेमें साधारणतया दो सेकंड लगते हैं। इस तरह नियमसे बराबर दबाते छोड़ते रहनेसे कुछ देरमें सांस प्रमितावस्थाकी तरह चलने लगती है। यदि पानी पी गया हो तो उसका वमन हो जाता है। पीठके बल लिटाकर भी इसी विधिसे सांस लिवाते हैं, परन्तु इसमें सिरके नीचे ऊंचा करनेकी जरूरत नहीं है। कमरके नीचे ऊंचा करो और स्तनके नीचे दोनों ओर पसुलियों और वक्षःस्थलपर उसी तरह क्रिया की जाती है। हां, दबाते समय जरा कलाईसे हाथकी

हथेली और अंगुलियोंको स्फुरण गति दो, इससे वायुमंदिरों-पर इष्ट प्रभाव पड़ेगा।

(ख) दूसरी विधि जो साधारणतया बरती जाती है, यह है कि रोगीको चित लिटा दिया और उसके दोनों हाथोंको फैलाकर लंबेसे लंबा चक्कर देकर बगलमें लाकर कुहनीसे मोड़ दिया, इस तरहपर कि दोनों हाथ वक्षःस्थलपर पड़े और वक्षः-स्थलको दबावे जिसमें वायु निकले। यह क्रिया भी चार सेकंड-में होनी चाहिये। बच्चोंके लिये तीन सेकंडका समय पर्य्याप्त है चित लिटानेवाली रीतियोंमें जीभके दोहर कर कंठमें अवरोध करनेका जोखिम होता है जिससे कफ या जलके वमनमें बाधा पड़ती है। पेटके बलवाली विधिमें यह भय नहीं है।

पेट और फेफड़ोंसे जल निकालनेकी एक सहज विधि यह है कि (क) में वर्णित प्रथमांशमें रोगीके पेटके नीचे हाथ डाल-कर बारंबार कुछ ऊंचा उठाओ। पेटके दबने और ऊंचा होनेसे वमन सहज हो जाता है।

इन विधियोंको कभी कभी चार चार घंटेतक बराबर करते रहनेसे अन्तमें फिरसे सांस चलने लगती है। पहले जरा कँप-कँपी हुई, फिर चेहरेपर जरा सुर्खी आयी और वक्षःस्थल अपने आप उभरा। यही श्वासकी प्रमित अवस्थाके लौटनेके लक्षण हैं। जहां कर्वनद्वयोदिषके न निकल सकनेसे सांस बन्द हुई या ऐसे ही किसी भारी वायव्यके कारण ऐसी घटना हुई है तो इस दशामें कृत्रिम श्वसनके साथ ही साथ ओषजनका भी

प्रयोग करना चाहिये। इससे बड़ी जल्दी रक्तका संचार प्रमितावस्थाको पहुँच जाता है। कभी कभी जब साधारण उपायोंसे ओषजन भीतर नहीं जाता तो ओषजनको उसको पिचकारीके द्वारा पहुँचाया जाता है।

जिस घरमें आग लगी हो या धुआं गौंजा हो या विषैली गेस हो, बचानेवाला उसमें घुसते ही पहले खिड़कियां खोल दे और अपनी नाकपर गीला रूमाल लपेटकर जाय और भरसक अपनी रक्षा वहांकी विपत्तिसे भलीभांति करता हुआ सहायता करे।

(६) व्यायाम-चिकित्सा

व्यायामकी आवश्यकता

व्यायाम-चिकित्साका वायु-चिकित्सासे बड़ा भारी सम्बन्ध है। हमने प्राणायामके प्रकरणमें यह स्पष्ट दिखाया है कि वायु-किकित्साका आयाम एक अनिवार्य अंग है। व्यायाम भी दो प्रकारका होता है। एक तो स्व-व्यायाम जो अपनी इच्छासे विविध अंगोके संचालनद्वारा हम किसी प्रकारका परिश्रम स्वयं करते हैं और दूसरा मांसायाम जो हम विविध प्रकारके मर्दन-द्वारा औरोंसे कराते हैं। इसी दृष्टिसे कसरत और मर्दन दोनों विषयोंकी चर्चा हम इसी प्रकरणमें करेंगे।

जिस प्रकार हम भोजन करते हैं, अँतड़ियोंको हिलाते हैं, आमाशय, क्लोम, यकृत, हृदय, फुप्फुस आदि सबको अपना अपना काम करनेको लाचार करते हैं उसी प्रकार अपनी वाहरी कर्मेन्द्रियोंसे लाचार होकर थोड़ा बहुत काम अवश्य ही लेते हैं। परन्तु भोजनके असंयमसे कभी हम कोई चीज़ अत्यधिक खा लेते हैं तो कोई चीज़ अत्यन्त कम या कभी अत्यधिक भोजन करते हैं और कभी अत्यन्त थोड़ा। उसी तरह कर्मेन्द्रियोंसे भी कभी अत्यधिक काम लेते हैं और कभी अत्यन्त अल्प और कभी एक ही इन्द्रियसे घोर परिश्रम कराते हैं और दूसरी इन्द्रियको

कोतल रख छोड़ते हैं। कर्मेन्द्रियोंके इस असंयमसे युवा अवस्थामें अंगोका पूर्ण विकास नहीं हो पाता। रक्तसंचार अनियमित होनेसे शरीरमें विषों और मलोंका अचिन्त्य स्थानोंमें अनिवार्य्य संचय होता रहता है जिससे वात, पित्त, कफके भेद् प्रभेद्से अनेक विकार उत्पन्न होते हैं। शरीर दुर्बल हो जाता है और स्वास्थ्य विगड़ जाता है। गीताका यह प्रसिद्ध श्लोक

नतुकाश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्
कार्य्यतेह्यवशः कर्म्म सर्वं प्रकृतिजैर्गुणैः

कितना सच है। जव कोई क्षण विना कर्म किये रहना असंभव है तो हम संयमपूर्वक प्रत्येक अंगसे उचित और परिमित मात्रामें हित काम क्यों न लें।

सारा सजीव विश्व कर्म्ममय है। मनुष्येतर प्राणी अपने जीवनकी रक्षाके लिये निरन्तर परिश्रम करता रहता है। यदि उसकी वुभुक्षा शान्ति हुई तो कौतुक और केलिकी इच्छा उसे कर्मशील रखती है। आंधी, पानी और साधारण वायुके उपद्रवसे निसर्गमें वनस्पतितकका व्यायाम हो जाता है। स्वाभाविक जंगली दशामें मनुष्य भी भोजनकी खोजमें वेतरह मारा मारा फिरता था, हिंस्र पशुओं और बैरियोंसे भिड़ता फिरता था, खेलकूद्में भी समय काटता था और जब खेती करने लगा तो लाचार हो हल कुदालसे परिश्रम करने लगा। व्यायामके अभावसे आज सभ्य संसारमें जितने रोग हो गये हैं सबकी जड़में यही अभागिनी सभ्यता है, जो रोगोंका रोग है, जिसने

मनुष्यको आलसी बनाया और कर्मेंद्रियोंका कोतल रखना शान्दारीका एक अंग क़रार दिया। मशहूर है—

"उमराको हाथ पैर हिलाना नहीं अच्छा"

सभ्य मनुष्य अपने सारे काम कलको सौंप आप बैठे बिठाये रोगी बन गया। कल और घोड़े उसकी गाड़ी खींचने लगे, वह खुद हवागाड़ी और पैरगाड़ीपर चलने लगा और मिहनतके कामोंसे जी चुराना उसने सभ्यता समझी। नागरिकका अस्वाभाविक जीवन और स्वाभाविक व्यवसाय शारीरिक परिश्रमसे बहुत कम सम्बन्ध रखता है जिसका फल यह होता है कि शहरके रहनेवाले दुबले, कमज़ोर और रोगी दिखाई पड़ते हैं और गांवोंके रहनेवाले जो सचमुच शारीरिक परिश्रम करते हैं और भरपेट भोजन पाते हैं, हृष्टपुष्ट दिखाई देते हैं।

डाक्टर डेवीने लिखा है कि व्यायाम करना व्यर्थ और निरर्थक है परन्तु साथ ही वह बाग़ या खेतमें मेहनत करना जीवनके लिये आवश्यक समझते हैं। खेतों और बाग़ोंमें गोड़ने, निराने, सींचने आदि कामोंमें हाथ पैरको जितना चाहिये उतना व्यायाम मिल जाता है। घरकी सफ़ाई करने और दौड़नेसे भी ऐसा ही लाभ होता है। मनुष्यके शरीरमें जोड़ोंपर हड्डियोंका जैसा बन्दोबस्त है, मांसपेशियां जिस तरह अंग प्रत्यंगमें बटी हुई हैं, जिस तरहके बन्धन अंगोंको जोड़ते हैं सबमें विशेष प्रकारकी गतियोंके लिये प्रबन्ध है। जिन अंगोंको किसी विशेष गतिका अवसर कम मिलता है या नहीं मिलता वह अंग उस गतिके सम्बन्धमें या

तो दुर्बल हो जाते हैं या एकदम असमर्थ हो जाते हैं। जो मनुष्य बहुत कालतक हाथ उठाये फिरता है वह ऊर्ध्वबाहु भले ही कहलावे परन्तु उसकी बांहमें रक्तका संचार बन्द होजाता है और बांह लकड़ीकी तरह प्रायः निर्जीव हो जाती है। इसलिये जिसे खुले मैदान बाग़ या खेतमें काम करनेका अवसर न मिले उसके लिये भिन्न भिन्न अंगोंका व्यायाम अत्यन्त आवश्यक है। इस तरह व्यायामसे न केवल अंग प्रत्यंग पुष्ट रहेगा बल्कि रक्त-संचार भी नियमसे होगा और शरीरकी सब क्रियाएँ प्रमित होंगी।

साथ ही यह भी याद रखना चाहिये कि व्यायाम केवल इस-लिये है कि कोई अंग कोतल न रह जाय। जो मनुष्य जिस तरह-का काम किया करता है उसके अनुकूल अंगोंको काममें लाता है। उसे ऐसे व्यायामकी आवश्यकता है जिससे कोतल अंग परिश्रम करने लगें। जो मनुष्य पत्रसम्पादनका काम करता है और कार्यालयमें पहुंचनेके लिये उसे नित्य दो कोस चलना भी पड़ता है उसके मस्तिष्कको और टांगोंको काफ़ी परिश्रम पड़ जाता है। अब उसे टहलनेवाला व्यायाम न चाहिये। उसके शेष अंगोंका ही व्यायाम उसके लिये आवश्यक है। जो आदमी खेतमें कुदाल चलाता है उसे हाथ पैर वक्षःस्थल और कमरतक-का व्यायाम हो जाता है। उसके लिये केवल उन गतियोंके व्यायामकी आवश्यकता है जिनका मौक़ा उसे खेतके काममें नहीं मिलता। पहलवानीके व्यायाम जैसे नाल उठाना, मल्ल-

खम्भपरकी कसरत, कुश्तीके दांवपेच, पटा बनेठी, लकड़ी और लाठीके खेल सभी अच्छे हैं और सभी किसी न किसी आवश्यकताकी पूर्त्ति करते हैं। स्वास्थ्य और दीर्घ जीवनकी रक्षाकी सीमाके भीतर ही भीतर कला, कौतुक और कुतूहलके विचारसे किसी शरीरविज्ञानके पंडित आचार्य्यकी शिक्षामें यह सभी अच्छे व्यायाम हैं और इनकी समुचित उपयोगिता अखंडनीय है। जहांतक शरीरके लिये इनमेंसे एक भी व्यायाम अनावश्यक है वहांतक अवश्य ही व्यर्थ है। अंगोंके विकासके लिये कुश्ती लड़ना और साथ ही बुद्धिके विकासके लिये दांवपेच सीखना हितकर है। मल्ल युद्धसे मांसपेशियोंका जैसा अच्छा पारस्परिक मर्दन हो जाता है, और विधियोंसे वैसा नहीं होता परन्तु बहुत भारी नाल उठाना या बहुत भारी भारी जोड़ियां भांजना, मोटर रोकना, छातीपर पत्थर तोड़वाना या गाड़ी चलवाना या हाथी खड़ा करना स्वास्थ्यके लिये न तो हितकर है और न जीवनको बढ़ानेवाला है। जिन व्यायामोंमें अत्यन्त शारीरिक परिश्रम पड़ता है उनसे न तो प्रमित विकास होता है और न मनुष्य दीर्घायु होता है बल्कि उलटे बहुत दिनोंतक इन आत्यन्तिक परिश्रमोंसे शरीरकी विशेष मांसपेशियां आवश्यकतासे अधिक विवृद्ध और उत्तेजित हो जाती हैं और मस्तिष्क, नाड़ीमंडल और जीवनके लिये आवश्यक उत्तम अंग उनके बदले दुर्बल पड़ जाते हैं। अतिव्यायामसे मांसपेशियोंमें रक्त अधिक एकत्र होता है और मस्तिष्क और नाड़ीमंडल रक्तको तरसने

लगते हैं। देखनेमें मनुष्य बहुत अच्छा तगड़ा लगता है पर वस्तुतः उसकी मेधा दुर्बल होती है और जीवनशक्ति घट जाती है।

एक बात और याद रखनेकी है कि बिना वायुके या बिना प्राणायामके व्यायाममें यथेष्ट उपयोगिता नहीं होती और यदि शुद्ध खुली हवामें यह व्यायाम न किये जाय तो इनसे लाभके बदले हानि होती है, शरीरके मल और विष अनुचित स्थानोंमें एकत्र होकर रोग पैदा करते हैं, यकृत, आमाशय, पक्काशय, फुप्फुस और हृदयतकके काम अप्रमित हो जाते हैं। इसीलिये शुद्ध खुली हवामें उचित और आवश्यक अंगोंका प्राणायाम-संयुक्त नित्य हलके व्यायामसे स्वास्थ्य सुधरता है, रोगका शमन होता है और आयु सत्त्व बल आरोग्य सभी बढ़ते हैं।

व्यायाम और मांसायामसे लाभ

शरीरपर व्यायामका उसी तरहका प्रभाव पड़ता है जैसा जल-चिकित्सा, मर्दन और वायु-चिकित्साका पड़ता है। व्यायामसे शरीरके संचित मल और विष उभर उठते हैं, धमनियों और शिराओंमें रक्तसंचारको उत्तेजना मिलती है, फेफड़े पूरा पूरा फैलते हैं, ओषजन पूर्णरूपसे खिंचता है और त्वचा, वृक्कों, अंतड़ियों और श्वासमार्गोंसे विजातीय द्रव्य बाहर निकलते हैं। अकड़ी सुकड़ी मांसपेशियां ढीली और मुलायम हो जाती हैं, बन्धनोंमें लचक आ जाती है और कमजोर अंगोंमें बल आ जाता है। मर्दनसे भी ठीक यही लाभ होते हैं, भेद

इतना ही है कि व्यायाममें स्वयं व्यायाम करनेवालेकी संकल्प-शक्ति काम करती है। मर्दनमें जिसके शरीरका मर्दन होता है उसकी संकल्प-शक्ति काम नहीं करती। पराई संकल्प-शक्ति उसकी मर्दनक्रियामें अवश्य काम करती है। परन्तु मर्दित शरीरमें शरीरधारी अपनी संकल्प-शक्तिके प्रयोगके लाभसे वंचित रहता है। यदि व्यायामकी तरह मर्दनमें भी प्राणायाम करता रहे और अपना ध्यान मर्दनके लाभोंपर दृढ़ रखे तो मर्दनमें भी प्रायः व्यायामके सभी लाभ मिलते हैं।*

प्राणायाम-संयुक्त मांसायाममें बाहरसे प्रचुर प्राणशक्ति पिंगला नाड़ीमण्डलसे भूतमात्रमें प्रवेश करती है। जड़ खनिजोंमें यह वैद्युत चुम्बक शक्ति बन जाती है, वनस्पति और उद्भिजोंमें यह जैवरासायनिक शक्ति बन जाती है, पशुपक्षी कीट-पतंगादि तिर्य्यक योनिमें यह मानसिक शक्ति बन जाती है और मनुष्ययोनिमें यही जीवनशक्ति हो जाती है—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत्

इसलिये दोनों प्रकारके मांसायामोंमें भक्तिपूर्वक प्राणायाम आवश्यक है और दोनोंको यथार्थ रीतिसे उपयोगी और सफल और हानिरहित बनाता है।

* मर्दनमें एक लाभ और है जो व्यायाममें नहीं है। मर्दन करनेवाला त्वचा और मांसपर रगड़ और मर्दनद्वारा अपनी अँगुलियोंसे विद्युत धारा भी पहुँचाता है।

व्यायाम करनेके लिये चित्तकी दृढ़ता धैर्य और सामर्थ्य चाहिये। रोगी साधारणतः अधीर, दुर्बल और अशक्त होता है, व्यायाम नहीं कर सकता। रोगीके लिये व्यायामकी जगह मर्दन ही उसका सबसे अच्छा स्थानापन्न है।

व्यायामसे हानि

जिन अंगोंको हम और कामोंसे थका चुके हैं उनका व्यायाम करनेसे उनके मांसकणोंका क्षय हो जाता है। जिन अंगोंमें सूजन है, किसी प्रकारका क्षत है, उन अंगोंके लिये व्यायाम हानिकर होगा। थके हुए मनुष्यको व्यायाम न करना चाहिये। भोजनके कुछ पहले और घंटेभर बादतक व्यायाम या परिश्रमका काम नहीं करना चाहिये। गर्भवतीको ऐसा व्यायाम न करना चाहिये जिससे गर्भाशयको धक्का पहुँचे। ज्वरोंमें और प्रदाहोंमें व्यायाम वर्जित है। क्षयरोगमें साधारण टहलनेके सिवा और व्यायाम हानिकर है। हृद्रोगों-में चांचल्यवाले या एकदम धक्का पहुँचानेवाले व्यायामोंका परिणाम भयंकर होता है। हृदयके रोगोंमें मर्दनमें भी सावधानी चाहिये। सूजन हो और कठिन पीड़ा हो तो उस स्थानका मर्दन वर्जित है। ज्वरमें मर्दन करनेसे तापक्रम बढ़ जाता है, ज्वर अधिक हो जाता है। वृक्क या फुफ्फुसके क्षयरोगमें मर्दनसे रक्तस्रावका भय है और ज्वर तो बढ़ जाता ही है। ऋतुकालमें या गर्भकी अवस्थामें पेटका मर्दन नितांत वर्जित है। रोगोंमें अथवा क्षतमें, हड्डी उखड़ने या टूटनेमें,

साधारण मर्दन तो असंभव है। अधिक मर्दनसे हृद्रोगियोंको हानिकी संभावना है।

शरीर-व्यवच्छेद न जानकर अटकलपच्चू व्यायाम और मर्दनमें बड़ी जोखिम है।

यह एक साधारण भ्रम फैला हुआ है कि व्यायाम चाहे जिस प्रकारका जो चाहे करे, जो चाहे सो इस सम्बन्धमें सलाह दे। मर्दन भी प्रायः ऐसे ही लोग करते हैं जिन्होंने विधिवत् सीखा नहीं है, शरीर-व्यवच्छेदसे नितान्त अनभिज्ञ हैं और बहुधा उलटा ही इलाज कर डालते हैं। स्वीडनके लिङ स्कूलमें पांच बरसतक डाकटरी व्यायाम और मर्दनकी शिक्षा दी जाती है। इससे समझना चाहिये कि इस सम्बन्धमें कितने विस्तारसे शिक्षा हो सकती है। अनाड़ीकी सलाहसे व्यायाम और मर्दन दोनों ही भयंकर हैं। साथ ही यह भी याद रहे कि अत्यन्त गँवार और अपढ़ लोग अपने गुरुसे ठीक विधि सीख लेते हैं और उन्हीं विशेष विधियोंको काममें सफलतापूर्वक ला सकते हैं। अत्यन्त गँवार हड्डी बैठानेवाले, मोचपर मालिश करनेवाले, नारा बैठानेवाले इन पंक्तियोंके लेखकके अनुभवमें आये हैं जिनका तत्सम्बन्धी विशेष ज्ञान आश्चर्य्यकर पाया गया है। मर्दनका काम स्त्रियां अच्छा करती हैं, परन्तु स्त्रियोंको पुरुषोंकी और पुरुषोंको स्त्रियोंकी मालिश करना अत्यन्त अनुचित है। अन्धे बहुत अच्छे मर्दक होते हैं। जापानमें यह काम अधिकांश अंधोंसे लेते हैं। उन्हें यह विद्या विधिपूर्वक

सिखायी जाती है। पंद्रह बरस पहले जब कि याकोहामाकी आबादी लगभग पांच लाखके थी, लगभग एक हजार स्त्रीपुरुष मर्दिका और मर्दकका पेशा करते थे जिनमेंसे नव सौके लगभग अन्धे थे। इनमेंसे चार सौके लगभग पंचायतकी ओरसे काम करते थे और छः सौके लगभग अपना स्वतंत्र कारबार चलाते थे। जापानमें यंत्रोंके द्वारा भी मर्दन करते कराते हैं, परन्तु मर्दन-शास्त्रकी विशेषज्ञता मुख्य बात है, चाहे यह क्रिया हाथसे हो चाहे यंत्रसे। अनभिज्ञोंके लिये अपने शरीरको अभ्यासकी पटिया बनाना अनुचित स्वार्थत्याग है।

स्वव्यायामके साधारण नियम

(१) दुबले और कमजोर लोग या जिन्हें बदगोश्त, क्षय, हृद्रोग, दमा, मिर्गी, आंत उतरनेका रोग हो या हड्डी खसकी हुई हो वह कोई परिश्रमवाला व्यायाम न करें। वह अपने लिये उचित व्यायाम योग्य चिकित्सकसे पूछ लें।

(२) व्यायाम करनेवाला नित्य कमसे कम दो बार प्राणायाम अवश्य करे। व्यायामके साथ गहरी सांस लेना और प्राणायामकी विधिपर ध्यान रखना आवश्यक है।

(३) व्यायामको हलकी और साधारण गतियोंके साथ आरंभ करे, फिर धीरे धीरे अधिक परिश्रम और बलवाले व्यायाम करे। व्यायामकी समाप्तिपर पुनः हलकी और कम परिश्रमवाली गतियोंसे समाप्त करे।

(४) व्यायामको धीरे धीरे बढ़ावे। आरंभमें ही इतना

श्रम व्यायामके किसी अंगमें न करे कि थक जाय। आरंभमें व्यायामसे मांसपेशियाँ दुखने लगती हैं। उनमें पीड़ाके साथ एक प्रकारका तनाव या अकड़ाव आ जाता है। इसकी परवा न करके नियत समयपर व्यायाम अवश्य करना चाहिये। यह व्यायामसे ही हुआ है व्यायामसे ही जायगा।

(५) थकान ज्योंही जरासा भी मालूम हो व्यायाम तुरन्त रोक दो। व्यायाम करके ताजगी, चुस्ती और आराम मालूम होना चाहिये। थकान और कँपकँपी अच्छे लक्षण नहीं हैं।

(६) भोजनके डेढ़ घंटे बादतक किसी तरहका उग्र व्यायाम न करे। भोजन करनेके पहले आध घंटेके भीतर भी हँफानेवाला व्यायाम न करे। चौकेपर बैठनेसे पहले पाव घंटेके लगभग अच्छी तरह आराम कर लेना और शरीरको पूरी तौरसे ढीला कर लेना चाहिये।

(७) व्यायाम भरसक खुले मैदानमें करे। ऐसा संभव न हो तो खिड़कीके सामने करे या जहां शुद्ध वायुकी धारा आती हो।

(८) व्यायाम नंगे होकर करे। लंगोट अत्यन्त कसा न हो जिसमें रक्तका प्रवाह और मांसपेशियोंकी गतिमें तनिक भी बाधा न पड़े।

(९) व्यायामके पहले शरीर और मनको बहुत आराम और शान्तिमें रखे, बदन बिलकुल ढीला रहे।

(१०) व्यायाममें डंबेल, नाल, मुगदर आदिकी आवश्यकता

न पड़नी चाहिये। बिना किसी यंत्रके ही व्यायाम करनेमें अधिक लाभ है। किसी यंत्रको काममें भी लावे तो वह हलका होना चाहिये। लोग भारी भारी जोड़ी हिलाते हैं। स्वास्थ्यकी दृष्टिसे इस भारका कोई उपयोग नहीं है।

(११) एक एक सप्ताहके लिये चुनकर दो चार या छः प्रकारके व्यायाम नियुक्त कर ले। बराबर महीनों और बरसों एक ही तरहके व्यायाम करते रहनेमें मन उकता जाता है और व्यायाम छूट जाता है। चतुर व्यायामी समझ समझकर नये नये व्यायाम निकाल सकता है।

(१२) आदिमें थोड़ा ही व्यायाम चुने फिर धीरे धीरे बढ़ावे। इस विधिसे व्यायामसे मन न ऊबेगा।

संशोधक व्यायाम

हमारे देशमें साधारणतया दंड बैठककी जो रीतियां प्रचलित हैं उनमें इतने भेद प्रभेद हैं कि आसानीसे अदल-बदलकर एक पूर्ण स्वस्थ मनुष्य व्यायामका साप्ताहिक क्रम बना सकता है। दंड बैठकमें प्रायः समस्त अंगोंको पूरा परिश्रम पड़ जाता है। जो लोग बैठे बैठे दूकानपर सौदा बेचा करते हैं या कुरसियोंपर दिनभर डटे कागज काला किया करते हैं, या कपड़े सीते रहते हैं, या कपड़े छापते रहते हैं, या आरामसे बैठे चारपाइयोंके बान तोड़ा करते हैं, उन्हें तो सारे शरीरका पूरा व्यायाम चाहिये और दंड बैठक उनके लिये सबसे उपयुक्त है, यदि वह साधारणतया हृष्टपुष्ट या तगड़े हों।

दंड करनेमें अगर हाथकी ओर इतना ऊंचा कर लें कि उनका सिर प्रायः ऊंचे रहे तो अच्छा है। दंड बैठकमें किसी यंत्रकी आवश्यकता नहीं पड़ती, परिश्रम पूरा पड़ता है, व्यायामी थोड़ी देरमें थक जाता है। यह भी याद रहे कि नीचेसे ऊपरकी ओर उठते समय सांस भरे और लौटती बेर सांस छोड़े। बैठकमें भी उठती बेर सांस भरे और बैठती बेर छोड़े। यह कसरत साधारणतः लोग झटकेके साथ जल्दी जल्दी करते हैं। यदि श्वासकी गतिके साथ धीरे धीरे करें तो अधिक लाभकी संभावना है। यह व्यायाम तगड़े लोगोंके लिये, स्वास्थ्यकी रक्षा और सुधारके लिये है, शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये ठीक है। अत्यधिक न हो, थकानेवाला न हो तो नीरोग मनुष्यके लिये ठीक है। परन्तु रोगीके लिये यह व्यायाम नहीं है।

भिन्न भिन्न अंगोंके संशोधनके लिये नीचे लिखे भिन्न प्रकारके व्यायाम उन लोगोंके लिये दिये जाते हैं जो दंड बैठकको अधिक श्रमसाध्य समझते हैं।

१—पसुलियोंके बीचकी और पीठकी ओर रहनेवाली पेटकी मांसपेशियोंका संशोधन और व्यायामके लिये यों व्यायाम करो। सीधे खड़े हो और धीरे धीरे सांस खींचते हुए, हाथोंको सीधे आगे बढ़ाओ और सिरके ऊपर ले जाओ और भरसक पीछेकी ओर पसारे हुए हाथ सिर और पीठको झुकाओ और गहरी सांस लिये जाओ। फिर धीरे धीरे गहरी सांस निकालते हुए सिर हाथ और धड़को

सीधाईमें आगेकी ओर झुकाओ, यहांतक कि हाथकी अंगुलियां पैरके अंगूठोंको छू लें। हां, दो बातें याद रहें जो बहुत जरूरी हैं। खड़े होनेमें एड़ियां छू जायँ पर अंगूठोंके बीच सात अंगुलका अन्तर रहे। आगे झुकनेमें अंगुलियोंके छू लेनेपर भी आदिसे अन्ततक घुटने सीधे रहें, झुकने कदापि न पावें।

२—सीधे खड़े हो। दोनों बाँहोंको सीधे पीछे ले जाओ कि हथेलियां छू जायँ या मिल जायँ। हर बार दोहरानेमें कोशिश रहे कि दोनों हाथ ऐसी दशामें ऊंचे होते जायँ। हाथ पीछे ले जाती बेर पांवकी अँगुलियों और अंगूठोंके बल उठते और सांस खींचते जाओ। विना ठहरे तुरन्त दोनों हाथोंको वक्षःस्थलपर झटकेके साथ ऐसे लाओ कि दहनी हथेली बायें पक्खेपर मारे और बायीं दहने पक्खेपर। इसी गतिको बारंबार दोहरानेमें एक बार दहना हाथ ऊपर पड़े और दूसरी बार बायाँ हाथ ऊपर पड़े। इस समय अंगूठे और पावँकी अँगुलियां नीची होती जायँ, धरतीसे पैर पूरा लग जाय और सांस छोड़ता जाय। यह व्यायाम दससे लेकर बीस बारतक करे। इससे फेफड़ोंकी अच्छी मालिश हो जाती है। इसे जल्दी जल्दी और बलपूर्वक करो।

३—गहरे वक्षःस्थल और दुबली गर्दनको भरनेके लिये व्यायाम इस तरह करो। सीधे खड़े हो। ठोढ़ी

न ऊंची हो न नीची। गरदन झुकने न पावे। सीधी रहे। सिरको भरसक आगे बढ़ाओ। फिर सीधा कर लो। फिर उसी तरह सीधे पीछे बढ़ाओ और फिर सीधा कर लो। [हर बार कोशिश करो कि अधिकाधिक पीछे जाय। गरदन झुकने न पावे।] फिर दहनी ओर सिरको झुकाओ। फिर सीधा कर लो। फिर बायीं ओर झुकाओ। फिर सीधा कर लो। यह क्रिया बारी बारीसे दससे लेकर बीस बारतक करो। फिर भरसक आगेको सिर झुकाओ। फिर भरसक पीछेको झुकाओ। यह क्रिया दससे बीस बारतक करो।

४—वक्षःस्थलको लचीला करने और पाचन-यंत्रोंको शोधनेके लिये यह व्यायाम करो। सीधे खड़े हो जाओ। गहरी सांस धीरे धीरे खींचो और दोनों हाथों-को बगलसे सटा हुआ लटकाये रहो। जब सांस निकालने लगो धीरे धीरे बायीं बगलकी ओर झुकते और दहना हाथ उठाते जाओ। सांस पूरी निकलते निकलते दहना हाथ और बाहु सीधा ऊर्ध्व हो जाय और जितना झुक सको बायें भरपूर झुको, **बायां हाथ शरीरसे लगा अधिकाधिक नीचा होता जाय।** अब धीरे धीरे सांस खींचते हुए ज्योंके त्यों हो जाओ। फिर सांस धीरे धीरे छोड़ते हुए दहनी बगलको झुको और बायीं बाहु और हाथ ऊर्ध्व हो जाय—पहले किये हुए व्यायामका ठीक उलटा। इस प्रकार दोनों मिलाकर एक बार हुआ। इसी तरह आवश्यकतानुसार कई बार करो। मंदाग्नि,

अजीर्ण, आदिमें यह व्यायाम लाभदायक है। प्राणायामके साथ इस व्यायामसे दमा और क्षयरोगसे रक्षा होती है।

५—**वक्षःस्थलकी और बाहुओंकी मांसपेशियोंको सुधारने और बल देनेको** यह व्यायाम करो। सीधे खड़े हो, कुहनियां बगलमें हों, दोनों हाथ छातीपर ऐसा रखो कि अंगूठ भीतरकी ओर रहें। तेजीसे बाहोंको सीधे सामने फैलाओ, फिर बगलमें फैलाओ। दोनों दशाओंमें बाहें धड़से समकोण बनाती रहें। अब सीधे ऊपर ले जाओ कि तुम्हारे शरीरके सीधमें ऊंचे रहें। फिर नीचे बगलमें बदनसे छूते हुए सीधे लटकाओ, फिर पीछे ले जाकर हथेलियोंको मिलाओ, फिर लौटाकर आरंभकी तरह छातीपर रखो। इतनी एक क्रिया हुई। यही बारंबार करो। इसीमें मुट्ठी बंद करने और खोलने, केवल कुहनी उठाकर मुट्ठी कंधोंपर रखने और कुहनी बिना हटाये हाथको बगलके सीधमें दहने वांयें खोलने और झटकेसे बन्द करने आदिसे इस व्यायाममें कुछ विभेद कर सकते हैं। इससे व्यायामीका जी लगेगा। आवान्तर भेदसे अदला-बदली करनेमें जी नहीं ऊबता।

६—**यकृतकी क्रिया प्रमित न हो तो उसे ठीक काममें उत्तेजित करनेके लिये यह व्यायाम करो।** सीधे खड़े हो। दोनों हाथ कमरपर रखो। टांगें ठीक सीधी रखो। कमरपर धड़को इस प्रकार घुमाओ। पहले आगे झुको फिर दहने, फिर पीछे, फिर वाँयें। फिर इसका उलटा करो। यह एक क्रिया हुई। इसी प्रकार बारंबार करो।

७—स्त्रीरोगोंकी चिकित्साके लिये नीचे बताये दो व्यायाम बहुत अच्छे हैं। वस्तिगह्वरके समस्त अंगोंको और पेड़ू और पेटकी मांस-पेशियोंको बल मिलता है और इनका संशोधन होता है।

(क) सिरके नीचे दोनों हाथ रखकर चटाईपर चित लेटो। टांगें सीधी पसरी हों। अब दहनी टांग अत्यन्त धीरे धीरे जितनी ऊंची हो सके उठाओ। ध्यान रहे कि घुटने बिल्कुल सीधे रहें। धड़से दहनी जंघा समकोण बनावे। फिर बहुत धीरे धीरे ज्योंका त्यों करो। फिर बायीं टांगसे यही क्रिया करो। यह एक क्रिया हुई। ऐसा बारंबार करना चाहिये।

(ख) हाथ छातीपर बांधे चटाईपर चित लेटो। टांगें सीधी पसरी हों। पैर किसी अलमारीके नीचे या मेज या किसी ऐसी रुकावटके नीचे टिके हों कि उठ न सकें। घुटने, पीठ और गर्दन बिल्कुल सीधी रहे। कमरके सहारे धीरे धीरे उठो और लगभग बैठेसे होकर फिर धीरे धीरे पहलेकी तरह चित लेटे हो जाओ। यह एक क्रिया हुई। इस प्रकार बारंबार करो।

हमने इस दृष्टिसे यह सात व्यायाम दिये हैं कि फुप्फुस, हृदय, यकृत, आमाशय, पक्वाशय, वस्तिगह्वरके अंग, इनके सम्बन्ध-की मांसपेशियां, हाथों और बाहोंकी मांसपेशियां काममें आवें, लचकदार रहें और बलवती हों। इनके सिवा और अंगोंकी

पुष्टिके लिये भी व्यायाम बताये जा सकते हैं। सत्योपचार-वाले इस अध्यायमें हम स्वाभाविक चिकित्साके भिन्न भिन्न उपचारोंका दिग्दर्शनमात्र करते हैं। प्रत्येक अंग वा प्रत्येक रोगकी चिकित्साके प्रकरणोंमें हम तत्तद्विषयक भिन्न भिन्न स्वाभाविक उपचारोंकी चर्चा करेंगे। इसीलिये यहां केवल यही सात व्यायाम पर्य्याप्त समझते हैं।

बाजारमें स्कूलके लड़कों और लड़कियोंके लिये अनेक देशी कसरतकी पुस्तकें चलती हैं जिनमें अच्छे अच्छे वैध व्यायाम दिये हुए हैं। उनके सिवा व्यायामके प्रसिद्ध आचार्य्य राममूर्त्ति, सैंडाउ और मूलर आदिके भी विविध व्यायाम देशमें प्रचलित हैं। इनसे भी विशेष लाभ होता है। सैंडाउ तो व्यायाम-चिकित्सासे बड़ा लाभ उठा रहा है। धन कमा रहा है। इन आचार्य्यों की रीतियां जो तगड़े मनुष्योंके लिये हैं देशमें प्रचलित हैं, उनपर कोई विस्तार यहां अनावश्यक है। दंड बैठकका दर्जा उनकी विधियोंसे प्रायः ऊंचा है।

मोटापेको घटाने और पेटको अपनी मर्य्यादाके भीतर लानेके लिये कुछ विशेष व्यायाम हम विशेष चिकित्सा-प्रकरणमें ही देंगे, क्योंकि मर्य्यादासे बाहर मोटाई और तोंदका फूलना भी रोग है, जिसके लिये व्यायाम ही अकेला उपाय नहीं है। जो रोगी दुर्बल हैं, व्यायाममें असमर्थ हैं, परन्तु प्राणायाम कर सकते हैं, वे टहलें और प्राणायाम करें अथवा टहल न सकें तो प्राणायाम करें और झूलनेवाली आराम कुरसीपर जरा हिलें और

हवामें बैठकर गहरी सांस लेनेका अभ्यास करें, सवारीपर हवा खाने निकला करें।

किसी एक ही उपचारसे स्वभावको रोगशमनमें पूरी सहायता नहीं मिल सकती, साथ ही और भी उपचार करने पड़ते हैं। अकेले व्यायामसे किसी रोगका सर्वथा शमन नहीं हो सकता। उसके साथ ही और भी उपचार आवश्यक हैं।

मानसिक व्यायाम या मनसायाम

हम कह आये हैं कि बिना मानसिक शक्ति लगाये और बिना प्राणायामके व्यायामसे यथेष्ट लाभ नहीं होता। शारीरिक व्यायाम लाख करो, बेपरवाईसे बिना ध्यान दिये बेमनकी कसरतसे सिवा मांसपेशियोंके कुछ विकासके और कोई लाभ नहीं होता। यदि चाहते हो कि व्यायाम रोगशामक हो, दैहिक क्रियाओंका संशोधक हो, तो मन और संकल्पशक्तिको दृढ़तासे व्यायाममें लगाना ही होगा।

हमारी सारी क्रियाओंपर संकल्पशक्तिका बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। यों तो हमारे शरीरके भीतरकी अविज्ञात क्रियाएं जीवोंके जीवन परमात्माकी पराशक्तिकी प्रेरणासे बिना हमारी संकल्पशक्तिके होती रहती हैं, हमारी जाग्रत चेतनासे कोई मतलब नहीं रहता, तो भी हम चाहें तो अपनी जाग्रत चेतनाकी संकल्पशक्तिसे, अपनी बुद्धिसे और मनोबलसे जीवनकी क्रियाओंको अधिक कोमल और परिस्थितिके अनुकूल बनावें, उन्हें उत्तेजित करें और उन्हें शक्ति पहुँचावें। योगी अपने

अविज्ञात कर्म्मोंपर भी अभ्याससे बहुत कुछ प्रभाव डाल सकता है। व्यायाम, प्राणायाम, मनसायाम और विविध उपचारोंसे भी तो अविज्ञात कर्म्मोंपर अमिट प्रभाव डाले जाते हैं। मनसायामसे जो प्रभाव पड़ता है उसका सम्बन्ध जगद्धात्री पराप्रकृतिसे घनिष्ट है। हमारी संकल्पशक्ति बाहरी और भीतरी दोनों क्रियाओंपर प्रभुत्व रखती है।

उदाहरणके लिये व्यायामके दस शिक्षार्थियोंकी एक श्रेणीसे कहिये कि बोझ उठानेकी क्रियाकी विधिपूर्वक जांच करें। देखें कि कौन कौन केवल शारीरिक शक्तिसे कितनी देरमें कितना बोझतक कितने ऊंचे उठा सकते हैं। इसके अनन्तर इस श्रेणीको अच्छी तरह समझाइये कि मनका इंद्रियोंपर कितना प्रभाव है, इंद्रियां स्वयं कितना बल लगा सकती हैं और आश्वासन और सद्व्यवहारके साथ उन्हीं इंद्रियोंसे मन कितना अधिक काम ले सकता है। संकल्पशक्तिके सहारे उन्हीं अवस्थाओंमें कितना अधिक बोझ कितने अधिक ऊंचे वही लड़के ले जा सकते हैं, इस बातकी जांच करके देखिये तो पता लगता है कि डेवढ़ेसे अधिक काम वही लड़के सहजमें अब कर लेते हैं।

मनुष्यमें अपरिमित शक्ति निहित होते हुए भी संकल्पशक्तिकी दृढ़ प्रेरणाके अभावमें उससे काम नहीं लिया जाता। इसी निहित शक्तिपर अपना प्रभाव जमाकर कोई दूसरी व्यक्ति अद्भुत काम कर दिखाती है। मैंने एक नवयुवकको देखा जो स्वयं

अपनी संकल्पशक्तिसे काम लेकर साधारणतया बदनको कड़ा करके कमरके बल उठनेवाला व्यायाम भी ठीक रीतिसे नहीं कर सकता था, एक सुलानेवाले साधकके प्रभावमें आकर एक कुरसीपर सिर और दूसरीपर एड़ी टेककर सीधा निराधार लकड़ीकी तरह अकड़ा पड़ा रहा। एक सोलह वर्षीया कन्याने दूसरी व्यक्तिकी संकल्पशक्तिसे प्रभावान्वित होकर अपने दाँतोंसे एक बीस सेरका भरा घड़ा उठा लिया और खड़ी हो गयी। वही अपने संकल्पसे हाथोंके सहारे शायद कंधे तक बीस सेरका बोझ न उठा सकती। दूसरी व्यक्तिकी संकल्प-शक्तिसे वही लड़की इतनी भारी हो गयी कि दो तगड़े और बलवान् पुरुष उसे अपनी जगहसे हिला न सके। इन प्रत्यक्ष देखी क्रियाओंसे मुझे यह निश्चय हो गया है कि प्रत्येक व्यक्तिमें अपरिमित शक्ति निहित है जिससे काम लेनेको बहुत बलवती संकल्पशक्ति चाहिये। पराये संकल्पसे उस निहित शक्तिका व्यवहार कर सकना जड़ता एवं दासभाव है। आज अपरिमित शक्तिशाली भारत देश पराये संकल्पके अधीन इसी जड़ता और दासत्वसे पिस रहा है। प्रत्येक व्यक्तिका यह कर्त्तव्य है कि अपने शरीरके लिये अपनी संकल्पशक्तिका उचित विकास करे और अपनी देहमें निहित अपरिमित शक्तियोंका उचित व्यवहार करे।

सिद्ध योगी अपने शरीरको पूर्णतया वशमें करके अविज्ञात क्रियाओंपर भी अपना प्रभाव डालता है। केवल अपनी

इंद्रियोंपर अधिकार नहीं रखता। वास्तविक पूर्ण सिद्ध योगी तो अपने शरीरके अणु अणुपर अधिकार रखता है, जो चाहता है काम लेता है। ऐसी दशामें रोग उसके पास फटकता नहीं। मृत्युका साहस नहीं होता कि उसके पास आवे। योग-साधनका विषय इस ग्रंथके प्रयोजनके बाहर है अतः उसपर विशेष कुछ कहना व्यर्थ है।

जगद्धात्री पराप्रकृति वैज्ञानिक परिभाषामें धनात्मिका है और जगज्जनयित्री अपराप्रकृति ऋणात्मिका है। अपरापर पराका अधिकार होना आवश्यक है। जीवनशक्ति, प्राणशक्ति और संकल्प-शक्तिका मन और इंद्रियों और समस्त शरीरपर पूरा अधिकार चाहिये। परन्तु ऐसो अनेक व्यक्तियां हैं जिनकी उलटी दशा है, जिनका शरीर स्वामी है, जीव दास है। शरीरमें थोड़ी भी क्षति हुई कि जीव विकल हो गया। संकल्पशक्तिका जहां प्रायः अभाव है अथवा दौर्बल्य है, वहां शरीरकी रक्षा होनेमें अनेक और अधिक बाधाएं उपस्थित होती हैं। थोड़ी सी बाधासे भी चित्त भय और चिन्तासे व्याकुल हो जाता है। यह मानसिक रोगोंका मूल कारण है। इसलिये संकल्पशक्तिको बलवती करना उसके लिये मनसायाम करना सबसे उत्तम उपचार है। संकल्पशक्तिका स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरोंपर पूर्ण स्वराज्य स्थापित होना चाहिये। इस स्वराज्यकी स्थापनाके लिये प्राणायाम और मनसायामका अभ्यास व्यायामके साथ ही साथ नियमित रूपसे होना चाहिये।

संकल्पशक्तिको बलवती बनानेके लिये शारीरिक परिश्रमकी कोई बड़ी आवश्यकता नहीं है। अपने जीवनको धीरे धीरे संयमशील बनाना चाहिये। विद्यार्थी अपने पढ़नेका समयक्रम और विषयक्रम बनाकर जब उसके अनुसार चलनेका प्रयत्न करता है तब वस्तुतः मनसायाम वा मनोनिग्रहका अभ्यास करता है। पढ़नेमें मन लगानेमें भी मनोनिग्रहसे काम लेना पड़ता है। प्रातः ब्राह्ममुहूर्त्तमें निश्चित समयपर उठना संकल्प-शक्तिका छोटा सा अभ्यास है। नींद आनेके समय रातमें दृढ़ संकल्प करो कि "मैं इतना बजकर इतने मिनिटपर उठूंगा"। यह वारंवार मनमें धारण करते हुए सोनेसे ठीक समयपर जाग उठना अनिवार्य्य है। यदि शरीर इस आज्ञाके पालनमें तनिक भी गड़बड़ करे तो फिर सोती वेला वारंवार दृढ़ता-पूर्वक आज्ञा दो "इतने बजकर इतने मिनिटपर तुझको अवश्य उठना होगा" यदि इतनेपर तनिक सा भी गड़बड़ हो तो अपने अन्तरात्मासे या जगद्धात्री शक्तिसे या परमात्मासे, चाहे जिस भावसे तुम उस पराशक्तिको मानते हो, प्रार्थना करो कि तुम्हें निश्चित समयपर जगा दे। इस बार तुम्हें असफलता होनी असंभव है। पहली क्रिया "संकल्प" है। दूसरी "आज्ञा" है। तीसरी "प्रार्थना" है। शरीर अपना सेवक है उसको आज्ञा देना अपना अधिकार है। यदि वह अपने काबूमें नहीं है तो उसका अर्थ है कि अपनेमें उसे वशमें रखनेकी शक्ति नहीं है। अब इस शक्तिके मूलस्रोत जगद्धात्रीसे, परमात्मासे,

प्रार्थना की जाती है। सारी शक्तियां वहींसे आती हैं, सब कुछ उसीके वश है।

प्रातः उठकर शरीरको शौचकी बान डालनी चाहिये। आवश्यकता प्रतीत न होनेपर भी जाना चाहिये और प्रवृत्ति और इच्छा और मनोवल और दृढ़ संकल्पशक्तिसे यहां भी काम लो। कुछ दिनों असफलता होनेपर भी यह क्रिया जारी रखो। **प्रयत्न सफल हुए विना कभी न छोड़ो।** सफलता अनिवार्य्य है। दुर्वल संकल्पशक्तिको सबल बनानेके लिये यह दूसरा मनसायाम है।

शौचके अनन्तर दन्तधावन, फिर हलका व्यायाम, फिर स्नान, फिर शरीरमर्दन और फिर किसी न किसी प्रकारकी सन्ध्या उपासना भजन अपने अपने वर्णाश्रम सम्प्रदाय मत पंथ मजहवके अनुसार थोड़ी देरतक करना आवश्यक है। यह क्रम शरीरके लिये स्वाभाविक और स्वास्थ्यदायक है और संकल्पशक्तिके लिये तीसरा आयाम है। सन्ध्या उपासना भजन नमाज प्रार्थना चाहे जगत्में कोई आस्तिक मनुष्य करे उसके पहले पूरा शौच और स्वच्छता सभी देश और काल और विधिमें अनिवार्य्य है। वाहरी शौच जैसे दंतधावन स्नान आदिसे होता है, भीतरी शौच मलमूत्र-विसर्जन आदिसे और प्राणायामसे होता है। हठयोगी भीतरी शौचके लिये नेती, धौती, न्योली, गजकर्म्म, वस्तिकर्म्म करता है जिसमें संकल्पशक्तिकी पूरी कसरत होती है, परन्तु यह विधियां कठिन हैं और विना व्यावहारिक शिक्षाके

नहीं आतीं। स्वास्थ्यरक्षाके लिये इतने कठिन विधियोंकी न तो आवश्यकता है और न सर्वसाधारणके लिये ही यह विधियां हैं। प्राणायामकी जो विधि हम पिछले प्रकरणमें बता आये हैं उससे पूरे रक्तसंस्थान और श्वाससंस्थानकी सफाई हो जाती है। पावनसंस्थानकी सफाई प्रकृतिपर ही सर्व साधारणको छोड़ देना चाहिये। अतएव संध्या, उपासना भजन या नमाजके पहले प्राणायाम कर लेना भीतरी शौच है। वैदिक संध्याका तो यह एक अनिवार्य्य अंग है और रीति विशुद्ध वैज्ञानिक है।

प्रत्येक मनुष्यका यह कर्त्तव्य है कि अपनी परिस्थितिके अनुसार अपने नित्यके जीवनमें अपनी दैनिक चर्य्या बना ले और भरसक उसीके अनुकूल बरते। शिक्षालयोंमें तो दैनिक चर्य्या विना कोई काम नहीं होता और प्रत्येक शिक्षार्थी अपनी चर्य्या लिखकर अपने कमरेमें रखता भी है। परन्तु हर आदमीको ऐसी चर्य्या वनानेकी आवश्यकता है, और उस निश्चित चर्य्याका पालन संकल्पशक्तिके लिये चौथा और सबसे अधिक महत्वका आयाम है।

चर्य्याके अन्तर्गत चौवीस घंटेमें कमसे कम दो बार प्राणायाम अवश्य ही रखना चाहिये। प्राणायाम केवल प्राणोंका संयम नहीं है। इसमें मनसायाम पूर्ण रीतिसे सन्निविष्ट है। विना मनसायामके प्राणायाम असंभव है। इसीलिये प्राणायामको हम पांचवा मनसायाम कहेंगे।

यह पांच मनसायाम तो संयमसे रहनेवाले साधारणतया करते हैं और अपना कर्त्तव्य समझते हैं। यहां हम कुछ थोड़े और मनसायाम देते हैं जो प्रत्येक स्त्री पुरुष इसलिये करे कि अवसर पड़नेपर मानसिक चिकित्सामें उससे सहायता मिले। व्यायाममात्रके लिये मनसायामकी आवश्यकता स्पष्ट है, साथ ही व्यायामको सार्थक करनेके लिये उसमें जी लगानेके लिये जिन यंत्रोंका लोग प्रयोग करते हैं वह मनसायामसे निरर्थक हो जाते हैं। हम जो आयाम नीचे देते हैं उनमें संकल्पशक्ति पूरी लगाइये परन्तु अतिश्रम न कीजिये। अतिश्रम अत्यन्त हानिकारक है।

छठा मनसायाम—शरीरके मलशोधन और प्राणशक्तिको धरतीकी शक्ति पहुँचानेके लिये दृढ़ विचार करके नंगे सिर नंगे पैर घास और आर्द्र मिट्टीपर चलने-फिरनेवाला काम बाग या खेतमें करना चाहिये। इसके लिये सूर्योदयके पहलेकी बेला सबसे अच्छी है। तात्पर्य्य यह कि ओस पैरोंमें लगे और धरतीका तलवोंसे पूरा स्पर्श हो। साथ ही पसीनेसे रातभरका रक्तमें संचित मल निकल जाय। आर्द्रताके साथ साथ पृथ्वीकी चुम्बक शक्ति [वा धृति, धारण, सहन, क्षमा, जो नाम दीजिये] तलवोंकी नाड़ियोंसे सीधे मस्तिष्क और मेरुदंडके भीतर प्रवेश करती है। पंजेके नीचे ऊपर और अंगुलियोंसे मस्तिष्कसे आनेवाली नाड़ियोंका सीधा सम्बन्ध है। शिरोवेदना, चक्कर, सुन्न आदि इस विधिसे दूर हो जाते हैं। इस प्रकारके परिश्रमसे

जो पसीना निकलता है उससे जितने मल और विष बाहर निकल जाते हैं उतने बफारेसे या वाष्प या धूपस्नानसे होनेवाले पसीनेसे दूर नहीं होते। इस बातकी विधिवत् अनेक बार वैज्ञानिक परीक्षाएं हो चुकी हैं। नंगे पैर टहलने या काम करनेमें ठंढसे डरना न चाहिये। इसमें लाभ है, हानि नहीं। यदि खेत या बागमें इस प्रकार कोई परिश्रम करनेका अवसर किसी कारणसे न मिलता हो तो उससे उतरता हुआ सर्वोत्तम उपाय यही है कि मनमें धरतीकी शक्तिको शरीरमें धारण करने और विषों और मलोंके निकाल बाहर करनेका दृढ़ संकल्प किये हुए केवल नंगे पैर नंगे सिर टहलता रहे और मुट्ठी ऐसी दृढ़तासे बांधे टहले कि कलाईकी रगें चढ़ी दीखें। टहलना भी अच्छे वेगसे हो कि पसीना आवे। इतना अधिक न हो कि थक जाय, बल्कि इतना कि इस मनसायामके बाद अपनेको ताजा और हलका अनुभव करे और काम करनेमें स्फूर्त्ति हो। यही ठीक आयामकी कसौटी है। यदि आयामके पीछे सुस्ती आयी तो समझो कि यह आयाम आवश्यकतासे अधिक देरतक हुआ। आयाम कितना ही थोड़ा करे पर उसके साथ दृढ़ संकल्प हो, पक्की धारणा हो। अन्यथा वह मनसायाम नहीं, कोरी बेगार है।

टहलनेके बदले नंगे पैर नंगे सिर घासमें खेल-कूद भी जो थकानेवाला न हो प्रायः उतना ही लाभ पहुँचाता है। परन्तु चाहे टहलना हो चाहे खेल-कूद हो, चाहे खेत या बागमें काम

हो, जब कभी खड़ा होना या खड़ा रहना या चलते रहना हो, तो कमरपर धड़ और गर्दन और सिर बिलकुल सीधे धरतीपर लम्ब डालते हुए हों। इस बातके अभ्यासकी बड़ी आवश्यकता है। दीवारसे अपने शरीरको सटाकर सीधा नाप लो और उसी सीधमें चलने फिरने खड़े रहनेकी आदत डालो। इससे "चाल" सुधर जायगी। शरीरका गठन अधिक सुन्दर लगेगा।

टहलकर या परिश्रम करके आये और यदि बदनपर कपड़े हों तो उतारकर तुरन्त ही शरीरके गरम रहते ही नहा डाले और अंगोछेसे शरीरको खूब रगड़ रगड़कर मल मलकर धोये। पीठ मलनेके लिये गीले अंगोछेके दोनों सिरे हाथोंमें थामकर भिन्न भिन्न दिशाओंसे रगड़े और बराबर मनमें यह विचार रखे कि मैं मलको रोमरंध्रोंके मुखसे रगड़ रगड़कर निकाल रहा हूँ। इस रंगड़नेके बाद भी पानीसे खूब नहाकर बदन पोंछ ले और कुछ देर आराम करे।

सातवां मनसायाम—विधिवत् सीधे खड़े हो, वक्षःस्थलपर दोनों हाथ रखो। मुट्ठी कसकर बांधो कि रगें तन जायँ। कंधोंसे सीधे आगेकी ओर झटकेके साथ हाथ फेंको। सीधा रखो और फेंकते रहो कि सभी मांसपेशियां तन जाय। यह बिना तुम्हारी संकलपशक्तिके हो नहीं सकता। एक सेकंडमें एक बार यह क्रिया करनी चाहिये। फिर उसी प्रकार सीनेपर हाथ रखकर नीचे सीधे बगलमें हाथ इस

तरह झटकेसे डालो कि हाथ शरीरसे लगा सीधा लटके पर मांसपेशियां तनी रहें। फिर छातीपर ले जाकर बिना झुके पीछेकी ओर जितना बने झटकेके साथ ले जाओ फिर वापस लाओ। यह तीनों मिलाकर एक क्रिया हुई। इस आयाममें संकल्पशक्तिका प्रयोग ही व्यायामत्व है, अन्यथा कोरा हाथ फटकारना श्रममात्र है।

जो लोग अपनी संकल्पशक्ति इतनी दुर्बल पाते हैं कि जो व्यायाम हम बता आये हैं उनमें भी उसका यथावत् प्रयोग नहीं कर सकते, उनके लिये यह सात मनसायाम संकल्पशक्तिको राहपर लानेको काफी हैं। उन्हें चाहिये कि इन सात आयामोंसे ही आरंभ करें और जब उनको अपनी शक्तिके प्रयोगका अभ्यास हो जाय तब वह जो व्यायाम चाहें मनपर पूरा जोर देकर क्रिया करें।

रोगीकी दशापर पूरा विचार करके चिकित्सकको उचित है कि उचित प्रकारका, उचित मात्रामें प्राणायाम, मांसायाम और मनसायाम बतावे। व्यायाम-चिकित्सामें देशकाल पात्रका विचार आवश्यक है। रोगीका स्वभाव कैसा है? शरीरका गठन कैसा है? बलका क्या हाल है? रक्तकी क्या दशा है? मांसपेशियां कैसी हैं? उनके लचक और स्थानके औचित्यकी क्या दशा है? किस अंगका विकास किस प्रकारका है? उस अंगकी आवश्यकताएं क्या हैं? किस अंगपर अधिक श्रम पड़नेसे किस अंगकी हानिकी संभावना है? क्या किसी विशेष

मांसायामसे नाड़ीमंडल या वातसंस्थानका काम अस्तव्यस्त तो नहीं हो जायगा ? इस प्रकारकी अनेक बातोंपर विचार करके विशेष प्रकारका प्राणायाम, मांसायाम या मनसायाम नियुक्त करना चाहिये। यह याद रहे कि व्यायाम-चिकित्सा स्वतंत्र चिकित्सा नहीं है। यह और चिकित्साओंका सहायक है। किस प्रकारके आयामके साथ क्या पथ्य चाहिये, किस प्रकारका रहन सहन चाहिये और क्या क्या उपचार आवश्यक है देशकाल पात्रके अनुसार विचारणीय है।

व्यायाम-चिकित्सा किसी कसरती पहलवानका काम नहीं है। प्रोफेसर राममूर्त्ति, सैंडाउ, मूलर आदि चिकित्सक नहीं हैं। यह भारी व्यायामी हैं। चिकित्सक तो रोगी शरीरको नीरोग करनेकी दृष्टिसे चिकित्सा करता है और परिस्थिति और अन्तःस्थितिपर पूरा विचार करके उचित उपचार बतलाता है। प्रत्येक चिकित्सक भी इस विषयका विशेषज्ञ नहीं होता। जिस चिकित्सकने और प्रकारके उपचारोंका ही विशेष परिशीलन किया है, वह व्यायामके बारेमें कुछ भले ही जानता हो, पर आयामोपचार बतानेकी योग्यता नहीं रखता। व्यायाम-चिकित्सक वही विशेषज्ञ कहा सकता है जिसने शरीर-विज्ञान और देह-व्यवच्छेद शास्त्रका पूरा अध्ययन किया है, जिसने विशेष रूपसे नाड़ी-विज्ञानका परिशीलन किया है और हठयोग और राजयोगकी क्रियाएं सीखी हैं और कुछ साधन भी ठीक आचार्य्यकी अध्यक्षतामें किया है। जिसे इन विषयोंका अच्छा

अनुभव न हो वह आयामोपचारद्वारा हानि भी पहुँचा सकता है, और लाभ भी। हम अन्यत्र चार चित्र देते हैं जिससे पता लगेगा कि नाड़ीमंडलसे किस किस अंगका कैसा सम्बन्ध है। संबन्ध पूरा न जानकर उपचारी लाभके बदले ऐसी हानि कर सकता है जिसका प्रतिशोध अत्यन्त कठिन है। जो जो आयाम जिन जिन विधियोंसे गत पृष्ठोंमें दिये गये हैं, ऐसे चुने गये हैं कि साधारण स्वस्थ मनुष्य करे तो कभी उसे भूल या हानिके लिये पछताना न पड़ेगा। यह व्यायाम संशोधक हैं और बलकारक हैं। और व्यायाम रोगशामक भी हो सकते हैं और वही किसी रोगीके शरीरमें हानिकारक प्रभाव भी पैदा कर सकते हैं।

भीतरी व्यथाका बाहरी तलसे सम्बन्ध

हम अन्यत्र कर्म्म (चालक) और ज्ञान (सांवेदनिक) नाड़ियोंकी चर्चा कर चुके हैं। ज्ञाननाड़ियां सब ओरसे केन्द्रकार्य्यालयको ज्ञान या संवेदना पहुँचाती हैं। कर्म्मनाड़ियां केन्द्रकार्य्यालयसे आज्ञा लेकर बाहरकी ओर बल पहुँचाती हैं अथवा कर्म्म करती हैं। ज्ञाननाड़ियां केन्द्रगामी और कर्म्मनाड़ियां केन्द्रत्यागी होती हैं। कुछ नाड़ियां मिश्रित होती हैं। दोनों काम किया करती हैं। सुषुम्ना नाड़ी मस्तिष्कसे आरम्भ होकर मेरुदंडके भीतर होकर रीढ़भरमें अपने रज्जु फैलाती है। पिंगला नाड़ी ग्रीवा वक्ष और उदरमें पृष्ठवंशके सामने या इधर उधर दो डोरियोंके रूपमें रहती है जिनमें मालाकी गुरियोंकी तरह थोड़ी थोड़ी दूरपर गांठें या उभार होते हैं। इन उभारोंको

गंड कहते हैं। प्रत्येक मालासे निकली हुई जो नाड़ियां अन्न-मार्ग या तत्सम्बन्धी गांठोंमें जाती हैं, इडा नाड़ियां कह-लाती हैं। नाड़ो गंड (Ganglia) सेलों तथा नाड़ीसूत्रों-का समूह होता है। सुषुम्नाकी नाड़ियोंसे नाड़ीके सम्बन्धक सूत्रोंद्वारा इन गंडोंसे सम्बन्ध होता है। सम्बन्धक धूसर और श्वेत दोनों प्रकारके तार होते हैं। यह सब तार परस्पर सम्बन्ध-के साथ शरीरके भिन्न भिन्न अंगोंमें पहुँचते हैं। इन तारों और गंडोंसे जाल बन जाते हैं जिनसे निकली हुई नाड़ियां वक्षः-स्थ और उदरस्थ अंगोंको जाती हैं। शरीरमें तीन बड़े पिंगला नाड़ीजाल हैं वक्षःस्थलीय, नाभिप्रदेशीय और वस्तिदेशीय। प्रधान सौषुम्न नाड़ीजाल पांच हैं। ग्रीवाके ऊपर, ग्रीवाके नीचे, कक्षमें, कटिमें और चौथा और पांचवां वस्तिगह्वरमें त्रिकास्थिके सामने। इन्हें क्रमशः ग्रैव जाल, भुजाजाल, कटिजाल, त्रिकजाल और सक्थिजाल कहते हैं *।

---

* उपर्युक्त आठ चक्र शरीर-व्यवच्छेद-शास्त्रियोंके अनुसार हैं। भारतीय योगशास्त्रियोंके अनुसार षट्चक्र मुख्य हैं। पहला आधारचक्र जिसका स्थान गुदा है। दूसरा स्वाधिष्ठानचक्र जिसका स्थान लिंग वा योनिका ऊपरी भाग है। इन्हीं चक्रोंका घर्षण और शीतकरण कूनेका मेहन-स्नान है। तीसरा मणिपूरक चक्र नाभिके पास है। चौथा अनाहत चक्र है जिसका स्थान हृदय है। पांचवां विशुद्ध चक्र है। इसका स्थान कंठ है। छठा आज्ञाचक्र है जिसका स्थान दोनों भौहोंके बीचमें तृतीय नेत्रके स्थानमें है। सातवां चक्र भी है। इसे सहस्रदल कमल कहते हैं। यह सुषुम्नाका शीर्ष है जो मास्तिष्कके ठीक मध्यमें है।

शरीरके शासनका केन्द्रकार्य्यालय मस्तिष्क है। उससे ही सारे शरीरमें यह शासनके सूत्र फैले हुए हैं। सुषुम्ना इडा पिंगलाके नाड़ीजालोंके स्थानीय कार्य्यालय जगह जगह खुले हुए हैं। इन्हें ही चक्र कहते हैं। शरीरकी अवस्था प्रमित रखनेके लिये उपचारीको इन चक्रोंकी स्थिति जाननी चाहिये। व्यायामी और मर्दन करनेवालेके लिये तो इनकी अभिज्ञता अनिवार्य्य है। स्वस्थ शरीरके भीतर छोटीसे वड़ी सभी घटनाओंपर वातसंस्थानका पूरा अधिकार रहता है। पीठपर मच्छर वैठा। उसकी सूंड धसते ही त्वगीय ज्ञाननाड़ियोंने केन्द्रमें सूचना भेजी, यही केन्द्रगामी हैं। तुरन्त वहांसे मांसपेशियोंमें काम करनेवाली कर्म्मनाड़ियोंको प्रेरणा हुई। हाथ झट पहुंचा। मच्छर दूर हुआ। फिर संवेदना हुई कि मच्छरने कुछ खोदखाद मचायी है। मरम्मत चाहिये। खुजली हुई। अंगुलियोंने मर्दन किया। मरम्मत हो गयी। इतना वर्णन करनेमें तो अमित काल लगा। यह सारे काम विजलीके तारोंसे भी अधिक तात्कालिक हैं। ज्ञान और कर्म्मकी विधि जैसे ऊपर वतायी गयी है फिर भी अत्यन्त सरल जान पड़ती है। तो भी वस्तुतः इतनी सरल नहीं है। ठीक स्थिति जाननेके लिये विस्तार अनिवार्य्य है।

वात-संस्थान और नाड़ी-चक्र

हम कह चुके हैं कि कर्म्मनाड़ियोंके तार मस्तिष्क और सुषुम्नासे निकलकर और अंगोंको जाते हैं और ज्ञाननाड़ियोंके

तार भिन्न भिन्न अंगोंसे निकलकर मस्तिष्क और सुषुम्नाको जाते हैं। कुछ नाड़ियोंमें एक ही तरहके तार होते हैं। कुछमें दोनों तरहके मिले होते हैं। सौषुम्न नाड़ियोंमें दोनों तरहके तारोंका मेल होता है। मास्तिष्कमेंसे कुछमें केवल केन्द्रगामी तार होते हैं, जैसे घ्राण और दृष्टिकी नाड़ियां। कुछमें केवल केन्द्रत्यागी तार होते हैं। कुछमें दोनों प्रकारके तार मिले रहते हैं जैसे मौखिकी नाड़ी।

कर्म्मके तार या तो सीधे या पिंगलाके गंडोंमेंसे होकर अपने अपने इष्टप्रदेश मांस और ग्रन्थियोंमें पहुँचते हैं। ऐच्छिक मांसमें (पेशियोंमें) वे सीधे पहुँच जाते हैं। अनैच्छिक मांसमें (धमनियों, हृदय तथा अन्नमार्गकी दीवारोंमें) और ग्रन्थियोंमें (धर्मग्रन्थि, लाला ग्रन्थि, यकृत इत्यादिमें) पिंगला नाड़ीमंडलमेंसे होकर जाते हैं। मांसमें पहुँचते ही तार अलग अलग हो जाते हैं। प्रत्येक मांससेलको एक सूक्ष्म तार जाता है। जब हम हाथ उठाना चाहते हैं तो हमारा मस्तिष्क नाड़ियोंद्वारा हाथकी विशेष पेशियोंको सुकड़ने और फैलनेकी आज्ञा देता है। तारोंकी सूक्ष्म शाखाओंसे यह आज्ञा प्रत्येक सेलको पहुँचती है। सेलें आज्ञाका पालन करती हैं। इससे मनचाही गति होती है।

अनैच्छिक मांसकी गतिका न तो हमको कोई पता रहता है न हम अपनी इच्छासे उनको हिला डुला सकते हैं। मस्तिष्कसे यथेष्ट आज्ञा आती रहती है, और यह अपना काम ठीक ठीक किया करता है। हृदयका धड़कना, धमनीका फड़कना,

आतोंका रेंगना और सांपकी तरह डोलना, रोमहर्षण आदि अनैच्छिक गतियां हैं। ग्रन्थियां भी अपना काम इस तरह अपने आप किया करती हैं।

सौषुम्न कर्म्मनाड़ीके तार सुषुम्नाकी सेलोंसे निकलते हैं। मास्तिष्क कर्म्मनाड़ियोंके तार या तो सुषुम्नाशीर्षककी सेलोंसे निकलते हैं या उन सेलसमूहोंसे जो मध्य मस्तिष्क और सेतुमें रहते हैं। जिस स्थान या सेलसमूहसे यह तार निकलते हैं वह उस नाड़ीका **उत्पत्तिस्थान** या **उत्पत्तिकेन्द्र** कहलाता है।

ज्ञानके तारोंसे शरीरके विविध भागोंसे मस्तिष्कतक सूचनाएं पहुँचती हैं। जैसे बिजलीके तार खराब हो जायं या कट जायँ तो समाचार एक स्थानसे दूसरे स्थानतक नहीं पहुँचा सकते उसी तरह जब किसी अंगके ज्ञानके तार बिगड़ जाते हैं, जैसे फिरंग रोग और एक तरहके कोढ़में, तब उस अंगसे मस्तिष्कतक सूचना नहीं पहुँच सकती। सिरके अगले भाग और चेहरे और दांतोंमें केन्द्रगामी तार मस्तिष्ककी त्रिशाखा नाड़ियोंद्वारा आते हैं। दृष्टिके लिये मस्तिष्ककी दूसरी नाड़ी है, घ्राणके लिये पहली नाड़ियां, रस या स्वादके लिये सातवीं और नौवीं नाड़ियां और शब्दके ज्ञानके लिये आठवीं नाड़ियां हैं। शेष सारे शरीरकी त्वचामें सौषुम्न नाड़ियोंके तार फैले हुए हैं।

सुषुम्नाकी पीछेवाली मूलसम्बन्धी गंडोंमें बहुतसी एक-ध्रुव सेलें होती हैं जिनमें प्रत्येकसे एक छोटा तार निकलता है जो शीघ्र ही दो तारोंमें बट जाता है। इनमेंसे एक जाकर

सुषुम्नाके भीतर घुस जाता है। दूसरा तार नाड़ी द्वारात्वचा-को जांता है। त्वचांमें त्वगीय ज्ञानकण होते हैं। इनमें उष्णता, शीत, दबाव इत्यादिसे परिवर्तन होता रहता है। इसकी सूचना ज्ञानतारोंद्वारा सुषुम्नामेंसे होकर मस्तिष्कको जाती है। जहां यह तार उसमें घुसें उससे ऊपर यदि सुषुम्ना कट जाय तो यह सूचना न जा सकेगी। पाश्चात्य मूलकी गंडें सौषुम्न नाड़ियोंके ज्ञानतारोंके उत्पत्तिस्थान हैं जो सुषुम्नाके बाहर हैं।

मास्तिष्क नाड़ियोंके ज्ञानके तारोंका आरंभ भी मस्तिष्कसे बाहर ही होता है। जिन सेलोंसे ये तार निकलते हैं, या तो इन नाड़ियोंसे सम्बन्ध रखनेवाली गंडोंमें रहती हैं या उन स्थानोंमें रहती हैं जहांसे इनका आरंभ होता है। दृष्टिके तार आंखके अंतरीय पटलकी सेलोंसे निकलते हैं। श्रावणी नाड़ीके तार अंतस्थ कर्णकी छोटी छोटी गंडोंकी सेलोंसे निकलते हैं।

मस्तिष्ककी सेलोंका सुषुम्नाकी सेलोंसे संबंध

खोपड़ीके भीतर बृहत् मस्तिष्कके ऊपरी धूसर अंशके विविध भागोंके जुदा जुदा काम हैं। पीड़ा उष्णता शीतका ज्ञान, मननशक्ति, दृष्टि, स्वाद, घ्राण आदि सबके वैसे तो पृथक् पृथक् भाग हैं, परन्तु इन सबका आपसमें तारोंद्वारा सम्बंध रहता है। जैसे दृष्टिसम्बंधी भागसे कुछ तार गति या स्पर्शसंबंधी भागको जाते हैं और गति या स्पर्शसंबंधी भागोंके कुछ तार दृष्टि-संबंधी भागोंमें आते हैं।

मस्तिष्कका जो भाग एक विशेष कामके लिये नियत है

उस कामका केन्द्र कहलाता है। जैसे दृष्टि केन्द्र, श्रवण केन्द्र, घ्राण केन्द्र, स्वाद केन्द्र, श्वासोच्छ्वास केन्द्र, हृदय केन्द्र इत्यादि। बड़े या विस्तृत केन्द्रको क्षेत्र कहते हैं जैसे गति क्षेत्र, संवेदना क्षेत्र।

बृहत् मस्तिष्कका श्वेत भाग तारोंसे बनता है जो अधिकतर धूसर भागकी सेलोंसे निकलते हैं। ये तार एक स्थानसे दूसरे स्थानको जाते हैं।

सुषुम्ना, सुषुम्नाशीर्षक, सेतु इत्यादिसे तार लघुमस्तिष्क और बृहत् मस्तिष्कको जाया करते हैं।

जब तार किसी सेलके पास पहुँचता है तब उसकी कई बारीक शाखाएं हो जाती हैं जिनसे एक झाड़ सा बन जाता है जिसके तार सेलके छोटे छोटे तारोंसे परस्पर उसी तरह मिले रहते हैं जैसे पास पास उगी हुई झाड़ियोंकी डालियां। अभिप्राय यह है कि जो सूचना या आज्ञा तारसे आवे सेलको तुरन्त मिल जाय। यदि आवश्यकता हो तो यह आज्ञा तारद्वारा आगे बढ़ायी जा सकती है।

मस्तिष्कके केन्द्र—जिस प्रकार नाड़ियां दाहिनी बायीं जोड़ा जोड़ा होती हैं उसी प्रकार बृहत् मस्तिष्कके केन्द्र भी दाहिनी और बायीं दोनों ओर होते हैं। बृहत् मस्तिष्कका दाहिना भाग शरीरके बायें भागपर और बायां भाग शरीरके दाहिने भागपर राज्य करता है। ये केन्द्र अपने अपने ——

लिये जिम्मेदार हैं पर आवश्यकतानुसार एक दूसरेसे मिल-कर भी काम करते हैं।

*बृहत् मस्तिष्कके बाहरी पृष्ठपर माध्यमिक (मध्यम) सीताके सामने जो चक्रांग है वह **गतिक्षेत्र** है, इसका शरीरकी गतियोंसे सम्बन्ध है। माध्यमिक सीताके पीछे जो चक्रांग है वह **संवेदन-क्षेत्र** कहलाता है, इसका स्पर्श, शीत, उष्णताके ज्ञानसे सम्बन्ध है। गतिक्षेत्रके सामने जो भाग है उसका बुद्धि, ज्ञान, और मननशक्तिसे सम्बन्ध माना जाता है, यह **मानस-क्षेत्र** है। संवेदन-क्षेत्रके पीछे ऊपरके किनारेके पास रूप और आकारके केन्द्र हैं। शंखखंडमें पार्श्विक सीताके नीचे **श्रावण केन्द्र** है। गति क्षेत्रके नीचेके भागके पास और पार्श्विक सीताके ऊपर **वाणी केन्द्र** है। वाणी केन्द्र एक ही होता है। जो लोग दाहिने हाथसे अधिक काम करते हैं उनमें वाणीकेन्द्र वायीं ओर होता है। जो लोग खब्बे होते हैं उनमें यह केन्द्र दाहिनी ओर होता है। पाश्चात्य खंडमें **दृष्टि केन्द्र** होता है। आकार केन्द्रके नीचे पार्श्विक खंडमें पढ़नेका केन्द्र है, यह **पाठ केन्द्र** है। घ्राण और स्वाद केन्द्रके स्थान शंखध्रुवके मुड़े हुए भागमें (जो मध्य पृष्ठपर दिखाई देता है) समझे जाते हैं, सुभीतेके लिये चित्रमें ये स्थान बाह्य पृष्ठपर दिखा दिये गये हैं।"

उपर्युक्त क्षेत्रों और केन्द्रोंमेंसे कुछके थोड़े थोड़े भाग मध्य पृष्ठपर भी रहते हैं।
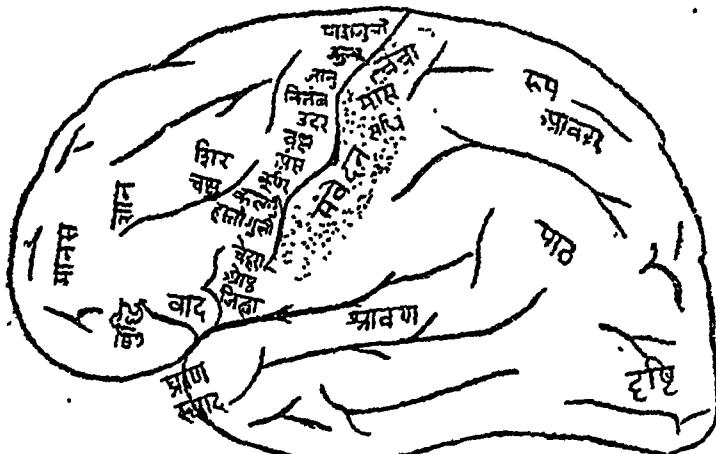
बृहत् मस्तिष्कके कोष्ठोंकी तलीमें धूसर पदार्थसे निर्मित तीन बड़े पिंड होते हैं। इनमेंसे एकको **केत्वाकार पिंड** कहते हैं क्योंकि यह कुछ पुच्छल तारे जैसा होता है। दूसरा पिंड अंडाकार होता है और केत्वाकार पिंडके पीछे रहता है, इसको **थैलेमस** कहते हैं। तीसरा पिंड **तालूपम पिंड** कहलाता है। ये पिंड अधिकतर सेलोंसे बनते हैं। इनमें मस्तिष्कके कई भागोंसे तार आते हैं और यहांसे नये तार निकलकर और जगह भी जाते

* हमारे मित्र डाकटर त्रिलोकीनाथ वर्म्माने "हमारे शरीरकी रचना भाग २ में [पृ० २१४-२३७ तक द्वितीयावृत्ति] इस प्रकरणको बड़ी उत्तमतासे वर्णन किया है। उसे ही हम यहां कम्य परिवर्त्तनोंके साथ उद्धृत करते है। —लेखक,

हैं। कुछ वैज्ञानिकोंका विचार है कि इन पिंडोंका चित्तवृत्तियोंसे और तापक्रम स्थिर रखनेसे सम्बन्ध है।

गतिक्षेत्रके केन्द्र। गतिक्षेत्रके ऊपरके भागमें अधोशाखाके विविध भागोंकी गतिसे सम्बन्ध रखनेवाले केन्द्र हैं। सबसे ऊपर पादांगुली केन्द्र है, उसके नीचे गुल्फ, जानु, नितंब केन्द्र हैं। अधोशाखाके केन्द्रोंके नीचे उदर और उदरके नीचे वक्षकी गतियोंके केन्द्र हैं, फिर ऊर्ध्व शाखाके, जैसे अंस (स्कन्ध) कूर्पर, कलाई, हस्तांगुली। ऊर्ध्व शाखाके सामने शिर और चक्षुके केन्द्र हैं। ऊर्ध्व शाखाके नीचे चेहरा, जिह्वा इत्यादि हैं।

वृहत् मस्तिष्कके केन्द्र
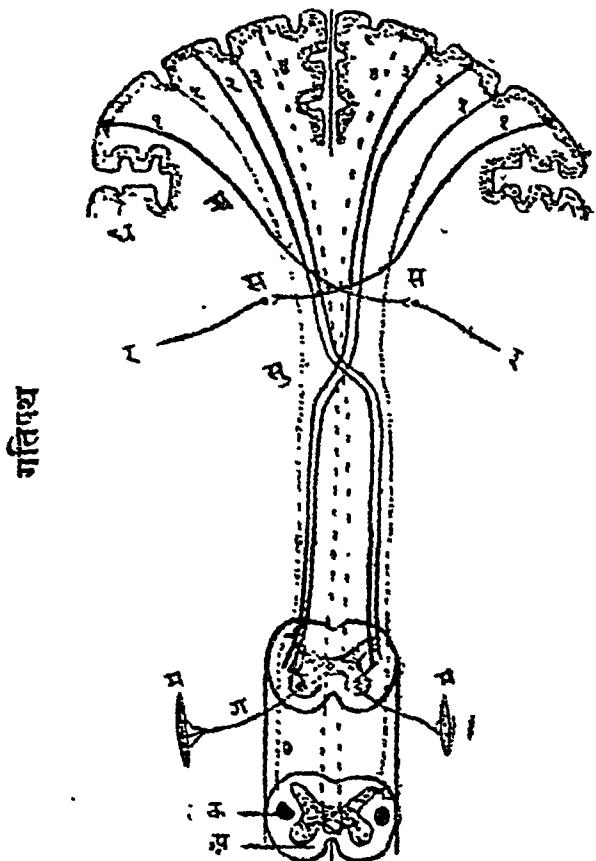
गतिकेन्द्रोंका उत्पत्ति-स्थानोंसे सम्बन्ध। गतिकेन्द्रोंकी सेलोंसे जो तार निकलते हैं चालक नाड़ियोंके उत्पत्ति-स्थानोंतक जहां कहीं भी हों, जाते हैं।

दाहिने गतिक्षेत्रका शरीरके बायें भागकी गतिसे और बायेंका दाहिने भागकी गतिसे सम्बन्ध है। इसलिये जो तार दाहिने गतिक्षेत्रसे निकलते हैं वे मध्यरेखाको पार करके बायीं ओरके उत्पत्ति-स्थानोंमें पहुंचते हैं। बायें गतिक्षेत्रके तारोंको दाहिनी ओर जाना पड़ता है। सुषुम्नाशीर्षकके अगले भागमें दो सूच्याकार पिंड होते हैं। ये गति क्षेत्रके उन तारोंके

समूह हैं जो सुषुम्नाको जानेवाले हैं। इनमेंसे बहुतसे तार एक ओरसे दूसरी ओर हो जाते हैं और फिर सुषुम्नाके पार्श्विक भागमें रहते हैं, इन तारोंका एक ओरसे दूसरी ओर जाना नंगी आंखोंसे भी दिखाई देता है। ज्यों ज्यों ये तार नीचेको जाते हैं उनकी संख्या कम होती जाती है क्योंकि जगह जगह कुछ तारोंका अंत होता रहता है।

गतिक्षेत्रसे आये हुए तारोंमेंसे कुछ तार सुषुम्नाशीर्षकमें मध्यरेखाको पार नहीं करते। जिस ओरसे आये हैं उसी ओर वह सुषुम्नामें सीधे जाते हैं। इनमेंसे बहुतसे तार तो सुषुम्नाके भीतर मध्यरेखाको काटकर एक ओरसे दूसरी ओर हो जाते हैं। कुछ ऐसे हैं कि मध्यरेखाको कभी भी नहीं काटते, जिस ओरसे आये हैं उसी ओर उनका अन्त होता है।

ध=बृहत् मस्तिष्कका धूसर भाग श्व=श्वेत भाग

१=ये तार गतिक्षेत्रसे मास्तिष्क नाड़ियोंके उत्पत्ति-स्थानोंतक (स) जाते हैं जो मध्यमास्तिष्क, सेतु और सुषुम्नाशीर्षकमें रहते हैं। यहांकी सेलोंके नये तारोंसे चालक नाड़ियां बनती हैं (र)।

२ और ३=ये तार सुषुम्नाशीर्षकमें मध्यरेखाको पार करके एक ओरसे दूसरी ओर हो जाते हैं। सुषुम्नामें जगह जगह सेलोंके पास इनका अंत हो जाता है। पूर्व श्रृंगोंसे नये तार निकलते हैं। इन्हींसे चालक मूलें बनती हैं (ग) जो मांसपेशियों (म) को जाती हैं।

४=वे तार जो सुषुम्नाशीर्षकमें मध्यरेखाको पार नहीं करते परन्तु सुषुम्नामें जाकर जगह जगह मध्यरेखाको पार करके एक ओरसे दूसरी ओर हो जाते हैं।

५=वे तार जो कभी भी मध्यरेखाको पार नहीं करते। जिस ओरसे आये हैं उसी ओरके धूसर भागमें उनका अंत होता है।

मध्यमस्तिष्क, सेतु, सुषुम्नाशीर्षक वा सुषुम्नासे अब नये तार निकलते हैं। यही नाड़ियोंके केन्द्रत्यागी तार हैं। सौषुम्न नाड़ियोंकी चालक मूलें इन्हीं केन्द्रत्यागी तारोंसे बनती हैं।

अब हम उदाहरणद्वारा इन तारोंके कार्य बतलाते हैं।

१. मानों आप अपना मुंह खोलना चाहते हैं, तारोंका मुँह खोलनेसे क्या सम्बन्ध है? मुँह खोलनेमें दोनों ओरकी पेशियां (जो हनुओंमें लगी हैं) काममें आती हैं। जिन पेशियोंके संकोच और प्रसारसे मुँह खुलता है उनको मस्तिष्कको कई नाड़ियोंकी शाखाएं जाती हैं। इन नाड़ियोंके उत्पत्ति-स्थान सुषुम्नाशीर्षक और सेतुमें हैं।

जब मुँह खोलनेकी इच्छा होती है तो मानस क्षेत्रकी सेलें दोनों ओरके गतिक्षेत्रोंके (ऊर्ध्व शाखासम्बन्धी केन्द्रोंके नीचे रहनेवाले) मुख केन्द्रोंकी सेलोंको अपने तारोंद्वारा आज्ञा देती हैं कि मुँह खोलो। इन केन्द्रोंकी सेलें इस आज्ञाको एकदम विशेष नाड़ियोंके उत्पत्ति-स्थानकी सेलोंको पहुँचाती हैं। आज्ञा ले जानेवाले तार मध्यरेखाको काटकर एक ओरसे दूसरी ओर हो जाते हैं। उत्पत्ति-स्थानको सेलें इस आज्ञाका तुरन्त

पालन करती हैं और अपने तारोंद्वारा पेशियोंको संकोच और प्रसार करनेकी आज्ञा देती हैं। पेशियां गति करती हैं और मुँह खुल जाता है।

२. आप अपने दाहिने पैरके अंगुष्ठको मोड़ना चाहते हैं। मानस क्षेत्रसे बायीं ओरके गतिक्षेत्रके पादांगुष्ठ केन्द्रकी सेलोंको अंगुष्ठ मोड़नेकी आज्ञा मिलती है। ये सेलं अपने तारोंद्वारा इस आज्ञाको सुषुम्नाके उस भागमें पहुंचाती हैं जहांसे अंगुष्ठको जानेवाले तार निकलते हैं। सुषुम्नाशीर्षकमें मस्तिष्ककी सेलोंके तार बायीं ओरसे दाहिनी ओर आ जाते हैं, ये तार सुषुम्नाके पार्श्विक भागमें नीचे उतरते हैं और उसके नीचेके भागमें जहांसे त्रिक या सक्थिजालकी नाड़ियां निकलती हैं उनका अन्त हो जाता है। अब सुषुम्नाके धूसर भागके पूर्व शृंगोंसे नये तार निकलते हैं। इन तारोंद्वारा पादांगुष्ठ प्रसारणी और पादांगुष्ठ संकोचिनी पेशियोंको संकोच करनेकी आज्ञा मिलती है और अंगुष्ठ हिलने लगता है।

गतिपथ। गति केन्द्रसे लेकर मांससेलोंतक जो गतिसम्बन्धी आज्ञाके जानेका मार्ग है उसको गतिपथ कहते हैं। जो कुछ पीछे लिखा जा चुका है उससे स्पष्ट है कि शरीरके उस भागके लिये जहां गति सौषुम्न नाड़ियोंद्वारा होती है इस गतिपथका कुछ भाग मस्तिष्कमें रहता है और कुछ सुषुम्ना और सौषुम्न नाड़ियोंमें। जहां केवल मास्तिष्क नाड़ियां जाती हैं वहां गतिपथ मस्तिष्क और मास्तिष्क नाड़ियोंसे ही बनता है, सुषुम्नासे उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता।

इष्ट गतिके लिये यह चीज़ें आवश्यक हैं—

१. मानस क्षेत्रकी सेलें।
२. विशिष्ट गति केन्द्रकी सेलें।
३. गति केन्द्रकी सेलोंके तार।
४. नाड़ी या नाड़ियोंके उत्पत्ति-स्थानकी सेलें।
५. उत्पत्ति-स्थानकी सेलोंके तार जिनसे नाड़ी बनती है।
६. मांससेलें।

इन छः चीजोंसे पूरी मशीन बनती है; यदि इस मशीनका कोई पुर्जा भी खराब हो जावे तो गतियां ठीक ठीक या बिलकुल न होंगी।

हिस्टीरिया इत्यादि रोगोंमें मानस क्षेत्रोंके ठीक ठीक काम न करनेसे गतियोंमें फर्क आ जाता है। कभी कभी रोगी बोल नहीं सकता या चल नहीं सकता। गतिक्षेत्रकी धमनीमें रक्तके जम जानेके कारण या रक्तका बहाव

रुक जानेसे या धमनीके फट जानेसे इस स्थानको सेलें ठीक ठीक काम नहीं कर सकतीं या बिलकुल बेकार हो जाती हैं। इनसे दूसरी ओरका चेहरा, हाथ या पैर शिथिल हो जाते हैं। मस्तिष्कके भीतर धमनी कभी कभी फट जाती है। इस रक्तके दबावसे नीचेको जानेवाले तार टूट जाते हैं। तारोंके टूट जानेसे शरीरका आधा भाग शिथिल हो जाता है। इसीको पक्षाघात (या फालिज) कहते हैं। यदि रक्तक्षरण दाहिनी ओर हो तो पक्षाघात बायीं ओर होगा अर्थात् चेहरेके बायें भागमें गति न हो सकेगी, बायां हाथ और बायां पैर न उठेगा। कभी कभी रक्तक्षरण मस्तिष्कमें ऐसे स्थानपर (जैसे सेतुमें) होता है कि जहां चेहरेके तार तो मध्यरेखाको पार कर चुके हैं परन्तु शाखाओंके तार उसी ओर हैं। ऐसे रक्तक्षरणसे एक ओरके चेहरे और दूसरी ओरके हाथ पावोंपर असर पड़ता है। जोरसे बोलने या अधिक क्रोध करने या अधिक शारीरिक या मानसिक परिश्रम करनेसे कुछ लोग (विशेष कर वृद्ध) अकस्मात् बेहोश हो जाते हैं और उनका आधा शरीर निश्चेष्ट हो जाता है। इसका कारण बहुधा मस्तिष्ककी धमनीका फटना या धमनीमें रक्तका जमना या रक्तके बहावका रुक जाना होता है।

सुषुम्नाके प्रदाहसे या रक्तक्षरणसे या उसके कट जानेसे भी पक्षाघात हो जाता है। यह पक्षाघात अपूर्ण होता है। इसमें चेहरा बच जाता है। जिस ओर अपकार होता है या चोट लगती है उसी ओर पक्षाघात भी होता है। एक हाथ, या दोनों हाथ, एक पैर या दोनों पैर, दोनों हाथ और दोनों पैर या केवल दोनों पैर पक्षाघातग्रस्त हो सकते हैं।

नाड़ियोंके रोगोंके कारण या चोटके कारण उनके कट जानेसे भी निश्चेष्टता उत्पन्न हो सकती है जैसे मौखिकी नाड़ीके वातग्रस्त होनेसे चेहरेकी एक ओरकी बहुत सी पेशियां निश्चेष्ट हो जाती हैं। इसीको लकवा मारना कहते हैं।

पेशियां अपने रोगोंके कारण भी निश्चेष्ट हो जाती हैं।

मस्तिष्क वा सौषुम्न नाड़ियोंके केन्द्रगामी तारोंका मस्तिष्कके संवेदना क्षेत्र और विशेष ज्ञानकेन्द्रोंसे सम्बन्ध

हमारी मुख्य* ज्ञानेन्द्रियां ये हैं—त्वचा, चक्षु, कर्ण, नासिका और

* पेशियां और संधियां भी ज्ञानेन्द्रियोंका काम करती हैं। पेशियोंमें दोनों प्रकारके तार होते हैं—केन्द्रगामी और केन्द्रत्यागी। पहले तारोंद्वारा [illegible] पेशी संकोच कर रही है मस्तिष्कको पहुँचा करती है।

जिह्वा। केन्द्रगामी तार इन इंद्रियोंसे आरंभ होकर मास्तिष्क या सौषुम्न नाड़ियोंद्वारा मस्तिष्कमें पहुँचते हैं। चक्षु, कर्ण, नासिका और जिह्वाके केन्द्रगामी तार विशेष नाड़ियोंद्वारा बृहत् मस्तिष्कके विशेष ज्ञानकेन्द्रोंमें जाते हैं। इन ज्ञानकेन्द्रोंमें पहुँचनेसे पहले वे मध्यरेखाको काटकर एक ओरसे दूसरी ओर हो जाते हैं।

त्वचाके सांवेदनिक तार तीन प्रकारकी सूचनाएं मस्तिष्कको ले जाते हैं—१. स्पर्शकी, २. शीत या उष्णताकी, ३. पीड़ाकी। पेशियोंके सांवेदनिक तारोंद्वारा उनके संकोच करनेकी सूचना मस्तिष्कको पहुँचती है। सन्धियों और अस्थियोंके सांवेदनिक तारोंद्वारा पीड़ा इत्यादिकी सूचना और इस बातको सूचना कि गति हो रही है मस्तिष्कको मिलती है।

त्वचा, मांस, सन्धियों तथा अस्थियोंसे आरंभ होकर ये सांवेदनिक तार सौषुम्न नाड़ियोंकी पाश्चात्य मूलोंद्वारा सुषुम्नामें घुसते हैं (शिरके अधिक भागकी त्वचा और पेशियों इत्यादिके तार मस्तिष्कमें सीधे घुस जाते हैं)। सुषुम्नामें पहुँचकर तापक्रम और पीड़ासम्बन्धी तार और स्पर्शसम्बन्धी तारोंमेंसे अधिक तार मध्यरेखाको पार करके एक ओरसे दूसरी ओर हो जाते हैं और फिर सुषुम्नाशीर्षक, सेतु और मस्तिष्क स्तंभमेंसे होकर थैलेमस नामक धूसर पिंडमें पहुँचते हैं; यहां बहुतसे तारोंका अंत हो जाता है और नये तार आरंभ होकर माध्यमिक सीताके पीछे रहनेवाले संवेदना क्षेत्रमें पहुँचते हैं।
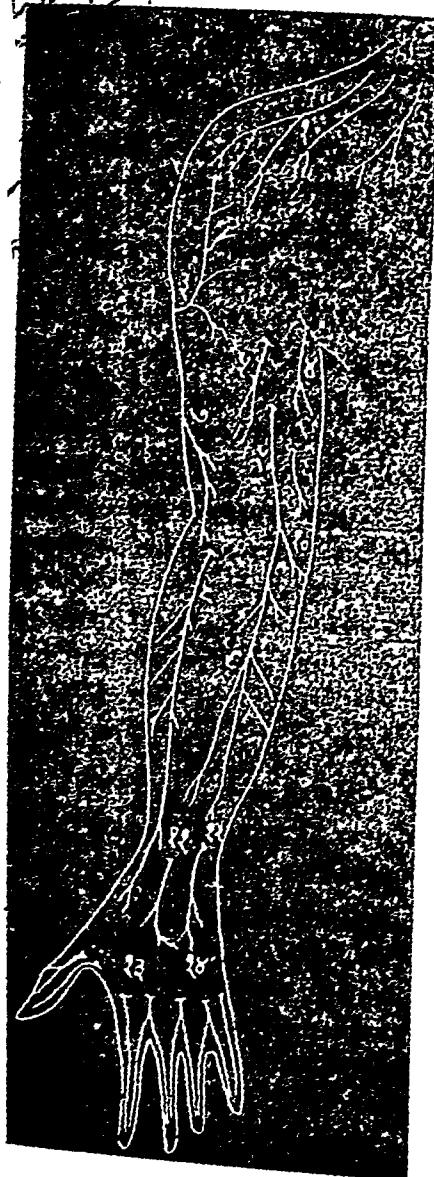
शेष सांवेदनिक तार (पेशी, अस्थि तथा सन्धिसम्बन्धी और मध्य रेखाको पार करनेवाले स्पर्शसम्बन्धी) सुषुम्नामें चढ़कर सुषुम्नाशीर्षकके पिछले भागमें रहनेवाले सेलसमूहोंमें पहुँचते हैं। यहां उनका अंत हो जाता है और सेलोंसे नये तार निकलते हैं जो शीघ्र ही एक ओरसे दूसरी ओर चले जाते हैं और फिर ऊपर चढ़कर थैलेमसमें पहुँचते हैं। यहांसे नये तार निकलकर संवेदना क्षेत्रमें पहुँचते हैं।

सुषुम्नाके पाश्चात्य शृंगोंकी कुछ सेलोंके तार ऊपर चढ़कर लघु मस्तिष्कमें जाया करते हैं। इन तारोंका साम्यस्थितिसे सम्बन्ध है जैसा कि हम आगे चलकर समझावेंगे। ये तार जिस ओर आरंभ होते हैं लघुमस्तिष्कके उसी ओरके भागमें उनका अंत होता है।
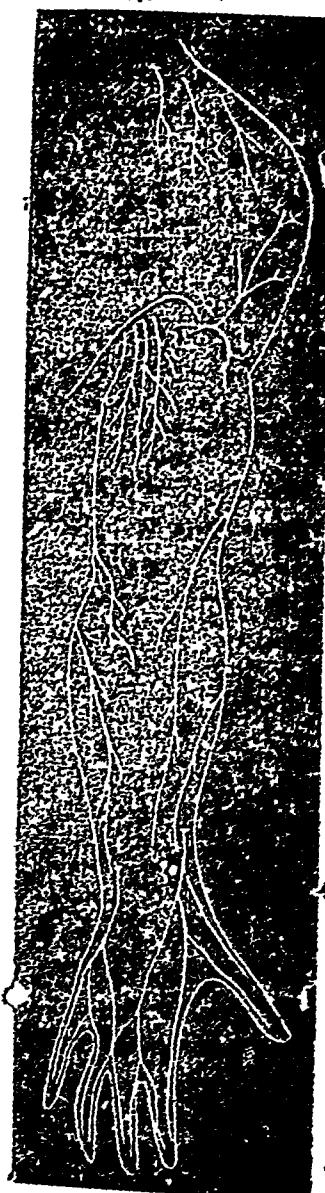
विशेष ज्ञानेन्द्रियोंके सम्बन्धमें हम इतना ही कहना काफी समझते हैं कि उनके तार मस्तिष्कमें पहुँचकर दूसरी ओरके विशेष ज्ञानकेन्द्रोंमें पहुँचते हैं।

ऊर्ध्वशाखाओंका नाड़ी चित्र

सामनेका भाग

पिछला भाग

संवेदना क्षेत्रका गतिक्षेत्रसे और विशेष ज्ञानकेन्द्रों (दृष्टि, घ्राणादि) का आपसमें एक दूसरेसे और संवेदना क्षेत्रसे और इनमेंसे प्रत्येकका गतिक्षेत्रसे तारोंद्वारा संवंध रहता है। इन सबका मानस क्षेत्रसे भी सम्बन्ध रहता है। अब हम केन्द्रगामी तारोंका कार्य समझाते हैं।

व्याख्या—इन चित्रोंमें ऊर्ध्व शाखाका त्वगीया नाड़ियां दिखायी गयी हैं।

सामनेका भाग—१,२=पाश्चात्य और मध्य उपाक्षिका त्वगीया नाड़ियां।
३=कक्षीया नाड़ीकी त्वगीया शाखा।
५, ५, ६, १०=प्रकोष्ठकी अंतःत्वगीया।
४, ६=प्रगंडकी अंतःत्वगीया।
७=प्रगंडकी बाह्य त्वगीया।
८=प्रकोष्ठकी बाह्य त्वगीया।
११,१२=हस्ततलकी त्वगीया नाड़ियां।
१३,१४=अंगुष्ठ तथा अंगुलियोंकी त्वगीया नाड़ियां।

पिछला भाग—१=पाश्चात्य उपाक्षिका त्वगीया।
२=कक्षीया नाड़ीकी त्वगीया शाखा।
३=दूसरी पर्शुकांतरिका नाड़ीकी प्रगंडको जानेवाली त्वगीया शाखा।
४=प्रगंडकी अंतःत्वगीया।
५=प्रकोष्ठकी पाश्चात्य त्वगीया।
६,७=प्रकोष्ठकी अंतःत्वगीयाकी शाखाएं।
८=प्रकोष्ठकी बाह्य त्वगीया।
९=करभ तथा अंगुलियोंकी अंतःत्वगीया।
१०=करभ तथा अंगुलियोंकी बाह्य त्वगीया।

अधो शाखाका सामनेका भाग

अधो शाखाका पिछला भाग

व्याख्या—इन चित्रोंमें अधोशाखाकी त्वगीया नाड़ियां दिखायी गयी हैं।
सामनेका भाग —व=वंक्षणकी त्वगीया।
ब=ऊरूकी बाह्य त्वगीया।
म=ऊरूकी मध्य त्वगीया।
अं=ऊरूकी अंतःत्वगीया।
ज=जानु।
पि=जंघाकी अंतःत्वगीया।
१,२,३=जंघापुरोगा नाड़ीकी त्वगीया शाखाएं।

पिछला भाग—१२ वीं वाक्षसी नाड़ीकी त्वगीया शाखा।
न=पहली कटी नाड़ीकी नितंबमें रहनेवाली त्वगीया।
त्र=त्रिक नाड़ियोंकी त्वगीया शाखाएं।
ब=ऊरूकी बाह्य त्वगीया नाड़ीकी शाखाएं।
प=ऊरूकी पाश्चात्य त्वगीया नाड़ीकी शाखाएं।
अं=ऊरूकी अंतःत्वगीया नाड़ीकी शाखा।
पि=जंघाकी अंतःत्वगीया।
स=जंघाकी संयुक्ता त्वगीया नाड़ी।

मानो आपके दाहिने हाथपर गरम जल गिर पड़ा; इस गरम जलकी गरमीसे हाथकी त्वचाके सांवेदनिक कणोंपर एक विशेष प्रकारका प्रभाव पड़ा या परिवर्त्तन हुआ। इस परिवर्त्तनकी सूचना त्वगीया तारोंद्वारा सुषुम्नाको तुरंत जाती है। ऊर्ध्व शाखाकी नाड़ियां सुषुम्नाके ऊपरके भागसे निकलती हैं। ये तार पाश्चात्य मूलोंद्वारा सुषुम्नामें घुसते हैं। सुषुम्नामें इन तारोंकी छोटी छोटी शाखाएं तो सेलोंके पास रह जाती हैं परन्तु वे स्वयं शीघ्र ही सुषुम्नाके बायें भागमें पहुँचकर सुषुम्नाशीर्षक और सेतुमें होते हुए स्तंभमें पहुँचते हैं। स्तंभद्वारा बायें थंलेमसमें पहुँचते हैं और यहीं रह जाते हैं। यहांसे फिर नये तार निकलते हैं जो ऊपर चढ़कर बाये संवेदना क्षेत्रमें पहुँचते हैं। इस क्षेत्रकी सेलोंका गतिक्षेत्रकी सेलोंसे और मानस क्षेत्रसे सम्बन्ध है। यदि हम गरम जलको पसन्द नहीं करते तो मानस क्षेत्र गतिक्षेत्रको

आज्ञा देता है कि हाथ उस स्थानसे हट जावे और हाथ वहांसे हट जाता है।

ज्ञानपथ। त्वचा, चक्षु इत्यादि ज्ञानेन्द्रियोंसे मस्तिष्कके संवेदना वा विशेष ज्ञानकेन्द्रों तथा मानस क्षेत्रतक ज्ञान या संवेदनाके जानेका जो रास्ता है उसको ज्ञानपथ कहते हैं। किसी विशेष ज्ञानके लिये इन इन चीज़ोंकी आवश्यकता है—

१. ज्ञानेन्द्रिय—त्वचा; नासिका इत्यादि।
२. सांवेदनिक या ज्ञानवाही (केन्द्रगामी) तार जो नाड़ियोंद्वारा सषुम्ना या मस्तिष्कमें पहुँचते हैं।
३. ज्ञानकेन्द्र।
४. मानस क्षेत्र।

ज्ञानेन्द्रिय न हो या रोगोंके कारण ख़राब हो जावे तो हमको वह विशेष ज्ञान न होगा। चक्षुके न होनेसे प्रकाशका ज्ञान नहीं होता। जब त्वगीया नाड़ियां रोगोंके कारण खराब हो जाती हैं तब स्पर्श, तापक्रम इत्यादिकी सूचना मस्तिष्कतक नहीं पहुँच पाती। एक प्रकारके कुष्ठमें त्वगीया नाड़ियां खराब हो जाती हैं, आप त्वचामें सुई चुभा दें तब भी रोगीको कुछ भी पीड़ा न होगी। सुषुम्नाके कट जानेसे (जैसे जब रीढ़ टूट जाती है) या मस्तिष्कके उस भागमें जिसमेंसे होकर सांविदनिक तार ऊपर चढ़ते हैं रक्तक्षरण होनेसे शरीरका आधा भाग सुन्न हो जाता है। ज्ञानेन्द्रियों और नाड़ियों और सुषुम्ना और मस्तिष्कमेंसे जानेवाले तारोंके ठीक रहते हुए भी ऐसा हो सकता है कि हमको प्रकाश, शब्द इत्यादिका ज्ञान न हो। यदि चोट लगनेसे दृष्टिकेन्द्र बिगड़ जाय तो मनुष्य अन्धा या काना हो सकता है आंख चाहे ज्योंकी त्यों दिखाई दे। जब मानस क्षेत्रके बिगड़नेके कारण मनुष्य पागल हो जाता है तब भी उसको चीज़ोंका ज्ञान भली प्रकार नहीं रहता।

लघुमस्तिष्कका कार्य। जब हमारे शरीरमें कोई गति होती है तो कुछ पेशियोंका संकोच होता है और कुछका प्रसार। प्रत्येक गतिके लिये इन दोनों बातोंका होना आवश्यक है। जब हम कुहनी मोड़ते हैं तो प्रगंडके सामनेकी पेशियां (द्विशिरस्का तथा कूर्पर संकोचनी) सिकुड़ती हैं परन्तु प्रगंडकी पिछली पेशियां (त्रिशिरस्का वा कूर्पर प्रसारणी) ढीली पड़ जाती हैं; यदि संकोचनी पेशियां संकोच करें और प्रसारणी पेशियां ढीली न पड़ें

तो कुहनीका मुड़ना असम्भव हो। यही बात चलना, बैठना, खड़ा होना इत्यादि गतियोंके विषयमें भी समझनी चाहिये।

जहां एक ओर मस्तिष्क कुछ पेशियोंको चालक नाड़ियोंद्वारा संकोच करनेकी आज्ञा देता है वहां दूसरी ओर विरोधिनी पेशियोंको संकोच बंद करनेकी भी आज्ञा देता है। जब ये दोनों प्रकारकी आज्ञाएं ठीक ठीक मिलती हैं तब गतियां अच्छी तरहसे होती हैं। लघुमस्तिष्क इस बातके लिये जिम्मेदार है कि गतियां ठीक ठीक होवें। लघुमस्तिष्ककी सेलोंके कुछ तार बृहत् मस्तिष्कके गतिक्षेत्रमें पहुँचते हैं। इन तारोंद्वारा लघुमस्तिष्कका उपदेश गतिक्षेत्रकी सेलोंको मिलता रहता है। लघुमस्तिष्कका दाहिना भाग बृहत् मस्तिष्कके बायें भागका और बायां भाग दाहिने भागका सहकारी है। इस तरहसे शरीरके बायें भागकी गतियोंका लघुमस्तिष्कके बायें भागसे और दाहिने भागकी गतियोंका लघुमस्तिष्कके दाहिने भागसे सम्बन्ध है।

कुछ रोगोंमें लघुमस्तिष्क खराब हो जाता है। कभी कभी उसमें फोड़ा बन जाता है। इसके बिगड़ जानेपर गतियां ठीक ठीक नहीं हो पातीं। रोगीकी चाल ऐसी हो जाती है जैसी कि मद्यपान करनेवालेकी। उसके पैर जमीनपर ठीक ठीक नहीं टिकते और वह घूमता हुआ और लड़खड़ाकर चलता है।

गतियोंके ठीक ठीक होनेसे शरीरमें साम्यस्थिति रहती है। लघुमस्तिष्कका कार्य शरीरमें **साम्यस्थिति** रखनेका है।

त्वचासे, संधियोंसे, पेशियोंसे, चक्षुसे और कर्णकी अर्धचक्राकार नालियोंसे जो सांवेदनिक तार मस्तिष्कको जाते हैं उनमेंसे कुछ लघुमस्तिष्कमें भी पहुँचते हैं। इन ज्ञानेन्द्रियोंसे उसको समय समयपर समाचार पहुँचते रहते हैं। उन्हीं समाचारोंके अनुसार वह गतिक्षेत्रको उपदेश देता है। **साम्यस्थितिके लिये कर्णकी अर्धचक्राकार नालियां शेष ज्ञानेन्द्रियोंकी अपेक्षा अधिक आवश्यक हैं।** जब हम चलते फिरते हैं या करवट बदलते हैं तो इन नालियोंके भीतर रहनेवाला तरल हिलता है जिससे इन नालियोंकी नाड़ियोंपर विशेष प्रकारका प्रभाव पड़ता है। इस प्रभावकी सूचना लघुमस्तिष्कको मिलती है जिसके अनुसार पेशियोंको (गतिक्षेत्रद्वारा) संकोच और प्रसार करनेकी आज्ञा मिलती है। जब श्रोत्रेन्द्रियके रोगोंके

आज्ञा देता है कि हाथ उस स्थानसे हट जावे और हाथ वहांसे हट जाता है।

ज्ञानपथ। त्वचा, चक्षु इत्यादि ज्ञानेन्द्रियोंसे मस्तिष्कके संवेदना वा विशेष ज्ञानकेन्द्रों तथा मानस क्षेत्रतक ज्ञान या संवेदनाके जानेका जो रास्ता है उसको **ज्ञानपथ** कहते हैं। किसी विशेष ज्ञानके लिये इन इन चीजोंकी आवश्यकता है—

१. ज्ञानेन्द्रिय—त्वचा; नासिका इत्यादि।
२. सांवेदनिक या ज्ञानवाही (केन्द्रगामी) तार जो नाड़ियोंद्वारा सषुम्ना या मस्तिष्कमें पहुँचते हैं।
३. ज्ञानकेन्द्र।
४. मानस क्षेत्र।

ज्ञानेन्द्रिय न हो या रोगोंके कारण खराब हो जावे तो हमको वह विशेष ज्ञान न होगा। चक्षुके न होनेसे प्रकाशका ज्ञान नहीं होता। जब त्वगीया नाड़ियां रोगोंके कारण खराब हो जाती हैं तब स्पर्श, तापक्रम इत्यादिकी सूचना मस्तिष्कतक नहीं पहुँच पाती। एक प्रकारके कुष्ठमें त्वगीया नाड़ियां खराब हो जाती हैं, आप त्वचामें सुई चुभा दें तब भी रोगीको कुछ भी पीड़ा न होगी। सुषुम्नाके कट जानेसे (जैसे जब रीढ़ टूट जाती है) या मस्तिष्कके उस भागमें जिसमेंसे होकर सांवेदनिक तार ऊपर चढ़ते हैं रक्तस्राव होनेसे शरीरका आधा भाग सुन्न हो जाता है। ज्ञानेन्द्रियों और नाड़ियों और सुषुम्ना और मस्तिष्कमेंसे जानेवाले तारोंके ठीक रहते हुए भी ऐसा हो सकता है कि हमको प्रकाश, शब्द इत्यादिका ज्ञान न हो। यदि चोट लगनेसे दृष्टिकेन्द्र बिगड़ जाय तो मनुष्य अन्धा या काना हो सकता है आंख चाहे ज्योंकी त्यों दिखाई दे। जब मानस क्षेत्रके बिगड़नेके कारण मनुष्य पागल हो जाता है तब भी उसको चीजोंका ज्ञान भली प्रकार नहीं रहता।

लघुमस्तिष्कका कार्य। जब हमारे शरीरमें कोई गति होती है तो कुछ पेशियोंका संकोच होता है और कुछका प्रसार। प्रत्येक गतिके लिये इन दोनों बातोंका होना आवश्यक है। जब हम कुहनी मोड़ते हैं तो प्रगंडके सामनेकी पेशियां (द्विशिरस्का तथा कूर्पर संकोचनी) सिकुड़ती हैं परन्तु प्रगंडकी पिछली पेशियां (त्रिशिरस्का वा कूर्पर प्रसारणी) ढीली पड़ जाती हैं; यदि संकोचनी पेशियां संकोच करें और प्रसारणी पेशियां ढीली न पड़ें

तो कुहनीका मुड़ना असम्भव हो। यही बात चलना, बैठना, खड़ा होना इत्यादि गतियोंके विषयमें भी समझनी चाहिये।

जहां एक ओर मस्तिष्क कुछ पेशियोंको चालक नाड़ियोंद्वारा संकोच करनेकी आज्ञा देता है वहां दूसरी ओर विरोधिनी पेशियोंको संकोच बंद करनेकी भी आज्ञा देता है। जब ये दोनों प्रकारकी आज्ञाएं ठीक ठीक मिलती हैं तब गतियां अच्छी तरहसे होती हैं। लघुमस्तिष्क इस बातके लिये जिम्मेदार है कि गतियां ठीक ठीक होवें। लघुमस्तिष्ककी सेलोंके कुछ तार बृहत् मस्तिष्कके गतिक्षेत्रमें पहुँचते हैं। इन तारोंद्वारा लघुमस्तिष्कका उपदेश गतिक्षेत्रकी सेलोंको मिलता रहता है। लघुमस्तिष्कका दाहिना भाग बृहत् मस्तिष्कके बायें भागका और बायां भाग दाहिने भागका सहकारी है। इस तरहसे शरीरके बायें भागकी गतियोंका लघुमस्तिष्कके बायें भागसे और दाहिने भागकी गतियोंका लघुमस्तिष्कके दाहिने भागसे सम्बन्ध है।

कुछ रोगोंमें लघुमस्तिष्क खराब हो जाता है। कभी कभी उसमें फोड़ा बन जाता है। उसके बिगड़ जानेपर गतियां ठीक ठीक नहीं हो पातीं। रोगीकी चाल ऐसी हो जाती है जैसी कि मद्यपान करनेवालेकी। उसके पैर जमीनपर ठीक ठीक नहीं टिकते और वह घूमता हुआ और लड़खड़ाकर चलता है।

गतियोंके ठीक ठीक होनेसे शरीरमें साम्यस्थिति रहती है। लघुमस्तिष्कका कार्य शरीरमें **साम्यस्थिति** रखनेका है।

त्वचासे, संधियोंसे, पेशियोंसे, चक्षुसे और कर्णकी अर्धचक्राकार नालियोंसे जो सांवेदनिक तार मस्तिष्कको जाते हैं उनमेंसे कुछ लघुमस्तिष्कमें भी पहुँचते हैं। इन ज्ञानेन्द्रियोंसे उसको समय समयपर समाचार पहुँचते रहते हैं। उन्हीं समाचारोंके अनुसार वह गतिक्षेत्रको उपदेश देता है। **साम्यस्थितिके लिये कर्णकी अर्धचक्राकार नालियां शेष ज्ञानेन्द्रियोंकी अपेक्षा अधिक आवश्यक हैं।** जब हम चलते फिरते हैं या करवट बदलते हैं तो इन नालियोंके भीतर रहनेवाला तरल हिलता है जिससे इन नालियोंकी नाड़ियोंपर विशेष प्रकारका प्रभाव पड़ता है। इस प्रभावकी सूचना लघुमस्तिष्कको मिलती है जिसके अनुसार पेशियोंको (गतिक्षेत्रद्वारा) संकोच और प्रसार करनेकी आज्ञा मिलती है। जब श्रोत्रेन्द्रियके रोगोंके

कारण यह नालियां बिगड़ जाती हैं तो कभी कभी घुमेर या चक्कर आने लगते हैं। हिन्डोलेमें घूमनेसे या रेलमें या जहाजमें पहली बार चलनेसे बहुतसे मनुष्योंको घुमनी आ जाती है। बहते हुए जलको और देरतक टकटकी बांधकर देखनेसे भी चक्कर आ जाया करते हैं। ये सब बातें साम्य-स्थिति बिगड़ जानेके उदाहरण हैं।

प्रत्यावर्त्तन। जब हम अँधेरेसे उजालेमें जाते हैं तब हमारी पुतली तुरंत ही सिकुड़कर छोटी हो जाती है। अन्यतः जब हम उजालेसे अँधेरेमें जाते हैं तब पुतली फैलकर चौड़ी हो जाती है। दोनों दशाओंमें हमको मालूम भी नहीं होता कि पुतलीके आकारमें कोई परिवर्त्तन हुआ है या नहीं।

जब कोई मनुष्य हमारी आंखकी ओर अंगुली लाता है या जब कोई चीज अकस्मात् आंखमें लगनेवाली होती है तब पलक एकदम झपक जाते हैं या हमारा हाथ आंखके सामने आ जाता है। इस क्रियामें हमारी इच्छाका कोई दखल नहीं है। यह काम इतनी फुरतीसे होता है कि हमको सोचने विचारने और इच्छा करनेका अवकाश ही नहीं मिलता।

यदि कोई मनुष्य बिना आपसे कहे आपके पैरके तलवेको अंगुलीसे या लकड़ीसे खुजाये तो आपका अंगूठा ऊपरको मुड़ेगा और अंगुलियां नीचेको मुड़ेंगी, या पैर उस स्थानसे हट जावेगा। आप चाहें तो अंगुलियों और अंगूठेको न मुड़ने दें या पैरको वहांसे न हटने दें परन्तु जबतक आपकी इच्छा काम नहीं करती उस समयतक ये गतियां अवश्य होंगी।

स्वादिष्ट रोचक और प्रिय भोजनको देखकर मुँहमें लाला और आमाशयमें आमाशयिक रस बनने लगते हैं।

वह क्रिया जो किसी दूसरी क्रियाके उत्तरमें बिना हमारी इच्छाके या बिना हमारे जाने होती है **परावर्त्तित क्रिया** कहलाती है। अब हम बतलाते हैं कि इस प्रकारकी क्रियाएं कैसे हो पाती हैं।
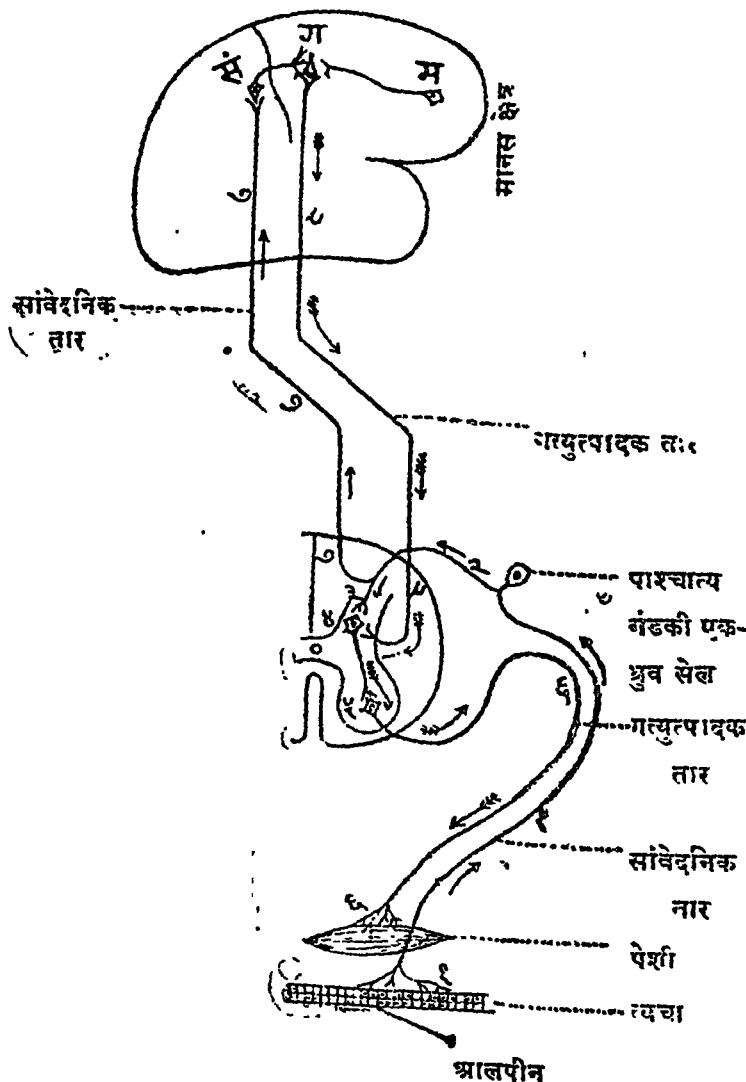
जब पैरका तलवा खुजाया जाता है तब त्वचाके संवेदनिक (केन्द्रगामी) तारोंद्वारा यह सूचना सुषुम्नामें पहुँचती है और वहांसे मस्तिष्कको जाती है। सुषुम्नामें घुसकर केन्द्रगामी तारके कई भाग हो जाते हैं। एक छोटे भागका सुषुम्नामें ही अंत हो जाता है बड़ा भाग ऊपर चढ़ता हुआ मस्तिष्क-

को जाता है (चित्र ८१ में ७)। जो तार सुषुम्नामें रह जाता है उसका पूर्व श्रृंगकी सेलसे संबंध होता है (चित्र ८१ में ४,५) मस्तिष्कतक सूचना पहुंचनेमें कुछ देर लगती है। इस बीचमें सुषुम्नाकी सेलें अपने आप काम करती हैं और ये केन्द्रत्यागी तारों (चित्र ८१ में ६) द्वारा पेशियोंको संकोच करनेकी आज्ञा देती हैं और पैर उस स्थानसे हट जाता है या अंगुलियां मुड़ती हैं। इतनेमें सूचना मस्तिष्कको पहुँचती है और वह निश्चय कर लेता है कि क्या करना चाहिये। इस परावर्त्तित क्रियामें सुषुम्नाकी सेलें उसी प्रकार काम करती हैं जिस प्रकार कि आवश्यकता पड़नेपर छोटा अफसर बड़े अफसरको अनुपस्थितिमें या उसके दूर होनेके कारण किसी बातकी आज्ञा दे देता है। छोटे अफसरको जितना अधिकार है वह उसके अनुसार उस समयके लिये जो कुछ वह सबसे उत्तम समझता है उसकी आज्ञा देता है और साथ ही साथ बड़े अफसरको भी सूचना पहुँचाता है। बड़ा अफसर विचार करता है और यदि वह छोटे अफसरकी आज्ञासे सहमत है तो वह आज्ञाको बहाल रखता है। यदि उसको अनुचित समझता है तो उसको बदलकर नयी आज्ञा देता है।

जब पैरका तलवा अचानक खुजाया गया तो यह सूचना पाकर सुषुम्नाकी सेलें पैरको वहांसे हटाये जानेको आज्ञा दे देती हैं क्योंकि शायद शरीरको हानि पहुँचानेवाली चीज निकट हो। सुषुम्नाकी सेलें निकट हैं और मस्तिष्ककी दूर। इतनेमें मस्तिष्कको विचार करनेका समय मिल जाता है (चक्षु, कर्ण इत्यादि ज्ञानेन्द्रियोंसे मस्तिष्कको निश्चय करनेमें सहायता मिलती है)। यदि पैरका हटना अच्छा है तो वह हटा रहता है नहीं तो फिर अपनी जगह आ जाता है।

हमारे शरीरमें बहुत सी परावर्त्तित क्रियाएं होती हैं। इनका मुख्य प्रयोजन बहुधा शरीरकी रक्षा करनेका होता है।

परावर्तित क्रिया

सं ग म

मानस क्षेत्र

सांवेदनिक तार

गत्युत्पादक तार

पाश्चात्य गंडकी एक-ध्रुव सेल

गत्युत्पादक तार

सांवेदनिक तार

पेशी

त्वचा

आलपीन

चित्रकी व्याख्या

इस चित्रमें यह समझाया गया है कि परावर्त्तित क्रिया (प्रत्यावर्तन) किस प्रकार होती है।

१=त्वगीया नाड़ीका तार।

२=यह तार सूचनाको सुषुम्नामें ले जाता है। सुषुम्नामें इसके कई भाग हो जाते हैं एक तार (३) पाश्चात्य शृंगकी सेल (४) के पास रह जाता है। यह सेल सूचनाको पूर्व शृंगकी सेल (५) तक पहुँचाती है जो अपने तार (६) द्वारा पेशीको संकोच करनेकी आज्ञा देती है।

३=केन्द्रगामी तारका सुषुम्नामें ही रह जानेवाला भाग।

४=सेल।

५=पूर्व शृंगकी सेल।

६=मांसमें अंत होनेवाला तार।

७=मस्तिष्कको जानेवाला केन्द्रगामी तार।

सं=सांवेदनिक क्षेत्र जिसकी सेले अपने तारोंद्वारा गतिक्षेत्रकी सेलोंसे संबन्ध रखती हैं।

ग=गतिक्षेत्र।

म=मानस क्षेत्र जिसकी सेलोंका गतिक्षेत्रकी सेलोंसे सम्बन्ध है।

८=इस तारद्वारा गति करनेकी आज्ञा सुषुम्नाकी सेलोंको पहुँचती है।

(१) ऐच्छिक क्रियाः—जब हम कोई गति अपनी इच्छासे करते हैं तो मानस क्षेत्रकी सेलोंकी आज्ञा पाकर गतिक्षेत्रकी सेलें सुषुम्ना (यदि गतिका सम्बन्ध मास्तिष्क नाड़ियोंसे है तो उन नाड़ियोंके उत्पत्ति-स्थान) की सेलोंको आज्ञा देती हैं और गति हो जाती है। आज्ञा म से आरम्भ होकर ग, ८, ४, ५, मेंसे होती हुई ६ में पहुँचती है।

(२) परावर्त्तित क्रिया:—इसका मार्ग यह है—त्वचा, १, २, ३, ४, ५, ६ मांस।

परावर्त्तन क्रिया और त्वगीय क्षेत्र

जलचिकित्सामें, ठंढी और गरम पट्टियोंके प्रयोगमें, धुरोंमें, व्यायाममें, मालिशोंमें, प्रकाश चिकित्सामें, लेपोंमें—निदान अधिकांश स्वाभाविक उपचारोंमें पूरे वातसंस्थानकी क्रियाओंकी अच्छी जानकारी अनिवार्य्य है। इसीलिये हमने यहां वात-संस्थानपर एक लंबा अवतरण देना आवश्यक समझा। शरीरपर सरदी, गरमी, मर्दन और व्यायामका अन्तिम परिणाम तीन बातोंपर अवलम्बित है (१) शरीरका साधारण तापक्रम और तापक्रममें उपचारजनित स्थानीय परिवर्त्तन, (२) वातके ही प्रभावसे उत्पन्न दूरगामी परावर्त्तित रूप, (३) स्थानीय त्वक्-क्षेत्रीय सम्बन्ध।
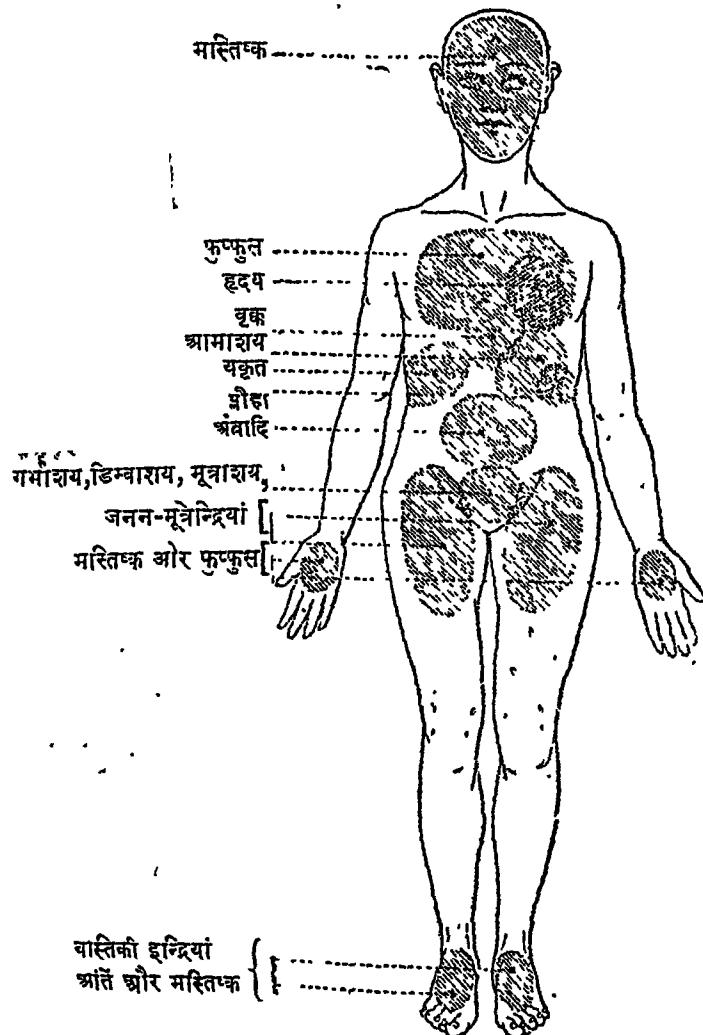
वातसंस्थान शरीरका शासनयंत्र है। उसके तार भीतर बाहर समस्त शरीरमें फैले हुए हैं। हम देख चुके हैं कि परा-वर्त्तनकी किया कैसे हुआ करती है। प्रत्येक भीतरी अंगके लिये त्वचामें छोटा बड़ा क्षेत्र अवश्य नियुक्त होता है जहां परावर्त्तित क्रियाएं प्रकट होती हैं। डिम्बग्रंथियां फूल आयीं और पीड़ा हो रही है तो कलाईपरका त्वक्क्षेत्र दुखने लगा, कभी कभी एक स्थानविशेष फूल भी आता है और बड़ी व्यथा होती है। इस व्यथाको गौण व्यथा कह सकते हैं, क्योंकि मुख्य व्यथा तो डिम्बग्रंथियोंमें है। भीतरी अंगोंके वातरज्जुओंके सम्बन्धका विचार करके चतुर चिकित्सक बाहरी व्यथासे भीतरी वेदनाका पता सहजमें लगा सकता है और गौण व्यथाओंकी बाहरी

चिकित्सामें व्यर्थ न लगकर वास्तविक रोगकी ओर ध्यान देता है। साथ ही विशेष त्वक्क्षेत्रके मर्दनादिके द्वारा परावर्त्तनकी विधिसे ही वास्तविक व्यथित अंगतक उपचारोंका कमसे कम शामक प्रभाव तो अवश्य पहुँचा सकता है। किसी विशेष अंतरंगमें जब रोग होता है तब वहांकी केंद्रगामी ज्ञाननाड़ियां केंद्रकी ओर सूचना भेजती हैं, साथ ही तुरन्त ही उस अंगके विशिष्ट त्वक्क्षेत्रसे सम्बन्ध रखनेवाले वातसूत्रोंके द्वारा ऊपरी त्वचाके उस क्षेत्रमें उत्तेजना उत्पन्न करती हैं। यही उत्तेजना "गौण व्यथा" है। सांवेदनिक अन्तरंगी और त्वगीय वातरज्जु पाश्चात्य मूलके गंडसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं और इसी मूल देशमें या सौषुम्निक धूसर पदार्थमें परावर्त्तनीय उत्तेजना आरंभ होती है। यही बात है कि अंतरंगीय रोगमें उसके विशिष्ट त्वक्क्षेत्रपर प्रतीकारी उपचार करनेसे अवश्य प्रभाव पड़ता है। मर्दन, लेप, शीत या उष्ण पहुँचाना, उस क्षेत्रपर प्रकाश या विद्युत्का प्रभाव डालना उस क्षेत्रके सम्बन्धी अन्तरंगपर परावर्त्य प्रभाव डालता है। मस्तिष्कसे, मध्यकर्णसे, नाकसे और नेत्रगुहासे तो त्वक्क्षेत्रोंसे विशेष रूपसे मुक्त और विस्तीर्ण सम्बन्ध है। पेठके ऊपरी भाग, बाहुओं और वक्षःस्थलके त्वक्क्षेत्रोंसे फुफ्फुसोंके वाहिनियोंका समानान्तर* सम्बन्ध है। वक्षःस्थलके भीतरी भागके फुफ्फुसावरण और हृदयाशयका अन्तःपर्शुका धमनियोंके द्वारा ऊपरी त्वचासे सम्बन्ध है। अंतःपर्शुका वाहिनियोंका पीछेवाले भित्तीय और अंतरंगी फुफ्फुसावरणोंसे भी समानान्तर सम्बन्ध है। इसके सिवा निचली चुल्लिका और श्वासप्रणालीकी धमनियोंके द्वारा एवं फुट अंतःपार्शुकीय और श्वासप्रणालीय शिराओंके द्वारा तो सीधा सम्बन्ध है। वृक्कोंका
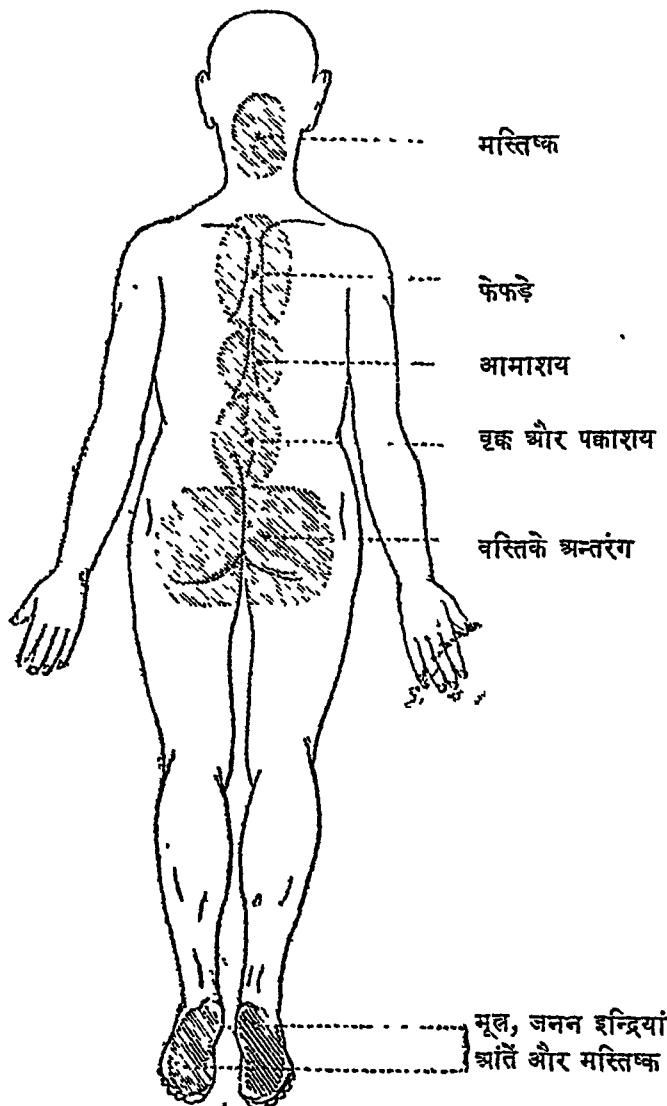
* समानान्तर=collateral

सम्बन्ध कटिकी धमनियोंकी वृक्कीय शाखाओंद्वारा कमरकी ऊपरी त्वचासे है। पेट, यकृत, प्लीहा, आंत और क्लोममें पारस्परिक
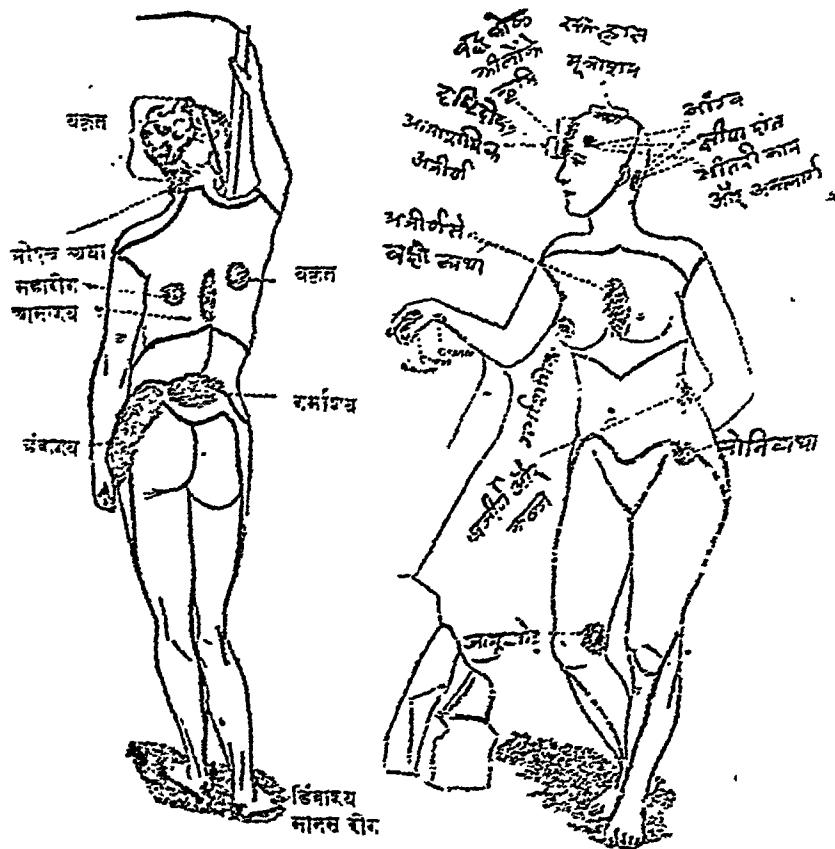
सम्बन्ध शिराओं और धमनियोंद्वारा है। महीन केशिकाओंद्वारा पूरे रक्तसंचार एवं रक्तसंस्थानका पूरा सम्बन्ध तो विदित ही है।

शरीरका ऊपरी भाग निचले भागसे, धड़के ऊपरी आधेसे अर्थात् सिर, शाखाएं, वक्षःस्थल, आमाशय आदिका नाभिके नीचेके अंगोंसे सम्बन्ध है ही। वस्तिगह्वरके अंतरंगोंका टांगोंसे भी समालान्तर सम्बन्ध है।

उपर्युक्त सम्बन्धोंका स्पष्ट रीतिसे परिशीलन कर लेनेके बाद यह बात सहज ही समझमें आ सकती है कि किसी अंतरंगमें यदि रक्तका आयतन बहुत बढ़ गया हो तो, चाहे

अन्तरंग ऊपरी त्वक्क्षेत्रसे कितनी ही दूर क्यों न हो, वाष्प-स्नान, धूपस्नान, वा जलस्नानोंसे, वा विशिष्ट त्वक्क्षेत्रोंपर लेपन, मालिश आदि उपायोंसे, वा ताप, प्रकाश विद्युत् आदिके उपचारोंसे, वा किसी विशिष्ट आयामसे, उस आयतनको घटाना असंभव नहीं है *।

मर्दनके प्रकार

जोड़ और पेशियों और रगोंकी मालिश ही मांसायामके अन्तर्गत है। नरम और कड़े दवाव या रगड़ या धक्केके द्वारा अंग या अंगोंको इस विधिसे उत्तेजना दी जाती है। इससे शरीरपर जो प्रभाव पड़ता है चिकित्सामें अमूल्य है और व्यायामसे अधिक महत्वका है।

१—रक्तका संचार मर्दित स्थानका और सारे शरीरका तीव्र हो जाता है। शिराओंमें रक्तका और ग्रन्थियोंमें रसोंका प्रवाह बढ़ जाता है। हृदयमें धमनियोंके लिये इस विधिसे अधिक रक्त मिल जाता है। अतः गरमी बढ़ती है, सेलोंमें आत्मीकरणकी क्रिया उत्तेजित होती है, पोषण अधिक होता है। वरमवाली समस्त प्रक्रियाओंमें अधिक रक्तसे सहायता मिलती है और रक्त और रसोंके अधिक संचारसे सूजन और प्रदाहजनित मल और विष सहज ही निकल जाते हैं।

* विंटरनिट्स, फास्टर आदिने त्वक्क्षेत्रोंके अंतरंग सम्बन्धपर और उनपर बाह्य उपचारोंद्वारा प्रभावपर बहुत खोज किये हैं। उपर्युक्त बातें इनके ही आधारपर दी गयी हैं।

२—मांसकणोंको उत्तेजना मिलती है। मर्दनसे शरीरमें ऐसे आणविक परिवर्त्तन होने लगते हैं, जिनसे मांसकणोंमें रासायनिक परिवर्त्तन होते हैं और सेलोंका जीवन और संतति बढ़ती है। इससे भी रक्तसंचार सुधरता और मर्दित अंगका स्वास्थ्य ठीक हो जाता है।

३—नाड़ीमंडलोंकी व्यथाओंमें मर्दनसे एक प्रकारकी प्रतिव्यथा होती है जिससे रगड़के कारण सुख मिलता है। पेशियोंके वातरोगमें विशेष रूपसे लाभ होता है।

प्रयोगकी दृष्टिसे मर्दनके मुख्य दो प्रकार हैं, एक तो स्थानीय और दूसरा सर्वांग, अथवा एक एकदेशीय और दूसरा व्यापक। क्रियाकी दृष्टिसे मर्दनके अनेक प्रकार हैं।

(१) "दाब"। अंगुलियोंके सिरोंसे, उलटी अंगुलियोंकी पर्वास्थियोंसे, या भरपूर हथेलीसे। यदि केवल ऊपरी अंशों या त्वगीय नाड़ियोंपर ही प्रभाव डालना है तो बहुत हलका दाब पर्य्याप्त होगा। यदि भीतरी मांसकणों, रगों, शिराओंपर प्रभाव डालना है और श्लैष्मिक मलों और विषोंको हृदयकी ओर प्रवृत्त करना है तो दाब गहरा होना चाहिये। ऐसी दशामें दाबकी गति हृदयकी ओर होनी चाहिये। जब जब दोहराना हो तब तब फिर उसी स्थानसे आरंभ करके हृदयकी ओर ही ले जाना चाहिये। हृदयकी ओरसे उस अंगकी ओरकी गति उलटा प्रभाव डालेगी और हानिकर होगी। और सभी मर्दनकी विधियोंमें भी बलके प्रयोग और मर्दनगतिकी दिशाके लिये यही नियम लगते हैं।

(२) "चुटकी"। इसमें मर्दक चुटकीसे त्वचा या गहरे भाग-को पकड़ता है और कुछ खींचकर या खींचे बिना ही छोड़ देता है। ऐसा ही बारम्बार करता है।

(३) "मुक्की" या "थपकी"। बहुत जल्दी जल्दी परन्तु अत्यंत हलकी मुक्की या थपकीसे लेकर भारी मुक्का या थप्पड़तक अंग-विशेषमें मारते हैं। मर्दकके अंग और प्रयोगविधिके भेदसे इसके अनेक प्रकार हैं। बँधी मुट्ठीकी कनिष्ठिकावाले सिरेसे, मुट्ठीकी पर्वास्थियोंसे, किसी अंगुलीकी पर्वास्थिसे, अधखुली मुट्ठीकी कनिष्ठिकावाले सिरेकी पर्वास्थिसे, कलाईके सिरेसे, मुक्की या थपकी मारनेकी रीतियां हैं। अंगुलियों या पर्वास्थियोंके द्वारा गोदनेकी विधि भी इसीके अन्तर्गत है। अंजलिके रूपमें अंगुलियों-की थपकी भी एक विधि है। इन अंगुलियोंके सिरोंवाली थपकी पुटपुरी या गोदनेकी क्रिया एक अंगसे हृदयकी दिशातक जल्दी जल्दी मँजे हाथों की जाती है जिससे एक प्रकारका बड़ा ही सुखद स्फुरण होता है।

(४) "गूँधना"। इस क्रियामें अंगुलियों और अंगूठेके बीच मांसपेशीको पकड़कर लपेटनेकी तरह दबानेवाली गति देते हैं जिसमें शिराओंसे श्याम रुधिर हृदयकी ओर बढ़े। एक क्रियाके बाद एक सेकंड रुककर दूसरी की जाती है, कि आगे बढ़ी हुई रुधिरकी धाराका स्थान पीछेसे आनेवाली ले ले। यह लपेट-वाली क्रिया भी धीरे धीरे हृदयकी ओर जानेवाली होती है।

मर्दकको पेशीका रूप और उसमेंसे चलनेवाली विशेष शिराओंका ज्ञान अवश्य होना चाहिये। चोटसे या धक्केसे किसी रगके या बंधनके खसकने आदिमें इस प्रकारका मर्दन तभी लाभकर हो सकता है जब मर्दकको उनके ठीक ठीक स्थानका यथार्थ ज्ञान हो। नहीं तो मर्दकके अज्ञान वा मोहसे बेचारे रोगीकी दुर्दशा हो जाती है। गूँधनेकी क्रिया मर्दक और रोगीके सुभीतेके अनुसार पूरे पंजेसे या चुटकीसे भी की जाती है। गूँधनेकी क्रिया हलके हाथोंसे और सब अङ्गोंपर बराबर दबाव और लपेटसे होनी चाहिये।

गूँधनेकी क्रिया अंगको दोनों हाथोंके बीच रखकर लपेटनेकी या घुमानेकी तरह यों भी करते हैं कि हाथ विरुद्ध दिशामें, या यंत्रविज्ञानके अदलते बदलते परस्पर विरोधी युग्मकी गति*से चलते हों।

(५) "रगड़ना"। अंगुलियोंसे बहुत आहिस्ते आहिस्ते रगड़नेकी क्रिया विशेषतः वातव्यथामें हितकर होती है। कभी कभी किसी तेलके साथ रगड़नेसे दोहरा लाभ होता है। परन्तु साधारणतया उत्तम प्रकारका मर्दन बिना ओषधिका ही होता है।

(६) "**यांत्रिक और वैद्युत स्फुरण**"। जापानके बने मर्दनके लिये स्फुरण उत्पन्न करनेवाले यंत्र भी मिलते हैं जिनसे किसी अंगपर लगाकर स्फुरणका अनुभव किया जा सकता है। यह

* विरोधी युग्मकी गति=Motion in a couple.

केवल यांत्रिक स्फुरण होता है। विद्युच्चुम्बक यंत्रके* दोनों ध्रुवोंसे स्पर्श रहते जब यंत्र चलाया जाता है तब बहुत तीव्र धक्कोंकी एक धारा चलती है जो शरीरके अणु अणुका मर्दन कर डालती है। यह कोई साधारण यांत्रिक धक्का नहीं है। विद्युच्चुम्बकको धाराका प्रवेश है। जितने क्षेत्रमें उपचारीको इस धाराका प्रवेश अभीष्ट होता है, उसके एक किनारेपर एक और दूसरेपर दूसरा ध्रुव पूर्ण स्पर्शकी अवस्थामें लगाकर घर्षण यंत्र चलाता है। पहले धीरे धीरे, फिर क्रमशः वेगसे, फिर धीरे धीरे, फिर एकदम रोक देता है। धाराकी कितनी मात्रा कैसे रोगीपर देनी चाहिये इसका उचित विचार उपचारी कर ले।

जहां किसी आमयका निवारण अभीष्ट नहीं है वलिक शरीरका आयाम ही अभीष्ट है, वहां मर्दनके समय मर्दकके विरुद्ध गति और चेष्टा एक प्रकारका अच्छा आयाम है और लाभकर भी है।

मर्दनके साधारण नियम

जिस अंगका मर्दन अभीष्ट है उसको पूरे विश्रामकी दशामें रखो जिसमें पेशियां ढीली रहें। सुकड़ी या तनी हुई पेशियोंका ठीक मर्दन असंभव है।

सारा शरीर या तो भरसक समथल होना चाहिये या हृदयसे दूरवाले अंग ऊंचे हों और जितने पासवाले अंग हों अपेक्षा-

* विद्युच्चम्बक यन्त्र=Electro magnetic Machine.

कृत कुछ नीचे हों। तात्पर्य्य यह कि शिराओंके रुधिरका स्वाभाविक वहाव ढालकी ओर रहे और निम्नतम स्थल हृत्केन्द्र हो। मर्दन भी हृत्केन्द्रकी ओर ही चलनेवाला हो। उसकी दिशा विपरीत होनेसे लाभके बदले हानि होगी।

सर्वांग मर्दनके लिये रोगी या तो अच्छे तने मज़बूत पलंग-पर, तखतपर हो या समथल धरतीपर हो। लगभग डेढ़ हाथ ऊंचे तखतपर यह क्रिया मर्दकके लिये बड़े सुभीतेसे होगी।

रोगी कपड़े पहने हो तब भी मर्दन सर्वथा असम्भव नहीं है, पर कपड़ा उतारकर ही मर्दनमें सब तरहका सुभीता है। सरदीका डर हो तो मर्दनीय अंगको छोड़ शेष सभी अंग कम्बल-से ढका जा सकता है।

वातरोगोंमें वैद्य नारायण तैल या और औषध-तैल मल-वाते हैं। वहां अभीष्ट रहता है तैलका प्रवेश। स्वाभाविक मर्दन तो विना किसी तैल या चिकनाईके ही मर्दन है। यदि मर्दक अपने काममें कुशल नहीं है, या रोगीकी त्वचा बहुत कोमल है और रगड़से हानिका भय है तो तिलका तैल लगानेमें हर्ज नहीं है।

मर्दन कितनी देरतक, किस प्रकारका हो यह सब रोगीकी दशा और देशकालपर निर्भर है। परन्तु मर्दनमें साधारणतया लोग आवश्यकतासे अधिक समय लगाते हैं। एक अंगके लिये दस-पन्द्रह मिनिट बहुत है। सर्वांगके लिये आधेसे लेकर एक घंटा।

मर्दन चाहे तेलके साथ हो चाहे बिना तेलके परन्तु मर्दकको बराबर यह ध्यान रखना चाहिये कि अंगके दबाने या मर्दनमें रोएं न टूट जायें। मर्दकोंकी इस असावधानीसे भयानक बाल-तोड़ और फुंसियां हो जाती हैं जिससे रोगीके कष्ट घटनेके बदले बढ़ जाते हैं।

प्रत्येक मर्दनके पीछे रोगीको ओढ़कर कमसे कम आधे घंटेतक विश्राम करना चाहिये। मर्दनके पीछे आलस्य और ऊंघ सी लगती है, नींद भी आ जाती है। नित्यके मर्दनसे धीरे धीरे भूख खुल जाती है, नींद अच्छी आने लगती है। त्वचा कोमल लचीली और चमकीली हो जाती है, रंग खुल जाता है। शिराएं स्पष्ट दीखने लगती हैं। त्वचाकी क्रिया यद्यपि आरंभमें मन्द सी दीखती है, पर अन्तमें अधिक तीव्र हो जाती है। ग्रंथियों-का चोषण बहुत तीव्र हो जाता है। डाकटर फन-मोजेंगैल* ने परीक्षाके लिये एक खरहेकी जोड़ोंमें रंगके घोलका पिचकारीसे प्रवेश कराया। एक ओर मालिश की, दूसरी ओर नहीं की। जिस ओर मालिश कर चुके उस ओरकी रसग्रंथियोंमें वही रंगका घोल पाया गया। दूसरी ओर नहीं।

व्यायाम आदि परिश्रमके अनन्तर थकनेपर केवल विश्रामसे पेशियोंमें ताकत उतनी जल्दी नहीं लौटती जितनी जल्दी मालिशसे। मर्दनसे क्षीण मल पेशीसे निकल जाता है, शुद्ध

* Dr. Von Mosengeil.
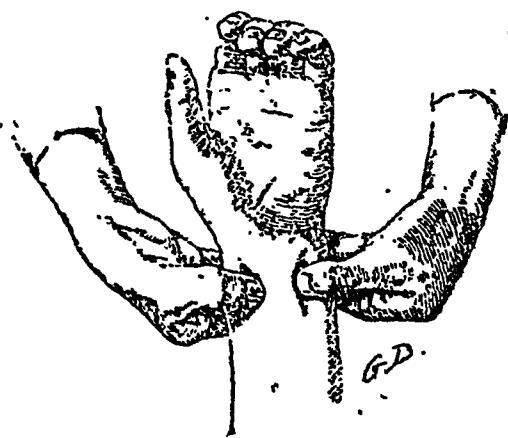
रक्त आ जाता है, नये सिरेसे पोषण होने लगता है और नत्र-जनीय रासायनिक क्रियाके पुनरुद्धारसे उसका घटा हुआ वजन पूरा हो जाता है। हाथ पांव आदिके मर्दनके अनन्तर रक्तचाप बढ़ा हुआ पाया जाता है। पेटकी मालिशसे रक्तचाप घट जाता है। मर्दनसे सांस गहरी और जल्दी जल्दी चलने लगती है। रक्तके लाल कण बढ़ जाते हैं। पेटके मर्दनसे रस अच्छी तरह बनने लगता है, अँतड़ियोंकी रेंगनेवाली गति बढ़ जाती है और यकृत उद्योगशील हो जाता है।

मर्दनके बाद लगभग २°फा तक शरीरका तापक्रम चढ़ जाता है परन्तु प्रमितावस्थामें शीघ्र उतरकर प्रमित भी हो जाता है।
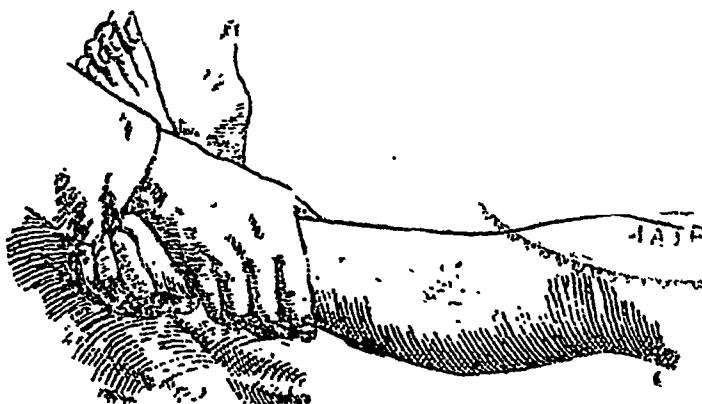
यदि मर्दनसे उपर्युक्त लाभ न हों तो समझना चाहिये कि मर्दक अपने कामकी ठीक विधि नहीं जानता अथवा रोगी इस विधिका उपयुक्त पात्र नहीं है।

मर्दनोपचारका प्रयोग
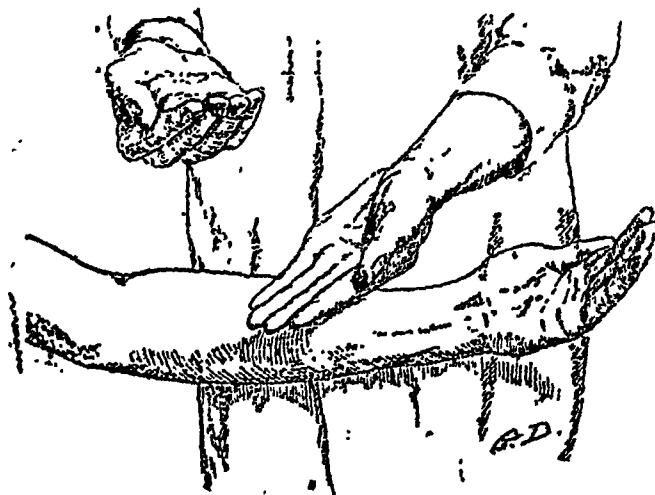
हमने मर्दनकी जितनी क्रियाएं बतायी हैं, सभी व्यावहारिक हैं। उनकी शिक्षा पुस्तक पढ़नेमात्रसे नहीं हो सकती। गुरुसे सीखना अनिवार्य्य है तब भी हम इस सम्बंधके कई चित्र यहां देते हैं। चित्रोंके नीचे उनका संक्षेपसे निर्देश है, जिससे अभ्यास करनेवालेको सहायता मिलेगी।
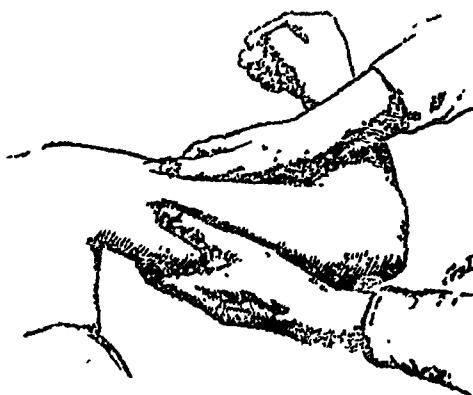
दोनों अंगूठोंसे अग्रबाहुकी मालिश। बड़ी प्रसारिणी पेशियोंके मर्दनमें जिनके चार चार सिरे होते हैं दोनों हाथ यों लगाने चाहियें। (ल्यूक एंड फार्बस)

भरपूर पंजेसे सहलाना, गींजना, और दवाना। रोगी करवट हो, उसकी एड़ी मर्दकके घुटने या जंघेपर हो, गति नीचेसे ऊपरकी ओर हो। (ल्यूक एंड फार्बस)

करपल्लवके पृष्ठदेशकी थपकी। गहरी थपकी हथेलीकी पीठ या कलाईसे भी दी जाती है। (ल्यूक ऐंड फार्बस्)
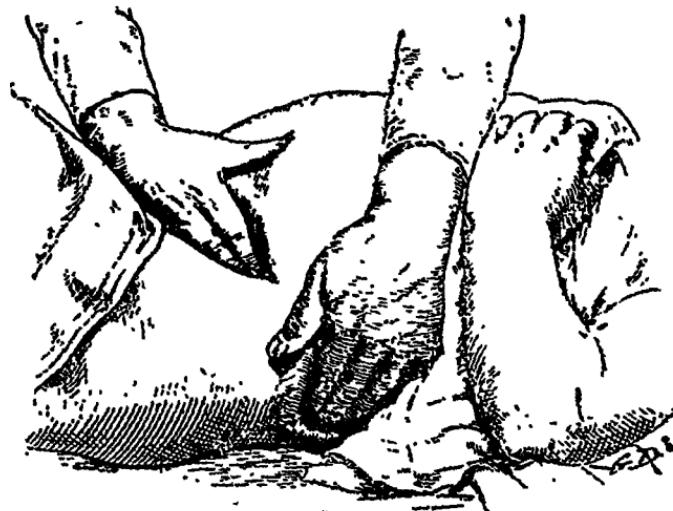
बाहँकी मांसपेशियोंका मर्दन और साथ ही स्फुरणकी गति भी देते जाना। दबानेके साथ ही साथ भीतरी झकझोर। (ल्यूक ऐंड फार्बस)

अग्रबाहुकी पेशियोंको दोनों हथेलियोंके बीच आगे और पीछेकी ओर बारी बारीसे जल्दी जल्दी बेलना और गींजना। (ल्यूक ऐंड फार्बस्)
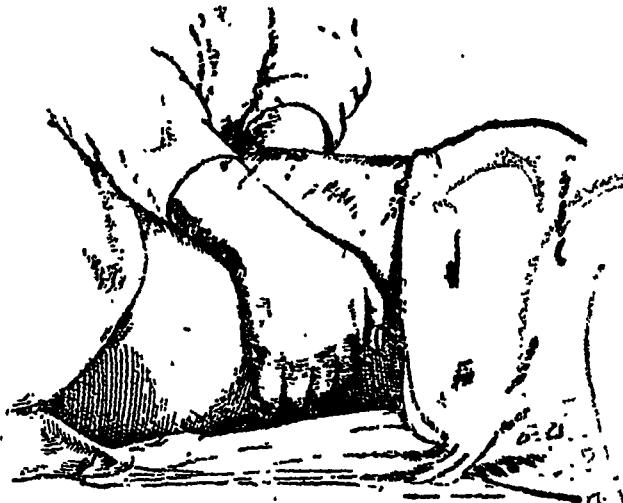
अजीर्ण और बद्ध-कोष्ठ उचित मर्दनसे अच्छे हो जाते हैं। अजीर्णमें पहले तो रोगीको यह ध्यान रखना आवश्यक है कि आत्मीकरणके सामर्थ्यसे अधिक न खाया जाय। मर्दन ऐसी ही दशामें लाभकारी हो सकता है। आरंभमें बहुत थोड़ी देरतक होना चाहिये, फिर धीरे धीरे बढ़ावे, यदि भूख न बढ़े और पाचन-शक्ति न सुधरे तो समझना चाहिये कि मर्दनकी विधिमें भूल है। मर्दन पूरे पेटका होना चाहिये। अजीर्णके लिये साधारणतया भोजनके छः घंटे बाद या चार घंटे पहले सुभीतेसे हो सकता है। पेटमें दर्द होनेकी दशामें

तो तुरन्त ही हलका मर्दन आरम्भ करना चाहिये। यदि किसी स्थानको दबानेसे वहांकी पीड़ा बढ़े तो समझना चाहिये कि उस स्थानपर सूजन और प्रदाह है, चारों ओरसे रक्तसंचय हो रहा है। ऐसे स्थानपर मर्दन कष्टको बढ़ावेगा परन्तु ऐसे स्थलको छोड़कर और भागोंमें होशियारीसे मालिश करनेसे रक्तसंचय घटता है और रोगी कष्टसे मुक्त होने लगता है। यदि दबानेसे कष्टके बदले सुख प्रतीत हो तो समझना चाहिये कि पीड़ाका कारण रुकी हुई वायु है। जिस दिशामें अंतड़ियाँ स्वभावतः रेंगती हैं और मलविसर्जनकी प्रवृत्ति लाती हैं उसी दिशामें मर्दन करना उचित होगा। यहां हृदयाभिमुख मर्दनकी आवश्यकता नहीं है।

पेटकी मालिश

घुटने मोड़कर रोगी बदन ढीला करके चित लेटे। यदि इस तरह ढीला न हो तो करवट हो जाय और मर्दक पीछेसे मालिश करे। (ल्यूक ऐंड फार्बस)

पेड़ूकी मालिश (१)

पहले पाखाना पशाब रोगी कर ले, कि पेड़ूका प्रदेश खाली रहे। सिर और कंधे ऊंचे रहें। घुटने मुड़े रहें। रोगी प्राणायाम करता रहे। या रोगीको साधारण गहरी सांस लिवाते बातोंमें बझाये रहे। दोनों हाथ दोनों ओरसे पीठके नीचे डाले फिर कमर दबाते अपनी तरफ ले जाय, पेटको दबाता लावे कि पेड़ूके बीचमें हाथ मिल जायँ। (ल्यूक ऐंड फार्बस्)

बद्धकोष्ठमें बड़े तड़के मालिश होनी चाहिये और वह इस तरह कि उदरकी पेशियों और आँतकी भित्तियोंपर पूरा प्रभाव पड़े। अंधांत्र या उपान्त्रसे उठाकर पेड़ूके पूरे दाहिने भागकी मालिश करे इस तरहपर कि अनुप्रस्थ बृहदंत्रके साथ साथ चले और नाभितलसे ठीक ऊपरसे होते हुए पेड़ूकी बायीं ओर नीचेतक मालिश करे (देखो चित्र)। मर्दनकी ऊपरी गतियां जब हो चुकें तो दाब बढ़ाना चाहिये और हाथको इस तरहपर बराबर

पेडूकी मालिश (२) बड़ी आंतोंकी दिशामें

उपांत्रके पाससे दोनों हाथोंसे खूब दबाते हुए ऊपरकी ओर बड़ी आंतकी दिशामें बढ़ते हुए, नाभिके ऊपरसे होते बायीं कमरतक मालिश करते जाओ। शुरूमें हलका हाथ, फिर धीरे धीरे गहरा, जितना रोगी सह सके। अन्त करते समय स्फुरणवाली थपकी देनी चाहिये। (ल्यूक ऐंड फार्वस्)

घुमाते रहना चाहिये कि बड़ी आँतके साथ साथ चले। पेडूकी इस तरहकी मालिश पन्द्रह मिनिट रोज होनी चाहिये। महीने या डेढ़ महीनेतक इस प्रकारके मर्दनसे स्थायी लाभ देखा गया है। रोगी स्वयं अपने हाथसे इस प्रकारके मर्दनका अभ्यास कर सकता है।

निद्रा-भंग रोगके लिये पूरे शरीरके मर्दनके साथ साथ पेटका मर्दन भी होना चाहिये परन्तु प्रातःकालका मर्दन इसमें लाभदायक नहीं है, सायंकाल या सोनेके पहले ही निद्राके लिये मर्दन लाभदायक होता है।

संधियोंके दोष। मोच और सूजनमें मर्दनसे तुरन्त ही लाभ होता है। एक कालतक काममें न आनेसे जोड़ कड़े पड़ गये हों और काम न देते हों और पेशियां अकड़ और सुकड़ गयी हों तो मर्दनसे नरमी आ जाती है और यह अंग काम देने लगते हैं। गठिया, वातमें या सूज़ाकसे उभरे हुए वातरोगमें मर्दन जल्दी लाभ पहुंचाता है। और उपचारोंके अतिरिक्त नित्य कमसे कम दो वार दस-पन्द्रह मिनिटका मर्दन बराबर जारी रखना चाहिये। मर्दकका यह कर्त्तव्य है कि प्रदाह और सूजनकी उग्र दशामें या तो मर्दनमें हाथ ही न लगावे या आरम्भ करे तो अत्यंत सावधानीसे बहुत कोमल मर्दन करे।

वातरोग चाहे कैसे ही हों, मांसपेशियोंमें पीड़ा हो, वात-विकारसे किसी पेशी या रगका तनाव हो, या अंगमें विना किसी दृश्यविकारके पीड़ा होती हो तो मर्दनसे प्रायः लाभ ही होता है। यदि संधि-रोग अस्थि-क्षय हो जो किसी औषधो-पचारसे सुषुप्त हो गया हो तो मर्दनसे जागृत हो जाता है। दवा हुआ रोग उभर आता है। इस तरह प्राकृतोपचारमें मर्दनकी क्रिया बहुत सहायक होती है।

हड्डी टूट जानेपर जब शल्यक्रिया हो लेती है और हड्डियां जुड़ जाती हैं तो अंगको चेष्टायोग्य करनेके लिये मर्दन-की वड़ी आवश्यकता होती है।

पाश्चात्य डाकटरी विधिसे टूटी हड्डियोंको मिलाकर किसी

कड़ी वस्तुके सहारे बाँध रखते हैं और जबतक हड्डियां जुट नहीं जातीं पटरीको अलग नहीं करते। परन्तु ऐसी दशामें अकर्मण्य रहते रहते पेशियोंका क्षय होने लगता है, जोड़ और नसें कड़ी पड़ जाती हैं और जुड़ जानेपर भी वह अंगुल्यायी अकड़के कारण पहलेकी तरह काम देनेमें समर्थ नहीं होता। हमारे देशमें देहाती हड्डी बैठानेवाले मर्दन और ओषधिका प्रयोग साथ ही साथ करते हैं। हड्डी बैठानेका अर्थ है खसकी हुई हड्डीको यथास्थान कर देना, परन्तु प्रायः जो हड्डी बैठाते हैं वही जोड़नेवाला इलाज भी करते हैं। उनकी क्रियासे पीड़ा बहुत जल्द मिट जाती है और तमाशा यह है कि जहां पाश्चात्य शल्य-चिकित्सक हानिके भयसे पटरीमें बांधकर अंगको हिलने नहीं देता वहां देशी चिकित्सक हिलानेकी ही विशेष क्रियासे उसे अच्छा कर देता है। होशियार हड्डी जोड़नेवाले तुरन्त ही अपनी विधिसे चिकित्साका आरम्भ कर देते हैं। उनका पहला काम यही होता है कि टूटे हुए सिरोंको भरसक अपने स्थानपर पहुँचा देते हैं, फिर एक आदमी बड़ी सावधानी-से टूटी हड्डीको थामे रहता है कि फिर जगह न छोड़ने पाये और चिकित्सक चुटैल अंगके पास ही धीरे धीरे इस तरहपर सुह-लाता और मींजता है कि अशुद्धरक्त-वाहिनी शिराएं और रस-वाहिनियां हृदयाभिमुख होकर रुधिर और रसोंको बहा दें और खाली हो जायें, फिर जहां सूजन होती है वहां और उसके चारों ओर भी कुछ दूरतक मर्दन करते करते अपने हाथोंको घुमाता

है। सहलानेसे पीड़ा न होनी चाहिये बल्कि घट जानी चाहिये, क्योंकि इससे पेशियोंकी सिकुड़न मिट जाती है और साधारण पीड़ा सिकुड़नके कारण ही होती है। जिस अंगकी हड्डी टूटी हो उसके जोड़ोंको धीरे धीरे दबाते हैं और रोगीसे भी कहा जा सकता है कि हो सके तो पेशियोंको सिकोड़े, पर जिस समय वह पेशियोंको सिकोड़ता हो चिकित्सक बराबर ध्यान रखे कि हड्डियां अपने स्थानसे हटने न पावें। इस क्रियामें एक घड़ीसे अधिक न लगनी चाहिये, पहली क्रियाकी समाप्तिपर रोगी आरामसे लिटा दिया जाता है और चुटैल अंगके नीचे आवश्यकतानुसार तकिया आदि रख देते हैं। ऐसी दशामें पटरी भी बांध दे तो कोई हर्ज नहीं है। पर मर्दनकी क्रिया दोहरानेके लिये पटरीका नित्य खोलना आवश्यक होगा। मर्दनकी क्रिया नित्य अधिकाधिक होती जायगी। धीरे धीरे नयी हड्डी दोनों जोड़ोंके बीच बनकर दोनोंको स्थायी रूपसे जोड़ देगी। रोगी भी इस अवधिमें चुटैल अंगको हिलाने डुलानेका अभ्यास करता रहता है।

जहां बच्चों या बड़ोंकी हड्डियां किसी कारणसे टेढ़ी या कुरूप हो जाती हैं वहां यद्यपि हड्डियां बिलकुल ठीक नहीं की जा सकतीं तथापि मर्दनसे उस अंगको हिलाने डुलानेमें रोगीको कोई कष्ट नहीं रह जाता। बच्चोंकी हड्डी तो समयपर उपचार होनेसे अवश्य ही ठीक की जा सकती है।

आंत उतरनेका रोग यदि अत्यन्त बढ़ न गया हो

तो मर्दनसे पेड़ूकी दीवारें मजबूत की जा सकती हैं जिससे आँत उतरनेका कष्ट नहीं होता और शल्यक्रियाकी कोई आवश्यकता नहीं होती।

सिरका दर्द अगर आँखकी खराबी या फोड़े आदिके कारण नहीं है तो सिर और गर्दनके भलीभांति मर्दनसे सिरकी पीड़ा दूर हो जाती है। इन अंगोंकी पेशियोंको अच्छी तरह दबानेके सिवा खोपड़ा और माथेकी नाड़ियोंको धीरे धीरे सुहलाना और फिर अच्छी तरह दबाते हुए हृदयाभिमुख लाना मर्दकका कर्त्तव्य है।

पक्षाघात रोग में तुरन्त ही मर्दनका आरम्भ नहीं करते। इसमें बहुधा जिन पेशियोंपर आघात नहीं भी हुआ रहता है वह पेशियां भी सुकड़ जाती हैं। उन्हें तो तुरन्त ही मर्दनद्वारा कर्मण्य और प्रसरणशील बनाते हैं। वातरोगोंमें लाभ पहुंचानेवाली अनेक जड़ी-बूटियोंसे बने हुए आयुर्वेदीय तैल इस रोगमें मर्दनद्वारा नाड़ीसूत्रोंतक पहुंचाये जाते हैं। नारायण तैल इस रोगमें बहुत लाभदायक पाया गया है। इस रोगमें मर्दनसे पेशियोंको चलानेवाली केन्द्रत्यागी और संवेदनाको पहुंचानेवाली केन्द्रगामी नाड़ियां धीरे धीरे फिरसे जागृत होती जाती हैं और पक्षाघात मिटता जाता है।

सीसेके विषसे, दुर्घटनासे, श्वासयंत्रके रोगसे जो पक्षाघात हो जाया करता है उसमें मर्दन बहुत उत्तम उपचार प्रमाणित
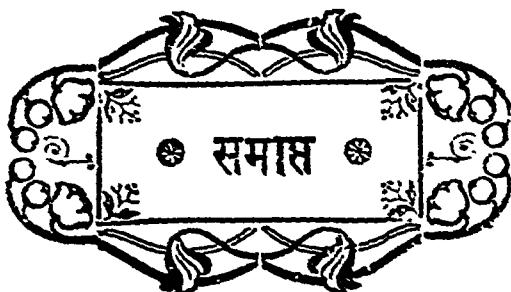
हुआ है, परन्तु शरीर-व्यवच्छेद-शास्त्रमें मर्दक जितना ही कुशल होगा उतनी ही अच्छी तरह इस उपचारसे पक्षाघातमें लाभ पहुंचा सकेगा।

वातजनित सभी व्यथाओंमें, गति या कर्म-नाड़ियोंके किसी प्रकारके व्यतिक्रममें, कँपकपी या झुनझुनीमें मालिश तो लाजवाब इलाज है। सहलाना, थपकी, मुक्की, मरोड़ या लपेट, अँगुलियां फोड़ना, हाथ पैर खींचना, उठाना इत्यादि मर्दनकी विधियां बड़े लाभसे बरती जाती हैं। इसके साथ जहां संभव हो रोगी स्व-व्यायाम भी करे।

श्वास-कास आदि श्वासयंत्रके रोगोंमें रोगी गहरी सांस लेता रहे और वक्षःस्थल धीरे धीरे मला जाय तो शीघ्र आराम होता है। बच्चोंका वक्षःस्थल दबा हो, तो उसे उभारनेके लिये यह क्रिया नित्य करनी चाहिये। बच्चेको पट लिटा दीजिये। उसके सिरके दोनों बगल पैर रखकर उसके शरीरकी ओर मुँह करके खड़े हो जाइये। अब कुहनीके ऊपरसे अग्रबाहुको बाहर बाहरसे उठाकर सिरकी ओर पट दशामें लाइये, फिर सिरके ऊपरसे यों ले जाइये कि पीठपर दोनों हाथ मिल जायें। दो चार क्षण इस तरह हाथ थामे रहिये। फिर लौटाकर पूर्वावस्थामें ले जाइये और वक्षःस्थलके दोनों बगलमें दबाइये। यह एक क्रिया हुई। यह व्यायाम बच्चेको उचित संख्यामें नित्य दो बार दीजिये।

यकृतके विकारोंमें, बवासीरमें, मूत्राशयके रोगोंमें, योनिरोगोंमें, रजोधर्म्मजनित विकारोंमें पेटकी मालिश विविध रीतियोंसे विविध स्थलोंमें आवश्यकतानुसार करनेसे अवश्य लाभ होता है। एक रोगीको कई दिनोंसे पतले दस्त आ रहे थे। होमियोपैथ दवा देते देते हार गया। एक दिन एक साधारण खोंचेवालेने जिससे वह अपना नित्यका जलपान लिया करता था, और इन दिनों परहेज करने लगा था, उसकी व्यथा सुनी। बोला "बाबूजी, जरा देखूँ, नारा तो नहीं उखड़ा है?" यज्ञोपवीतसे नापकर देखा तो सचमुच नाभि अपने केन्द्रसे एक इंच हटी हुई थी। इस मांसपेशीके हटनेसे पेट चल रहा था। उसने सीधा खड़ा कराके जैसे नापा था वैसे ही सीधा खड़ा करके, कुहनीसे हाथ सोधा थामा, अंगुलियां फोड़ीं अग्रबाहुके भीतरी भागमें कुहनीके पास घूमी हुई प्रसारक मांसपेशीको दबाकर अग्रबाहुको बाहुसे लगाया। यह क्रिया खाली पेटपर करते हैं। इसके और रूप भी हैं। बाहुओं और टांगोंकी प्रसारक पेशियोंपर तनाव पड़नेसे नाभिकी पेशी यथास्थान आ जाती है। रोगीको खड़ा करके टखनोंके ठीक ऊपर दोनों टांगोंकी प्रसारक पेशियां भरपूर कसकर दबाये रहिये और सीधे खड़े हुए रोगीसे कहिये कि कमरके ऊपरके शरीरको बिना हिलाये या झुकाये घुटनोंके बल भर पूर बैठे और उठे। फिर घुटनोंके बल बैठ जाय और फिर उठे। इस क्रियाको दो तीन बार कर लेना नारा बैठानेके लिये काफी है।

मर्दनकी विधि प्रत्येक रोगीकी दशाके अनुसार विविध होती है। परन्तु हमारे देशमें जो लोग मर्दन करते हैं, उनकी शिक्षा नगण्य होती है। कोई नारा बैठानामात्र जानता है, तो सारे बदनकी मालिश या हड्डी बैठाना या मोचपर मर्दन नहीं सीखा। कोई मोचपर ही मालिश करता है, पर वह मर्दनके और प्रकारोंसे अनभिज्ञ है। कोई केवल पेड़ूकी मालिश जानता है। कोई केवल सिरके मलनेमें होशियार है। बात यह है कि इस क्रियाकी शिक्षा किसी शिक्षालयमें तो होती नहीं। विधि-पूर्वक शरीरविज्ञानकी पूरी शिक्षा देकर तब व्यायाम और मर्दनकी शिक्षा दी जाय तो हमारे यहां इस प्रकारके अच्छे चिकित्सक तैयार हो सकते हैं। हमने इस प्रकरणमें इस विषयका दिग्दर्शनमात्र किया है। तीसरे भागमें जब हम प्रत्येक अंगकी चिकित्साके विषयपर विस्तृत स्वाभाविक उपचार देंगे, वहां यथास्थान प्रसंगानुसार प्रत्येक उपचारका विस्तृत रूप देंगे।

स्वास्थ्य-साधन

के

दूसरे भागका
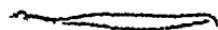
विषयक्रम

पांचवां अध्याय (असमाप्त)

सत्योपचार (असमाप्त)

तीसरे भागका
विषयक्रम

ग्रंथसूची

स्वास्थ्यसाधनके प्रणयनमें भिन्न भिन्न विषयोंके अनेक ग्रंथोंसे सहायता ली गयी है जिनका निर्देश या उल्लेख प्रसंग या आवश्यकतानुसार इस ग्रंथमें जगह जगहपर आया है। इस जगह एक सूची पाठकोंके लाभार्थ दी जा रही है जिसमें तीनके सिवा शेष सभी प्राकृतोपचार सम्बन्धी ग्रंथ हैं। यह सूची उन पाठकोंके लिये विशेष लाभदायक होगी जो प्राकृतोपचारके प्रेमी और विस्तृत अनुशीलनके इच्छुक हैं।

चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, अष्टांग हृदय, आयुर्वेद चिन्तामणि, और मदनपाल निघंटु।

डाकटर त्रिलोकीनाथ वर्म्मा रचित, हमारे शरीरकी रचना भाग १ और २।

महात्मा गांधी लिखित "आरोग्य साधन"।

कूनेका "आकृतिनिदान" और "बच्चोंकी रक्षा"।

जीवनकला, लोवल रचित, श्रीदयानन्द जोशी द्वारा अनुवादित

[यह सभी पुस्तकें "हिन्दी पुस्तक एजेंसी, १२६, हरिसन रोड, कलकत्ता" से मिल सकती हैं।]

Louis Kuhne: The New Sceince of Healing (Leipsic)

Henry Lindlahr: 1 Philosophy of Natural Therapeutics. Chicago, 1922)

2. Practice of Natural Therapeutics. Chicago, 1922

Anna & Henry Lindlahr: Lindlahr Vegetarian Cook Book: (Chicago)

Henry Lindlahr : Iridiagnosis, and other Diagnostic Methods. Chicago, 1922.
Kellogg, J.H.,M.D. : Rational Hydrotherapy. 1906
Kneipp, Sebastian : Mon Testament.
Ma Cure d'Eau, 1891, (My Water Cure)
Dewey, E. H., M. D., No Breakfast Plan and Fasting Cure.
Macfadden's Encyclopaedia of Physical Culture
Latson, W. R. C. : Common Disorders.
Forest, W. E. : Massotherapy
Luke and Forbes : Natural Therapy.
Dewey : The True Science of Living
Haskell : Perfect Health.
Purinton : The Philosophy of Fasting
Ehret : The Rational Fasting.
Karell : The Milk Cure.
Bilz : Natural Method of Healing.
Adolf Just : Return to Nature.
Muller : 1. My System.
2. My Breathing System.
Cornell : Health and Medical Inspection of School Children.
Schofield : Psychic Treatment of Nervous Disorders.

ऊपर लिखी अंग्रेजीकी सभी पुस्तकें इस पतेसे मिल सकती हैं। बी० पी० मदन, हेल्थ कलचर डीपो, सेंटा क्रूज़।

(Mr. B. P. Madon, Health Culture Depot, Santa Cruz.)

वर्णक्रम सूची

अ

आ

ऊ

ऋ

ए

ऐ

ओ

क

घ

ट

ठ

ड

त

ध

ल

श

ष

स

समाप्त

छप गया !

छप गया !!

छप गया !!!

४३—रामचरित मानसकी भूमिका

लेखक—अध्यापक श्रीरामदास गौड़ ऐम० ए०

यह पुस्तक क्या है, गुसाईं तुलसीदासकृत रामचरित मानसकी कुंजी है। रामचरित मानसपर इतनी गवेषणापूर्ण पुस्तक अभीतक नहीं छपी है। इस पुस्तकके पांच खण्ड हैं।

१ ले खण्डमें "शिक्षा और व्याकरण" पर काफी तौरसे विचार किया गया है। तथा उदाहरणसहित शंका-समाधान किया गया है।

२ रे खण्डमें "मानस शंकावली" है। रामचरित मानसके पाठकों तथा श्रोताओंको पढ़ते और सुनते समय अनेक कथाओंपर शंकाएं हुआ करती हैं। जिनके समाधान इसमें प्रश्न और उत्तरके रूपमें दिये गये हैं। इससे पढ़नेवाले सज्जनोंको कितनी पौराणिक कथाओंका ज्ञान होगा तथा कितनी ऐसी बातोंका रहस्य खुलेगा जिनपर आजकलके कुछ अंग्रेजी पढ़े-लिखे महानुभावोंकी, न जाननेके कारण, अश्रद्धा है।

३ रे खण्डमें "मानस-कथा-कौमुदी" है। रामचरित मानसमें आनेवाली कथाओंका समाधान उसका पूरा विवरण देकर किया गया है।

४ थे खण्डमें "मानस-शब्द-सरोवर" है। इसमें रामचरितमानसमें आनेवाले शब्दोंका कोष दिया गया है।

५ वे खण्डमें तुलसीदासजीकी जीवनी है। तुलसीदासजीकी जीवनीके सम्बन्धमें अभी अनेक विद्वानोंका मतभेद है, इसलिये उसपर भी काफी प्रकाश डाला गया है। साथ ही गुसाईंजीका चित्र और उनके हाथकी लिखी रामायणका कोष भी दिया गया है, जिससे पुस्तककी उपयोगिता बहुत बढ़ गयी है। पुस्तक बड़ी विद्वत्ता और खोजके साथ लिखी गयी है। प्रत्येक साहित्यप्रेमी तथा मानसप्रेमी और भगवद्भक्तको पढ़नी चाहिये। मूल्य लगभग २॥।

आत्मोपदेश

(ले० श्रीनरेन्द्रनारायणसिंह)

यूनानके प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी महात्मा एपिक्टेटसके उप[illegible]का इसमें विशद संग्रह है। भारतवर्ष दर्शन-विषयका गुरु है और यूनान [illegible] प्रथम और प्रसिद्ध शिष्य भारतवासी स्वाभाविक ही जिज्ञासु होते [illegible] जिनके [illegible]में संसारकी उत्पत्ति, अपने जीवन-मरण, धर्म-कर्म और कर्तव्य [illegible]यके [illegible]में नाना प्रकारकी शंकाएं उठती हैं और जो रात-दिन उन शं[illegible] [illegible]माधान करनेवाले गुरुओंकी खोजमें रहते हैं उन्हें तो एक बार इसे [illegible] पढ़ना चाहिये। इससे जिज्ञासुओंको शान्ति और परम आनन्द ल[illegible] होता है। पढ़नेसे पवित्र भावका उदय होता है और हृदय सच्चे आनन्[illegible] से भर जाता है। कोमल-स्वभाव विद्यार्थियोंको अवश्य पढ़ना चाहिये औ[illegible] बहुमूल्य उपदेशोंसे लाभ उठाना चाहिये। विद्यालयोंकी पाठ्य-पुस्तकोंमें रखने योग्य अपने ढंगकी एक ही पुस्तक है। भक्त-जनोंको भी इससे लाभ उठाना चाहिये। इन उपदेशोंको अपने जीवनमें कार्यान्वित करनेसे मनुष्य अपना जीवन आदर्श बना सकता है। यों तो शिक्षाप्रद अनेक ग्रन्थरत्न हिन्दी-संसारको सुशोभित कर रहे हैं, परन्तु ऐसी पुस्तक अभीतक आपने न देखी होगी। सस्ती और उपयोगी होनेके कारण धड़ाधड़ बिक रही है और इसकी मांग बराबर बनी रहती है। शीघ्रता कीजिए। इसके एक बार पाठसे भी आपका जीवन पवित्र हो जायगा। संसारमें आकर जिसने ऐसी पुस्तकोंका अध्ययन कर आत्मोन्नति नहीं की उसका जीवन वृथा ही है। मूल्य केवल ॥=) है।

सब प्रकारकी हिन्दी-पुस्तकें मिलनेका पता--

हिन्दी-पुस्तक-भवन,

कुक्स बिल्डिङ्ग, हरिसन रोड, कलकत्ता।